एम.ए. पूर्वार्द्ध

समाजशास्त्र, प्रथम प्रश्नपत्र

शास्त्रीय और आधुनिक समाजशास्त्रीय सिद्धांत

(CLASSICAL AND MODERN SOCIOLOGICAL THEORIES)

मध्यप्रदेश भोज (मुक्त) विश्वविद्यालय – भोपाल

MADHYA PRADESH BHOJ (OPEN) UNIVERSITY - BHOPAL

Reviewer Committee

1. Dr. Sadhna Bisen
   Former Assistant Professor
   BSS College, Bhopal (M.P.)

2. Dr. Shailja Dubey
   Professor
   IEHE College, Bhopal (M.P.)

3. Dr. Archna Chauhan
   Assistant Professor
   Govt. S.N.G. (PG) Autonomous College, Bhopal (M.P.)

Advisory Committee

1. Dr. Jayant Sonwalkar
   Hon'ble Vice Chancellor
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal (M.P.)

2. Dr. L.S. Solanki
   Registrar
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal (M.P.)

3. Dr. L.P. Jharia
   Director
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal (M.P.)

4. Dr. Sadhna Bisen
   Former Assistant Professor
   BSS College, Bhopal (M.P.)

5. Dr. Shailja Dubey
   Professor
   IEHE College, Bhopal (M.P.)

6. Dr. Archna Chauhan
   Assistant Professor
   Govt. S.N.G. (PG) Autonomous College, Bhopal (M.P.)

COURSE WRITERS

Prof. Amitabh Srivastava, Professor and Director, Faculty of Arts and Law, Manipal University, Jaipur; **Amit Sharma,** HOD, IIMT College of Management, CCSU, Meerut**;** and **Smita Sharma,** Research Scholar, Manipal University, Jaipur

Copyright © Reserved, Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal

All rights reserved. No part of this publication which is material protected by this copyright notice may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form or by any means now known or hereinafter invented, electronic, digital or mechanical, including photocopying, scanning, recording or by any information storage or retrieval system, without prior written permission from the Registrar, Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal.

Information contained in this book has been published by VIKAS® Publishing House Pvt. Ltd. and has been obtained by its Authors from sources believed to be reliable and are correct to the best of their knowledge. However, the Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal, Publisher and its Authors shall in no event be liable for any errors, omissions or damages arising out of use of this information and specifically disclaim any implied warranties or merchantability or fitness for any particular use.

Published by Registrar, MP Bhoj (Open) University, Bhopal in 2020

VIKAS®

Vikas® is the registered trademark of Vikas® Publishing House Pvt. Ltd.

VIKAS® PUBLISHING HOUSE PVT. LTD.
E-28, Sector-8, Noida - 201301 (UP)
Phone: 0120-4078900 • Fax: 0120-4078999
Regd. Office: A-27, 2nd Floor, Mohan Co-operative Industrial Estate, New Delhi 1100 44
• Website: www.vikaspublishing.com • Email: helpline@vikaspublishing.com

SYLLABI-BOOK MAPPING TABLE

शास्त्रीय और आधुनिक समाजशास्त्रीय सिद्धांत

Syllabi	Mapping in Book
इकाई–1 समाजशास्त्र के उद्‌भव की ऐतिहासिक, सामाजिक, आर्थिक पृष्ठभूमि; सामंतवादी अर्थव्यवस्था एवं सामाजिक संरचना; औद्योगिक क्रांति व उत्पादन की नई प्रणाली का प्रभाव एवं पूंजी व्यवस्था; प्रबोधन (ज्ञानोदय) युग एवं इसके विचारात्मक प्रभाव	**इकाई 1** : समाजशास्त्र का उद्‌भव **(पृष्ठ 3–34)**
इकाई–2 मार्क्स के सामाजिक परिवर्तन एवं द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धांत– द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धांत, मार्क्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की आलोचना; मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद की व्याख्या– विभिन्न चरणों के माध्यम से मानव समाज के परिवर्तन की व्याख्या, आर्थिक नियतिवाद एवं उत्पादन प्रक्रिया, आधार और अधिरचना का सिद्धांत; अतिरिक्त मूल्य एवं शोषण की अवधारणा : पूंजी के संचय व केंद्रीकरण के संदर्भ में मार्क्स का विश्लेषण; मार्क्स का वर्ग–संघर्ष का सिद्धांत, सर्वहारा क्रांति एवं वर्गविहीन समाज– सर्वहारा क्रांति और पूंजीवाद का भविष्य, वर्ग–विहीन समाज; पूंजीवादी समाज में अलगाव की अवधारणा एवं विचारधारा का सिद्धांत– राजनीतिक सत्ता पर विचार, सामाजिक वर्गों के संबंध में राज्य, सर्वहारा का उदय और राज्य का भविष्य, विचारधारा का सिद्धांत, विचारधारा अधिरचना का अंग, विचारधारा के संबंध में तीन विचार	**इकाई 2** : कार्ल मार्क्स **(पृष्ठ 35–68)**
इकाई–3 दुर्खीम का समाज संबंधी चिंतन– बौद्धिक पृष्ठभूमि, दुर्खीम की दृष्टि में समाज व्यवस्था और उसका विघटन, औद्योगिक क्रांति की देन सामाजिक विभाजन, पूंजीवादी समाज में बढ़ता श्रम विभाजन, यांत्रिक एवं जैविक एकजुटता, श्रम विभाजन का विस्तार, सामाजिक रोग (पैथोलॉजिकल) के स्तर पर श्रम विभाजन; आत्महत्या संबंधी सिद्धांत का विशद अध्ययन– आत्महत्या के विषय में पूर्व सिद्धांत और विचार, आत्महत्या दर, दुर्खीम का आत्महत्या पर विशिष्ट समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण, आत्महत्या के प्रकार, समाज के साथ व्यक्ति के एकीकरण की समस्या; धर्म संबंधी सामाजिक सिद्धांत– धर्म के उद्‌भव और भूमिका के पूर्व सिद्धांत, धर्म संरचना : पवित्र और अपवित्र, पवित्रता की अवधारणा का आधार, एक सर्वोच्च ईश्वर के रूप में समाज, धार्मिक रीति–रिवाज, धार्मिक प्रतीकों की सामाजिक भूमिका, दुर्खीम का समाजशास्त्रीय पद्धतियों में योगदान : एक विज्ञान के रूप में समाजशास्त्र	**इकाई 3** : इमाइल दुर्खीम **(पृष्ठ 69–99)**
इकाई–4 मैक्स वेबर का जीवनवृत्त– वेबर का जीवनकाल, मैक्स वेबर के कार्य, वेबर के विचारों पर बौद्धिक प्रभाव; सामाजिक क्रिया का सिद्धांत– सामाजिक क्रिया के प्रकार : बौद्धिक पृष्ठभूमि, आधुनिक पूंजीवाद का विश्लेषण, प्रोटेस्टेंट नैतिकता और पूंजीवाद के उद्‌भव में संबंध, वेबर के विचारों का समालोचनात्मक मूल्यांकन; सत्ता का सिद्धांत– शक्ति और सत्ता की अवधारणाएं, शासन करने के तरीके एवं उत्तराधिकार के प्रकार, मैक्स वेबर के सत्ता के सिद्धांत की आलोचना; नौकरशाही का सिद्धांत– पूंजीवाद का राष्ट्रवाद पर प्रभाव और आधुनिक नौकरशाही का उद्‌भव, मैक्स वेबर का नौकरशाही मॉडल, राजनेताओं और नौकरशाही में संबंध : मैक्स वेबर	**इकाई 4** : मैक्स वेबर **(पृष्ठ 101–144)**

के विचार, प्रस्थिति, वर्ग एवं शक्ति की अवधारणाएं, समाजशास्त्र की पद्धति में योगदान : सामाजिक तथ्यों में निहित अर्थ एवं उनकी व्याख्यात्मक प्रकृति, एक व्याख्यात्मक विज्ञान के रूप में समाजशास्त्र, वेर्स्टेन और आदर्श प्रारूप की अवधारणा

इकाई–5

टेलकॉट पारसंस का जीवनवृत्त और उनकी बौद्धिक पृष्ठभूमि; पारसंस का सामाजिक क्रिया सिद्धांत– पारसंस का सामाजिक संरचना एवं प्रकार्य सिद्धांत, प्रकार्यवाद और सामाजिक परिवर्तन; पारसंस की सामाजिक प्रणाली की अवधारणा– सामाजिक प्रणाली के संदर्भ में क्रियात्मक ढांचा (दृष्टिकोण), सामाजिक प्रणाली का संगठन, समाजीकरण की प्रक्रिया, पारसंस की धर्म के प्रति विश्वास प्रणाली, प्रकार्यात्मक पूर्वापेक्षाएं या एजिल मॉडल, विन्यास प्रकारांतर या प्रतिमान चर

इकाई 5 : टेलकॉट पारसंस
(पृष्ठ 145–176)

विषय–सूची

परिचय **1**

इकाई 1 समाजशास्त्र का उद्‌भव **3–34**

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 समाजशास्त्र के उद्‌भव की ऐतिहासिक, सामाजिक, आर्थिक पृष्ठभूमि
1.3 सामंतवादी अर्थव्यवस्था एवं सामाजिक संरचना
1.4 औद्योगिक क्रांति व उत्पादन की नई प्रणाली का प्रभाव एवं पूंजी व्यवस्था
1.5 प्रबोधन (ज्ञानोदय) युग एवं इसके विचारात्मक प्रभाव
1.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
1.7 सारांश
1.8 मुख्य शब्दावली
1.9 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
1.10 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 2 कार्ल मार्क्स **35–68**

2.0 परिचय
2.1 उद्देश्य
2.2 मार्क्स के सामाजिक परिवर्तन एवं द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धांत
  2.2.1 द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धांत
  2.2.2 मार्क्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की आलोचना
2.3 मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद की व्याख्या
  2.3.1 विभिन्न चरणों के माध्यम से मानव समाज के परिवर्तन की व्याख्या
  2.3.2 आर्थिक नियतिवाद एवं उत्पादन प्रक्रिया
  2.3.3 आधार और अधिरचना का सिद्धांत
2.4 अतिरिक्त मूल्य एवं शोषण की अवधारणा : पूंजी के संचय व केंद्रीकरण के संदर्भ में मार्क्स का विश्लेषण
2.5 मार्क्स का वर्ग–संघर्ष का सिद्धांत, सर्वहारा क्रांति एवं वर्गविहीन समाज
  2.5.1 सर्वहारा क्रांति और पूंजीवाद का भविष्य
  2.5.2 वर्ग–विहीन समाज
2.6 पूंजीवादी समाज में अलगाव की अवधारणा एवं विचारधारा का सिद्धांत
  2.6.1 राजनीतिक सत्ता पर विचार
  2.6.2 सामाजिक वर्गों के संबंध में राज्य
  2.6.3 सर्वहारा का उदय और राज्य का भविष्य
  2.6.4 विचारधारा का सिद्धांत
  2.6.5 विचारधारा अधिरचना का अंग
  2.6.6 विचारधारा के संबंध में तीन विचार
2.7 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
2.8 सारांश
2.9 मुख्य शब्दावली
2.10 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
2.11 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 3 इमाइल दुर्खीम **69–99**

3.0 परिचय
3.1 उद्देश्य
3.2 दुर्खीम का समाज संबंधी चिंतन
  3.2.1 बौद्धिक पृष्ठभूमि
  3.2.2 दुर्खीम की दृष्टि में समाज व्यवस्था और उसका विघटन
  3.2.3 औद्योगिक क्रांति की देन सामाजिक विभाजन
  3.2.4 पूंजीवादी समाज में बढ़ता श्रम विभाजन
  3.2.5 यांत्रिक एवं जैविक एकजुटता
  3.2.6 श्रम विभाजन का विस्तार
  3.2.7 सामाजिक रोग (पैथोलॉजिकल) के स्तर पर श्रम विभाजन
3.3 आत्महत्या संबंधी सिद्धांत का विशद अध्ययन
  3.3.1 आत्महत्या के विषय में पूर्व सिद्धांत और विचार
  3.3.2 आत्महत्या दर
  3.3.3 दुर्खीम का आत्महत्या पर विशिष्ट समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण
  3.3.4 आत्महत्या के प्रकार
  3.3.5 समाज के साथ व्यक्ति के एकीकरण की समस्या
3.4 धर्म संबंधी सामाजिक सिद्धांत
  3.4.1 धर्म के उद्भव और भूमिका के पूर्व सिद्धांत
  3.4.2 धर्म संरचना : पवित्र और अपवित्र
  3.4.3 पवित्रता की अवधारणा का आधार
  3.4.4 एक सर्वोच्च ईश्वर के रूप में समाज
  3.4.5 धार्मिक रीति–रिवाज
  3.4.6 धार्मिक प्रतीकों की सामाजिक भूमिका
  3.4.7 दुर्खीम का समाजशास्त्रीय पद्धतियों में योगदान : एक विज्ञान के रूप में समाजशास्त्र
3.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
3.6 सारांश
3.7 मुख्य शब्दावली
3.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
3.9 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 4 मैक्स वेबर **101–144**

4.0 परिचय
4.1 उद्देश्य
4.2 मैक्स वेबर का जीवनवृत्त
  4.2.1 वेबर का जीवनकाल
  4.2.2 मैक्स वेबर के कार्य
  4.2.3 वेबर के विचारों पर बौद्धिक प्रभाव
4.3 सामाजिक क्रिया का सिद्धांत
  4.3.1 सामाजिक क्रिया के प्रकार : बौद्धिक पृष्ठभूमि
  4.3.2 आधुनिक पूंजीवाद का विश्लेषण
  4.3.3 प्रोटेस्टेंट नैतिकता और पूंजीवाद के उद्भव में संबंध
  4.3.4 वेबर के विचारों का समालोचनात्मक मूल्यांकन
4.4 सत्ता का सिद्धांत
  4.4.1 शक्ति और सत्ता की अवधारणाएं
  4.4.2 शासन करने के तरीके एवं उत्तराधिकार के प्रकार
  4.4.3 मैक्स वेबर के सत्ता के सिद्धांत की आलोचना

4.5 नौकरशाही का सिद्धांत
4.5.1 पूंजीवाद का राष्ट्रवाद पर प्रभाव और आधुनिक नौकरशाही का उद्‌भव
4.5.2 मैक्स वेबर का नौकरशाही मॉडल
4.5.3 राजनेताओं और नौकरशाही में संबंध : मैक्स वेबर के विचार
4.5.4 प्रस्थिति, वर्ग एवं शक्ति की अवधारणाएं
4.5.5 समाजशास्त्र की पद्धति में योगदान : सामाजिक तथ्यों में निहित अर्थ एवं उनकी व्याख्यात्मक प्रकृति
4.5.6 एक व्याख्यात्मक विज्ञान के रूप में समाजशास्त्र
4.5.7 वेर्स्टेन और आदर्श प्रारूप की अवधारणा
4.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
4.7 सारांश
4.8 मुख्य शब्दावली
4.9 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
4.10 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 5 टेलकॉट पारसंस **145–176**

5.0 परिचय
5.1 उद्देश्य
5.2 टेलकॉट पारसंस का जीवनवृत्त और उनकी बौद्धिक पृष्ठभूमि
5.3 पारसंस का सामाजिक क्रिया सिद्धांत
5.3.1 पारसंस का सामाजिक संरचना एवं प्रकार्य सिद्धांत
5.3.2 प्रकार्यवाद और सामाजिक परिवर्तन
5.4 पारसंस की सामाजिक प्रणाली की अवधारणा
5.4.1 सामाजिक प्रणाली के संदर्भ में क्रियात्मक ढांचा (दृष्टिकोण)
5.4.2 सामाजिक प्रणाली का संगठन
5.4.3 समाजीकरण की प्रक्रिया
5.4.4 पारसंस की धर्म के प्रति विश्वास प्रणाली
5.4.5 प्रकार्यात्मक पूर्वापेक्षाएं या एजिल मॉडल
5.4.6 विन्यास प्रकारांतर या प्रतिमान चर
5.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
5.6 सारांश
5.7 मुख्य शब्दावली
5.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
5.9 सहायक पाठ्य सामग्री

परिचय

टिप्पणी

प्रस्तुत पुस्तक 'शास्त्रीय और आधुनिक समाजशास्त्रीय सिद्धांत' का लेखन विश्वविद्यालय के एम.ए. समाजशास्त्र (पूर्वार्द्ध) के प्रथम प्रश्न पत्र के निर्धारित पाठ्यक्रम के अनुसार किया गया है।

किसी भी सामाजिक घटना के प्रति समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण के आधार पर निकाला गया ठोस, वैज्ञानिक एवं अनुभवसिद्ध निष्कर्ष ही समाजशास्त्रीय सिद्धांत कहलाता है। समाजशास्त्रीय सिद्धांत वे यथार्थ, व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक परिणाम होते हैं जिन्हें किसी सामाजिक घटना के आनुभविक परीक्षण के आधार पर प्राप्त किया जाता है।

समाजशास्त्रीय सिद्धांत के क्षेत्र में आधुनिक प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करने वाले सिद्धांतकारों में मर्टन का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। समाजशास्त्र के जन्मदाताओं ने समाजशास्त्र को एक शास्त्रीय विषय के रूप में विकसित किया तथा कॉम्टे, स्पेन्सर एवं वार्ड जैसे प्रारंभिक विद्वानों का यह मत था कि उनका समाजशास्त्रीय अध्ययन समाजशास्त्रीय सिद्धांत के प्रति योगदान ही है।

इस पुस्तक में समाजशास्त्र के शास्त्रीय और आधुनिक समाजशास्त्रीय सिद्धांतों का सारगर्भित अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। प्रत्येक इकाई के आरंभ में विषय–विश्लेषण से पूर्व निहित उद्देश्यों को स्पष्ट कर दिया गया है। विद्यार्थियों की योग्यता को परखने के लिए इकाई के बीच–बीच में 'अपनी प्रगति जांचिए' शीर्षक के अंतर्गत अभ्यास प्रश्न भी दिए गए हैं। अध्ययन की सुविधा के लिए संपूर्ण पुस्तक को पांच इकाइयों में समायोजित किया गया है। जिनका विवरण इस प्रकार है–

पहली इकाई समाजशास्त्र के उद्‌भव पर आधारित है। इसमें समाजशास्त्र के उद्‌भव के सामाजिक, ऐतिहासिक व आर्थिक कारक, सामंतवादी अर्थव्यवस्था एवं सामाजिक संरचना, औद्योगिक क्रांति, पूंजीवादी व्यवस्था एवं प्रबोधन युग की विशेषता आदि तथ्यों का अध्ययन किया गया है।

दूसरी इकाई कार्ल मार्क्स के समाजशास्त्रीय सिद्धांत पर आधारित है। इसमें सामाजिक परिवर्तन का सिद्धांत, द्वंद्वात्मक भौतिकवाद, अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत, वर्ग संघर्ष, सर्वहारा क्रांति एवं पूंजीवादी समाज में अलगाव की अवधारणा का विश्लेषण किया गया है।

तीसरी इकाई समाजशास्त्री इमाइल दुर्खीम पर आधारित है। इसमें दुर्खीम के आत्महत्या संबंधी, धर्म संबंधी एवं समाज संबंधी सिद्धांतों पर प्रकाश डाला गया है।

चौथी इकाई मैक्स वेबर के सामाजिक क्रिया सिद्धांत पर आधारित है। इसमें मैक्स वेबर के सत्ता के सिद्धांत, नौकरशाही के सिद्धांत एवं सामाजिक क्रिया के सिद्धांत की विवेचना की गई है।

पांचवीं और अंतिम इकाई टेलकॉट पारसंस पर आधारित है। इसमें पारसंस की बौद्धिक पृष्ठभूमि, उनके सामाजिक क्रिया सिद्धांत एवं उनकी सामाजिक क्रिया प्रणाली को व्याख्यायित किया गया है।

टिप्पणी

प्रस्तुत पुस्तक में शास्त्रीय एवं आधुनिक समाजशास्त्रीय सिद्धांतों का सांगोपांग अध्ययन किया गया है। इन इकाइयों के अध्ययन से विद्यार्थी समाजशास्त्र के विभिन्न सिद्धांतों से भलीभांति अवगत हो सकेंगे। हमें पूर्ण विश्वास है कि यह पुस्तक छात्र–छात्राओं की जिज्ञासा को शांत कर उनका ज्ञानवर्धन करने में सफल सिद्ध होगी।

इकाई 1 समाजशास्त्र का उद्भव

टिप्पणी

संरचना

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 समाजशास्त्र के उद्भव की ऐतिहासिक, सामाजिक, आर्थिक पृष्ठभूमि
1.3 सामंतवादी अर्थव्यवस्था एवं सामाजिक संरचना
1.4 औद्योगिक क्रांति व उत्पादन की नई प्रणाली का प्रभाव एवं पूंजी व्यवस्था
1.5 प्रबोधन (ज्ञानोदय) युग एवं इसके विचारात्मक प्रभाव
1.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
1.7 सारांश
1.8 मुख्य शब्दावली
1.9 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
1.10 सहायक पाठ्य सामग्री

1.0 परिचय

सृष्टि के उद्भव से ही मानव अपने सामाजिक जीवन के बारे में जागरूक रहा है। मानव जैसा कि हम सब जानते हैं, समूह में रहने वाला एक जीव है और समूह में रहने और उसके क्रियाकलापों में भाग लेने के लिए जरूरी है कि उसके अंदर विभिन्न समस्याओं को सुलझाने की तकनीक और समझ भी हो। मनुष्य के इन्हीं प्रयासों के कारण समाजशास्त्र की उत्पत्ति हुई है और इसका अनवरत विकास भी होता जा रहा है। एक अलग विषय के रूप में समाजशास्त्र का इतिहास करीब 200 साल पुराना है। इस विषय का उद्देश्य समाज का वैज्ञानिक अध्ययन करना है। हर नई चीज की उत्पत्ति के कुछ कारण और कारक होते हैं। समाजशास्त्र की उत्पत्ति के पीछे भी सामाजिक, आर्थिक और बौद्धिक हर प्रकार के कारकों का योगदान रहा। इतिहास की दो प्रमुख क्रांतियां भी इसकी उत्पत्ति के कारकों में शामिल हैं। कुछ पुरानी व्यवस्थाओं का पतन और अंत और कुछ नई व्यवस्थाओं का आरंभ भी समाजशास्त्र के उद्भव की पृष्ठभूमि में रहे हैं।

प्रस्तुत इकाई में समाजशास्त्र के उद्भव के सामाजिक, ऐतिहासिक व आर्थिक कारक, सामंतवादी अर्थव्यवस्था की सामाजिक संरचना, औद्योगिक क्रांति, पूंजीवादी व्यवस्था, प्रबोधन युग एवं उसकी विशेषता आदि तथ्यों का विस्तारपूर्वक अध्ययन किया गया है।

1.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- एक विषय के रूप में समाजशास्त्र के उद्भव की पृष्ठभूमि को समझ पाएंगे;
- आधुनिक समाजशास्त्र के प्रारम्भिक स्वरूप को जान पाएंगे;

टिप्पणी

- समाजशास्त्र के उद्‌भव के सामाजिक व बौद्धिक, आर्थिक एवं राजनीतिक कारकों को समझ पाएंगे;
- सामंतवादी व्यवस्था और सामाजिक संरचना के बारे में समझ पाएंगे;
- पूंजीवाद की उत्पत्ति, विशेषताओं और कमियों की विवेचना कर पाएंगे;
- प्रबोधन युगीन विचारों के महत्व को विश्लेषित कर पाएंगे।

1.2 समाजशास्त्र के उद्‌भव की ऐतिहासिक, सामाजिक, आर्थिक पृष्ठभूमि

मानवीय समाज की प्राचीनता ही इस बात को सिद्ध करने के लिए काफी है कि सामाजिक ज्ञान का अतीत कितना पुराना है। यह अब प्रमाणित है कि सृष्टि के आरंभ से ही मनुष्य अपने सामाजिक जीवन के बारे में जागरूक था एवं सदैव रहा है। यूं तो समाजशास्त्र का ऐतिहासिक सफर बहुत छोटा है, लेकिन इसका अतीत काफी दीर्घकालीन है। समाजशास्त्रीय तर्कों के अनुसार 'प्लेटो' के समय से ही सामाजिक विश्लेषणों का दौर जारी है। जबकी 14वीं सदी के उत्तर अफ्रीकी अरब विद्वान, इब्न खल्दून को भी कई तर्कों में पहले समाजशास्त्री के रूप में देखा जाता है। इसका कारण सामाजिक एकता और सामाजिक संघर्ष के सिद्धांतों पर आधारित उसकी रचना 'मुकद्दीमा' को माना जाता है। हालांकि औपचारिक रूप से समाजशास्त्र शब्द के प्रयोग का श्रेय तो फ्रांसीसी दार्शनिक ऑगस्ट कॉम्टे को ही जाता है। जिन्होंने अठारहवीं शताब्दी के मध्य में यूरोपीय महाद्वीप में बदलते पारंपरिक सामाजिक प्रारूप को समझने के लिए एक अलग विषय की आवश्यकता पर जोर दिया। इस विषय की जरूरत यूरोप की जनता को तब महसूस हुई जब सामंतवादी व्यवस्था के प्रति उनकी असहजता एवं असुरक्षा की भावना प्रबल होती चली गई, परिणामस्वरूप वह अपनी तत्कालीन परिस्थितियों से निजात पाने का प्रयास करने लगी। यूरोपीय जनता के यह प्रयास मूर्त रूप में सामने आए, 1760 में हुई औद्योगिक क्रांति एवं 1789 में हुई फ्रांसीसी क्रांति के रूप में। इतिहास की इन दोनों प्रमुख घटनाओं ने वहां के परंपरागत सामाजिक ढांचे को विस्थापित कर एक बहुत ही नई सामाजिक व्यवस्था को जन्म दिया। सन् 1838 में ऑगस्ट कॉम्टे ने समाजशास्त्र (sociology) शब्द का प्रयोग किया। इस शब्द के प्रयोग से पहले कॉम्टे ने सामाजिक भौतिकी शब्द का प्रयोग किया था। बाद में कॉम्टे ने सामाजिक क्षेत्र को वैज्ञानिक तरीके से समझने के लिए इतिहास, मनोविज्ञान और अर्थशास्त्र को एक साथ जोड़ कर एक अलग विषय की रचना का प्रयास किया। हालांकि अक्सर कॉम्टे को ही समाजशास्त्र का पिता माना जाता है, लेकिन औपचारिक रूप से इस विषय की स्थापना संरचनात्मक व्यावहारिक विचारक एमिल दुर्खीम द्वारा की गई थी। दुर्खीम पहले यूरोपीय अकादमिक विभाग की स्थापना करने वाले एवं कालांतर में प्रत्यक्षवाद का विकास करने वाले समाजशास्त्री के रूप में भी प्रख्यात हैं। समाजशास्त्र को एक विषय के रूप में विकसित करने में स्पेंसर तथा मैक्स वेबर आदि विद्वानों के विचारों का भी काफी योगदान माना गया है। सामाजिक विज्ञान को समझने के लिए एक शैक्षणिक विषय के रूप में समाजशास्त्र के आविर्भाव को समझने के लिए सामाजिक–आर्थिक, राजनीतिक एवं वैज्ञानिक कारकों को समझना जरूरी है। 18वीं

टिप्पणी

और 19वीं सदी में यूरोप में वैज्ञानिक खोज और आविष्कार के रूप में पर्याप्त प्रगति हो रही थी। वैज्ञानिक और प्रौद्योगिकीय प्रगतियों ने पारंपरिक ग्रामीण किसान समाज को आधुनिक शहरी औद्योगिक समाज में बदलने की ओर अग्रसर किया। यही वो समय था जब वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण उत्पादन का स्तर लघु अथवा घरेलू उद्योगों से बड़े पैमाने के कारखाने जैसे उद्योगों में बदलने लगा था। इस प्रकार के विकास के साथ ही बड़े स्तर पर सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक बदलाव भी हुए, जिसका प्रभाव न केवल पश्चिमी यूरोपीय समाजों पर पड़ा बल्कि प्रमुख राजनैतिक क्रांतियों का दौर भी जारी रहा। इन महान परिवर्तनों के परिणाम के रूप में समाजशास्त्र का उद्भव हुआ यह कहा जा सकता है। 1789 में हुई फ्रांसीसी क्रांति के बाद मनुष्य, समाज और प्रकृति के बारे में विचारों की एक तरह की रूपरेखा बनने लगी। क्रांति के फलस्वरूप जो भी आर्थिक और सामाजिक बदलाव आए उसने पहले इंग्लैंड, फिर पूरे यूरोप को एवं उसके साथ–साथ यूरोप के संपर्क में आने वाले विश्व के कई अन्य राष्ट्रों को भी अपने प्रभाव में ले लिया। यही वो वक्त था जिसके बाद लोगों, समुदायों और समाजों के जीवन अध्ययन के रूप में समाजशास्त्र नामक एक विषय की जरूरत चिंतकों को महसूस होने लगी थी। समाजशास्त्र के उद्भव में क्रांतियों का महत्वपूर्ण हाथ है, इसलिए समाजशास्त्र को 'क्रांति युग' की संतान भी कहा जाता है। इसके पीछे की मुख्य वजह समाजशास्त्र का पश्चिमी यूरोप से जन्म लेना है, क्योंकि वहां पिछले करीब 300 वर्षों से क्रांतिकारी परिवर्तनों का दौर रहा, जिसने वहां के समाज को पूरी तरह से बदल कर रख दिया था। ये बड़े परिवर्तन उस वक्त के समाज में औद्योगीकरण और आधुनिकीकरण के मूल कारण तो बने, लेकिन इससे उत्पन्न हुई आशावादी और निराशावादी स्थितियों ने एक तरह का विरोधाभास भी पैदा किया। समाजशास्त्र के उद्भव के लिए यूरोप की ऐतिहासिक एवं सामाजिक परिस्थितियों के अलावा वे बौद्धिक संवेदनाएं भी जिम्मेदार थीं, जो सेंट साइमन, कार्ल मार्क्स, ऑगस्ट कॉम्टे आदि विचारकों के विचारों के रूप में अभिव्यक्त हुईं। सामाजिक विज्ञान के एक विषय के रूप में जन्म लेने के कारकों को समझने के लिए सामाजिक–आर्थिक, राजनीतिक एवं वैज्ञानिक कारकों को समझना आवश्यक है। वैज्ञानिक प्रगति के उस दौर में कॉम्टे और दुर्खीम जैसे प्रारंभिक समाजशास्त्रियों के दिमाग में यह विचार घर कर चुका था कि मानवीय सामाजिक परिवेश के अध्ययन के लिए एक व्यवस्थित एवं समान वैज्ञानिक दृष्टिकोण का होना अति आवश्यक है। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में चल रही इन तमाम बौद्धिक, भौतिक एवं सामाजिक परिवर्तनों की पृष्ठभूमि में एक विशेष शास्त्र के रूप में उभरा। समाजशास्त्र के एक शैक्षणिक विषय के रूप में विकसित होने वाले कारकों को मुख्य रूप से तीन चरणों में बांटा जा सकता है, वे हैं (1) ऐतिहासिक कारक, (2) बौद्धिक कारक, (3) सामाजिक कारक।

1. ऐतिहासिक कारक

यूरोप में क्रमशः 12वीं और 14वीं में शताब्दी में हुई वाणिज्यिक एवं वैज्ञानिक क्रांति ने वहां के निवासियों में इस भावना को प्रबल रूप से बढ़ावा दिया कि उनकी माली हालत में सुधार किसी राजशाही नेतृत्व या धार्मिक संस्थानों के माध्यम से नहीं बल्कि स्वप्रयास से ही संभव है। लोगों की इस सोच ने उन्हें आर्थिक और सामाजिक प्रयत्नों के लिए प्रेरित करना शुरू कर दिया जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण पहले व्यापारिक और फिर वैज्ञानिक क्रांति के रूप में देखने को मिला।

टिप्पणी

व्यापारिक क्रांति के रूप में यूरोपीय लोगों नें सिल्क, मसालों एवं अन्य वाणिज्यिक वस्तुओं के व्यापार एवं उत्पादन के लिए नए क्षेत्रों की खोज आरंभ की। नए स्थापित हो रहे राज्यों की समुद्री यात्रा कर वहां व्यापार की नई संभावनाओं की तलाश में जुटे। नए बाजार की यह यूरोपीय तलाश सफलतापूर्वक आगे बढ़ती रही और उसी के साथ व्यापार के क्षेत्र एवं आय के नए स्रोत भी प्राप्त होते चले गए। यूरोपीय समाज की आर्थिक स्थिति सुधरने लगी, जिसने वैज्ञानिक अन्वेषणों एवं खोजों को बढ़ावा दिया। इसी का नतीजा अगली शताब्दी में वैज्ञानिक क्रांति के रूप में नजर आता है।

वैज्ञानिक क्रांति ने यूरोपीय सामंतवादी रूढ़िवादी सोच को बदलने में अति महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसकी शुरुआत वैज्ञानिक कॉपरनिकस से होती है। जिन्होंने अपने अध्ययन के बाद ब्रह्माण्ड के केंद्र में पृथ्वी के होने की बात को गलत बताकर सूर्य के होने की बात सिद्ध की। उनकी इस पहल ने वहां की रुढ़िवादी एवं धार्मिक कट्टरपंथी सोच को चुनौती दी। यह सिलसिला यहीं नहीं थमता, बाद में न्यूटन ने भी गति का नियम (law of motion) एवं सार्वभौमिक गुरुत्वाकर्षण (gravitational force) के नियमों से लोगों को अवगत कराकर उन्हें प्रकृति के बारे में नए नजरिए से सोचने के लिए प्रेरित ही नहीं बल्कि बाध्य कर दिया। धार्मिक कट्टरपंथ एवं रुढ़िवादिता से वैज्ञानिक दृष्टिकोण की ओर चल पड़े यूरोप के इस कदम को पुनर्जागरण काल के नाम से जाना जाता है।

2. बौद्धिक कारक

विज्ञान की ताकत से अवगत हो चुके यूरोप में 19वीं शताब्दी में हेगेल एवं सेंट साइमन जैसे विचारकों व लेखकों ने अपनी रचनाओं से लोगों की सोच को एक आधार प्रदान किया। इस लेखन क्रांति ने बहुत जल्द यूरोप में एक बौद्धिक आंदोलन का रूप ले लिया। हेगेल के विचारों में अस्तित्व के निर्माण के लिए चेतना का होना जरूरी है, जिसके माध्यम से वे यूरोप की जनता को सीधा संदेश देना चाहते थे कि यदि व्यक्ति खुद की सोच को दृढ़तापूर्वक सच में बदलने के प्रयास में जुट जाए तो अपने अभावों और मुश्किलों से छुटकारा पा सकता है। ऐसा करने के लिए उन्हें किसी राजा या ईश्वरीय कृपा की कोई आवश्यकता नहीं पड़ेगी। हेगेल ने अपनी अवधारणाओं में यह स्पष्ट किया कि एक राज्य के अंदर अधिकार एवं कर्तव्य एक साथ एक संबंध में बंधे हुए हैं। स्पष्ट शब्दों में कहा जाए तो हेगेल के मत से कोई व्यक्ति अगर राज्य के प्रति अपने कर्तव्यों की पालना कर रहा है तो उन कर्तव्यों से संबंधित कुछ अधिकार भी उसे मिलने चाहिए। यूरोप में तेजी से हो रहे सामाजिक परिवर्तनों के बीच इस बौद्धिक आंदोलन ने बड़ी ही तेजी से पैर पसारे, इसका कारण समुद्री मार्ग से बढ़ते व्यापार के साथ–साथ अन्य राष्ट्रों से हो रहे सांस्कृतिक आदान–प्रदान के कारण यूरोपीय समाज संक्रमण के दौर में था। प्राकृतिक विज्ञान के सतत् विकास की वजह से लोग यह समझने लगे थे कि जो ज्ञान सच साबित करने योग्य नहीं है उसे स्वीकार करना भी बड़ी भूल होगी। इसी बदलती मानसिकता के समय को प्रबोधन युग (Age of enlightenment) के रूप में उल्लेखित किया गया है। कहा जा सकता है कि फ्रांसीसी एवं औद्योगिक क्रांतियों की नींव इसी काल के दौरान पड़ गई थी।

समाजशास्त्र के उद्भव के बारे में सेंट साइमन ने कहा है कि "हालांकि यूरोप में विज्ञान मौजूद है, लेकिन व्यक्तियों को समझने के लिए किसी विज्ञान का होना भी आवश्यक है। इसलिए समाज का वैज्ञानिक अध्ययन भी होना चाहिए।"

टिप्पणी

प्रबोधन युग के दार्शनिकों चार्ल्स डी मॉन्टेस्क्यू एवं जीन–जक्कुएस रूसो के विचारों में मानव स्वयं ब्रह्माण्ड को नियंत्रित कर सकता है। अतः उसे रूढ़ियों एवं अंधविश्वासों को त्याग कर नए सिरे से विचार करना चाहिए। इन कथनों से समाजशास्त्रीय सोच के उद्भव के संकेत उसी काल में मिलने लगे थे। बौद्धिक आंदोलन के रूप में विज्ञान के बढ़ते असर से लोगों के अंदर पुरानी परंपराओं एवं धार्मिक संस्थाओं से खुद को अलग करने की प्रवृत्ति बढ़ती नजर आई। इसी के साथ समाज वैज्ञानिकों एवं चिंतकों ने भी सामाजिक समस्याओं का समाधान वैज्ञानिक तरीकों से खोजने की तरफ प्रेरित किया। प्रबोधन काल के विचारों से प्रभावित ऑगस्ट कॉम्टे भी ऐसे ही सिद्धांतों का निर्माण करना चाहते थे जो अनुभव से प्राप्त ज्ञान और तथ्यों पर आधारित हो। पहले से मौजूद सामाजिक विज्ञान समाज के किसी विशेष पक्ष का ही अध्ययन करता था, इसीलिए कॉम्टे एक ऐसे सामाजिक विज्ञान का निर्णाण करना चाहते थे जो समाज का समग्रता से अध्ययन करे। वैज्ञानिकता से अति प्रभावित एवं उसके महत्व को समझते हुए कॉम्टे ने समाजशास्त्र शब्द के प्रयोग से पहले अपने विषय का नाम सामाजिक भौतिकी (social physics) रखा था।

3. सामाजिक कारक

समाजशास्त्र के उद्भव के सामाजिक कारकों को इतिहास की दो प्रमुख घटनाओं के रूप में उल्लेखित किया गया है। पहला कारक औद्योगिक क्रांति को माना गया है, जिसकी शुरुआत 1760 से मानी जाती है। इंग्लिश इतिहासकार अर्नाल्ड टॉयनबी ने इस शब्द का प्रयोग ब्रिटेन में 1760 से 1840 के बीच हुए आर्थिक विकास का वर्णन करने के लिए औद्योगिक क्रांति शब्द का प्रयोग किया था। इस क्रांति की शुरुआत मुख्यतः खनन, कपास और परिवहन के क्षेत्र में हुए विकास से हुई। लेकिन बहुत जल्द यूरोपीय एवं ब्रिटिश समाज ने अपनी बौद्धिक जागरूकता का परिचय देते अन्य क्षेत्रों में भी मशीनों के आविष्कार और निर्माण कार्य को पूरा कर लिया। औद्योगीकरण का प्रभाव कुछ ऐसा रहा कि कृषि का मशीनीकरण, टेक्सटाइल उद्योग, विनिर्माण एवं ऊर्जा के क्षेत्र में क्रांतिकारी बदलाव हुए। औद्योगीकरण की इस अवस्था ने लोगों के न आर्थिक बल्कि सामाजिक व सांस्कृतिक जीवन को भी काफी प्रभावित किया। औद्योगीकरण के उस दौर में ब्रिटेन की सामूहिक जरूरत से लगभग दस गुना अधिक उत्पादन हुआ और यही वह समय था जब लोगों ने अभाव मुक्त समाज की संभावनाओं का वास्तविक अनुभव किया। इस क्रांति ने न केवल उत्पादन के क्षेत्र में व्यापक परिवर्तन किए, बल्कि सामाजिक स्तर पर लोगों के जीवन व उनकी सोच को भी प्रभावित किया, इसलिए समाजशास्त्रीय दृष्टि से भी यह क्रांति महत्वपूर्ण साबित हुई। इस क्रांति से पहले तक जो लोग अपने अभाव को प्राकृतिक और ईश्वरीय कृपा या कोप से जोड़कर देखते थे उन्हें अब यह यकीन होने लगा था कि मनुष्य के स्वयं के प्रयासों पर ही उनके जीवन की दशा का आधार टिका हुआ है। अपने स्वयं के प्रयासों से उत्पादन बढ़ाकर अपने अभाव को दूर करने के बाद लोगों में आत्मविश्वास जागा, जिसने ईश्वरीय सत्ता में उनके विश्वास को कम किया, इसके साथ ही इस विचार ने जन्म लिया कि हमारी

टिप्पणी

दरिद्रता और अभाव का कारण हमारी स्वयं की अज्ञानता और अनभिज्ञता रही न कि ईश्वरीय शक्ति। उत्पादन, विनिर्माण, वितरण आदि में बड़े बदलाव के साथ ही इस औद्योगिक क्रांति ने कई सामाजिक कुरीतियों और अपराध को भी बढ़ावा मिला। इस क्रांति के परिणामस्वरूप खेती के कार्य को कम उत्पादक मानकर लोग फैक्ट्रियों में काम की तलाश में शहरों की तरफ पलायन करने लगे। इस बदलती व्यवस्था के साथ ही संगठित अपराध, बाल अपराध, मालिक कर्मचारी विवाद, पारिवारिक विघटन आदि कई चुनौतियों के रूप में सामने आया। इन्हीं सामाजिक समस्याओं के समाधान तलाशने के क्रम में ऑगस्ट कॉम्टे ने समाज विज्ञान जैसे किसी विषय की अनिवार्यता के बारे में सोचा। बकौल कॉम्टे इन नवीन सामाजिक परिवर्तनों को समझने के लिए समाज की वास्तविकता को पूरी तरह से समझना आवश्यक होगा और इसके विस्तृत एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन के लिए एक अलग विषय का होना भी जरूरी है, जिसके लिए उन्होंने कुछ समय पश्चात समाजशास्त्र शब्द का प्रयोग किया।

सामाजिक कारक के रूप में दूसरी प्रमुख घटना फ्रांसीसी क्रांति के रूप में देखी गई। स्वतंत्रता, समानता और भाईचारे (बंधुत्व) के नारे को बुलंद करती फ्रांसीसी क्रांति की शुरुआत सन् 1789 में हुई। अठारहवीं सदी के दौरान फ्रांस भी, अन्य यूरीपीय देशों की तरह, कारण और तर्कवाद के काल में प्रवेश कर चुका था। इस क्रांति की पृष्ठभूमि में फ्रांस की जर्जर आर्थिक हालत, भूखी मरती जनता एवं बोर्बन राजवंश के राजा लुई 16वां का पूर्णतः असफल राज्य संचालन है। फ्रांस में उस समय एक तरफ जनता का पेट भर सकने में असफल कृषि व्यवस्था और भुखमरी थी, तो वहीं दूसरी तरफ राजवंश के सदस्यों एवं उसके कर्मचारियों की विलासितापूर्ण जीवनशैली। राजशाही के तहत जनता पर भारी कर के बोझ ने जल्द ही क्रांति का रूप ले लिया। ताकतवर ऐतिहासिक घटनाओं में स्थान पाने वाली इस क्रांति ने फ्रांस के तत्कालीन वर्तमान के साथ–साथ उसके भविष्य को भी बदलकर रख दिया। इस क्रांति ने पुराने नियमों और विशेषाधिकारों को पीछे छोड़ते हुए सामंतवादी व्यवस्था को जड़ से उखाड़ फेंका और उसके स्थान पर एक नई व्यवस्था का निर्माण किया। इस क्रांति ने यूरोपीय समाज की राजनीतिक संरचना को बदल दिया और उदारवादी लोकतांत्रिक व्यवस्था के स्थापन की राह आसान करते हुए सामंतवादी युग को प्रतिस्थापित किया। औद्योगिक क्रांति की ही तरह फ्रांसीसी क्रांति ने भी न केवल फ्रांसीसी समाज बल्कि पूरे यूरोपीय समाज में परिवर्तन का बिगुल फूंक दिया। इस क्रांति की तीव्रता का अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि इसका प्रभाव अन्य महाद्वीपों के देशों तक भी नजर आया। उदाहरण के तौर पर स्वतंत्रता, बंधुता और समानता जैसे विचार जो अब भारत के संविधान की प्रस्तावना में शामिल हैं, उनकी उत्पत्ति फ्रांसीसी क्रांति की ही देन रही है। इन दोनों ही क्रांतियों ने समाज में बड़े एवं महत्वपूर्ण परिवर्तन करते हुए समाज को एक नए कलेवर में ढालने का पूरा प्रयास किया, जिसे समझने के लिए भी एक नए विषय की जरूरत फ्रांसीसी दार्शनिक ऑगस्ट कॉम्टे समेत समाज में शास्त्रीय रुचि रखने वाले अन्य सिद्धांतकारों जैसे दुर्खीम और पार्सन्स को भी महसूस हुई और इस प्रकार एक विषय के रूप में पहले सामाजिक भौतिकी और फिर समाजशास्त्र का जन्म हुआ।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

1. ऑगस्ट कॉम्टे ने समाजशास्त्र (Sociology) शब्द का प्रयोग कब किया था?
   (क) 1833 (ख) 1838
   (ग) 1948 (घ) 1851
2. समाजशास्त्र के एक शैक्षणिक विषय के रूप में विकसित होने वाले कारकों को कितने मुख्य चरणों में बांटा जा सकता है?
   (क) तीन (ख) चार
   (ग) पांच (घ) छह

1.3 सामंतवादी अर्थव्यवस्था एवं सामाजिक संरचना

सामंतवाद (फ्यूडल इकॉनोमी) को हम मध्ययुगीन काल में यूरोप और इंग्लैंड में प्रचलित प्रशासकीय व्यवस्था के रूप में जानते हैं। 'फ्यूडल' शब्द जर्मेनिक शब्द 'फ्यूड' से प्राप्त है, जिसका अर्थ भूमि के एक ऐसे भाग से है जिसे कुछ शर्तों के साथ उसका स्वामी किसी प्रतिनिधि को खेती के लिए देता है। मुख्यतः पश्चिमी यूरोप में रोमन साम्राज्य के विघटन के बाद एक नए प्रकार के समाज और एक नई शासन व्यवस्था का जन्म हुआ। एक ऐसी प्रणाली जिसमें स्थानीय शासक को वो तमाम शक्तियां और अधिकार प्राप्त थे, जिनका उपयोग केवल सम्राट, राजा अथवा उनके द्वारा नियुक्त केंद्रीय शक्ति को दिए जाते थे। इस सामंतवादी व्यवस्था के ढांचे में तीन प्रमुख तत्व थे– जागीर, सम्प्रभुता और संरक्षण। सामाजिक दृष्टि से समाज मुख्यतः दो वर्गों में विभाजित था। पहला सत्ता पर काबिज राजा और उसके सामंत तथा दूसरा अधिकारों एवं संसाधनों से वंचित कृषक या दास। शीर्ष पर राजा के होने के अलावा इन सामंतों की कई श्रेणियां होती थीं, जिसके सबसे निचले पायदान पर किसान या दास होते थे। कानूनी रूप से राजा या सम्राट समूची भूमि का स्वामी घोषित था। यह भूमि अलग–अलग श्रेणी के सामंतों में बांट दी जाती थी। राज्य सेवा के बदले पुरस्कार स्वरूप सामंतों को भूमि दी जाती थी। राजा अपने अफसरों को भी नकद वेतन के बदले जमीन देता था। सामंत अपने–अपने हिस्से के प्रभुता–सम्पन्न अधिकारी हुआ करते थे, जो बदले में जरूरत पड़ने पर राजा या सम्राट की सैनिक सहायता करते थे। राजा या सम्राट के प्रति अपनी निष्ठा दिखाने के लिए सामंत वार्षिक निर्धारित कर के अलावा समय–समय पर उन्हें भेंट–उपहार के रूप में अतिरिक्त धन भी देते थे। उस काल में भूमि को ही धन और सम्पत्ति का साधन समझा जाता था। हालांकि सामंतगण इस प्राप्त भूमि की खरीद–फरोख्त नहीं कर सकते थे, लेकिन कृषकों से इसपर खेती करने के बदले कर प्राप्त करने का अधिकार उन्हें था। प्रारंभ में यह व्यवस्था रक्षक और अधीनस्थ लोगों के संगठन के रूप में काम करती थी। यूरोप में सामंतवाद का संबंध दो व्यवस्थाओं से था जिनमें से एक किसान दास व्यवस्था तो दूसरा सैनिक संगठन था। ये सामंत अपने क्षेत्र में प्रभुत्व रखते थे और वहां शांति और सुरक्षा बनाए रखते थे। कृषकों की समस्याओं का समाधान करना एवं उनके मुकदमे सुनकर न्याय करना भी उनके कार्य हुआ करते थे। लेकिन आगे चल

टिप्पणी

कर व्यक्तिगत वर्चस्व व व्यक्तिगत स्वार्थ की सिद्धि ही सामंतों का उद्देश्य बनता गया। इस प्रकार से यह कहा जा सकता है कि सामंतवाद यूरोप में भूमि व्यवस्था के विकेंद्रीकरण पर आधारित एक ऐसी प्रशासकीय व्यवस्था थी जिसमें सामंत सत्ता और काश्तकारों के बीच सेतू की भूमिका में था, जो दोनों ही पक्षों से कुछ निश्चित अनुबंधों के आधार पर जुड़ा हुआ था।

इस व्यवस्था के अंतर्गत किसान भूमि के बंधुआ होते थे और भूमि के मालिक जमींदार या सामंत होते थे जो कृषकों और राजा के बीच कड़ी का काम करते थे। सामंतवाद में कृषकों की दशा अच्छी नहीं थी। कृषक भूस्वामी सामंत की भूमि पर खेती करने के लिए बाध्य थे, साथ ही वार्षिक कर भी उन्हें चुकाना पड़ता था। सामंतवाद में व्यक्ति के राजनैतिक संबंध और उसकी सामाजिक स्थिति इस बात पर निर्भर करती है कि वह कितनी भूमि का मालिक है। समय के साथ सामंत ने अपनी राजनैतिक ताकतों का प्रयोग करते हुए अपने अधिकारों को बढ़ाया और उन पर शासन करने लगे। राजा अथवा सामंतों पर आश्रित लोग मुख्यतः दो वर्गों में बंटे हुए थे। पहले वे जो सैनिक सेवाओं को देते हुए राजा से जुड़े हुए थे, दूसरे वे जो उनकी भूमि में कृषि या मजदूरी का कार्य करते थे। यूं तो सामंतवाद का प्रचलन मध्य युग की राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए हुआ था, परंतु धीरे–धीरे जैसे ही यह व्यवस्था अपने मूल मकसद से भटकती चली गई इसने अपनी उपयोगिता खो दी। यह अधीनों की सुरक्षा से शुरू हुई। यह व्यवस्था धीरे–धीरे उनकी असहाय और दयनीय सामाजिक और आर्थिक हालत का कारण बनती चली गई। कृषक ही नहीं बल्कि उसकी कई पीढ़ियां भी सामंतों की भूमि पर बंधुआ की तरह काम करने को बाध्य थीं। इस व्यवस्था में कृषकों के शोषण के साथ ही उनकी दरिद्रता बढ़ती चली गई, तो वहीं दूसरी ओर सामंतों की प्रभुता, उनकी शक्तियां, उनकी सत्ता–सम्पन्नता और विलासिता उस काल की प्रमुख विशेषता बन कर उभरी।

इस व्यवस्था के अंतर्गत भूमि पहले आजीवन दी जाती थी, बाद में आनुवंशिक आधार पर दी जाने लगी। सामंत की मृत्यु के बाद अपनी विशेषताओं की वजह से जहां पूरे मध्ययुग में सामंती व्यवस्था का बोलबाला रहा वहीं अनेकानेक कमियों की वजह से इसका पतन हो गया।

सामंती समाज की संरचना (ढांचा)

सामंतवादी समाज की संरचना पदानुक्रम थी अर्थात इसमें व्यक्तियों को अलग–अलग पद प्रदान किए गए थे। इस संरचना के शीर्ष पर राजा था जो कई अधिपतियों को भू–सम्पत्ति (फीफ) या जागीर सौंपता था। इसके बाद अधिपति (लॉर्ड) अपने कई मातहतों (वसाल) को वह भू–सम्पत्ति वितरित करता था, जिसके साथ उनपर कुछ खास कर्तव्यों के निर्वहन की भी जिम्मेदारी हुआ करती थी। नाइट्स इस पदानुक्रम के सबसे निचले पायदान पर स्थित थे और राजा एवं अधिपतियों के लिए सैनिक जरूरतों को पूरा करते थे। पूरी सामंती प्रणाली व्यक्तिगत निष्ठा और समर्पण के अनुबंध के रूप में काम करती थी। इकरारनामा के रूप में एक वैधानिक प्रक्रिया के अंतर्गत एक व्यक्ति स्वयं को अपने संरक्षक को सौंप देता था। इस अनुबंध में वसाल अपने मालिक अधिपति की सेवा और सम्मान करने के लिए अनुबंधित था व बदले में अधिपति अपने वसाल की देखरेख और सुरक्षा का वचन देता था। वसालों की सेवा के बदले अधिपति या तो उनके

रहने और खाने की व्यवस्था अपने खर्चे पर करता था या फिर काम के बदले उन्हें भूमि का एक टुकड़ा या जमीन से मिलने वाली निश्चित आय दे देता था, जिससे वह अपना जीवनयापन करते थे।

टिप्पणी

कृषि व्यवस्था में उत्पादन की आधारभूत इकाई मैनोर थी। मैनोर वह भू–सम्पत्ति थी, जिसका नियंत्रण लॉर्ड के पास होता था। लॉर्ड को इस भू–सम्पत्ति का कुछ हिस्सा फीफ के रूप में मिला था, कुछ उसने सैन्य शक्ति के बल पर पाया था और कुछ उसे अनुदान में मिले थे। इस सम्पत्ति को दो हिस्सों में बांट कर लॉर्ड इसका अधिकतम उपयोग कर पाता था। एक हिस्सा जहां उसका दुर्ग हुआ करता था व दूसरा हिस्सा जो उसने किसानों को खेती और अपनी आजीविका कमाने के लिए दी थी। इस भूमि पर खेती के साथ किसान को लगान के बदले लॉर्ड को अपनी श्रम सेवाएं प्रदान करनी होती थीं। एक संस्था के रूप में कृषिदासता यूरोप में सामंतवाद का प्रमुख तत्व था। किसान को जमीन को खरीदने या बेचने का कोई अधिकार नहीं था। जमीन छोड़ कर जाने का या जमीन के उत्तराधिकार की स्वतंत्रता भी नहीं थी, यहां तक कि विवाह, परिवार और निवास के मामले में भी उसे निर्णय लेने की आजादी नहीं थी। अधिकांश किसान एक ही मैनोर में अपना जीवन समाप्त कर लेते थे। किसानों को टाइथ के रूप में अन्य शुल्क भी चुकाने पड़ते थे, जो उत्पादन का दसवां हिस्सा था, यह मुख्यतः चर्च को दिया जाता था। सैनिक सुविधाओं की पूर्ति के लिए तैयार किए गए नाइट्स को जॉर्ज ड्यूबी ने सामंतवादी शोषण का प्रमुख एजेंट कहा है। नाइट के रूप में एक घुड़सवार लड़ाका अधिपति के अधीन होता था। अधिपति और राजा की सुरक्षा के अलावा इनका प्रयोग समय–समय पर किसानों को डराने तथा उनसे शुल्क वसूलने के लिए जोर–जबरदस्ती में भी होता आया था।

सामंतवाद का पतन

मध्यम वर्ग के सहयोग से 15वीं शताब्दी के आते–आते राजा की सत्ता और अधिक शक्तिशाली होने लगी। निरंकुश राजतंत्र को आम जनता की मंजूरी और समर्थन का नतीजा यह निकला कि राजा अब प्रत्यक्ष रूप में अपने राज्य में अलग–अलग प्रकार के कर लगाने लगा। राजाओं ने अपनी सम्प्रभुता स्थापित करने के लिए कई प्रयास किए, जिसमें अपने अधीन नौकरशाही को मजबूत एवं व्यवस्थित बनाने से लेकर प्रशासकीय कार्यक्षेत्रों को सामंतों के अधिकार से मुक्त करना भी शामिल था। अफसरों एवं अधिकारियों को नकद वेतन के बदले जमीन अनुदान में देने की जो प्रथा सामंतवाद की जड़ में थी उसे भी राजा द्वारा प्रसारित सिक्कों के प्रचलन ने नुकसान पहुंचाया। सिक्कों के प्रसार एवं प्रचलन ने राजा को उसकी सम्प्रभुता कायम रखने में काफी योगदान दिया। कुल मिलाकर यूरोप में स्वतंत्र और शक्तिशाली राजतंत्रों की स्थापना ने सामंतों की शक्तियों को काफी नुकसान पहुंचाया एवं उनके पतन का एक बड़ा कारण बना। इसके अलावा यही वह समय था जब नित नए हथियारों एवं गोले बारूदों के आविष्कार एवं उनके प्रयोग से अब राजा ने अपनी स्वयं की सेनाएं स्थापित करना शरू कर दिया। आधुनिक हथियारों, बंदूकों और बारूद से सज्जित राजा की सेना के आगे सामंतों का टिक पाना कठिन ही नहीं नामुमकिन था। सामंतों की शक्ति का आधार उनके दुर्ग हुआ करते थे, एवं उनके लड़ाके धनुष–धारी। युद्ध की हालत में राजा की हथियारों से सुसज्जित सेना के आगे सामंतों के दुर्ग की दीवारें भी उनकी रक्षा करने

में असमर्थ थीं। अतः सामंतों के विलय के साथ–साथ सामंतवादी व्यवस्था का खत्म होना भी तय था। सामंतवाद के पतन के इन दो राजनीतिक कारणों के अलावा इसके पतन के कुछ अन्य सामाजिक एवं आर्थिक कारण भी रहे।

टिप्पणी

सामंतवाद के पतन के सामाजिक कारण

समाज में नए विचारों और आदर्शों के एक नए युग का प्रारंभ हुआ। मुद्रा का आविष्कार, विद्या एवं ज्ञान का प्रसार एवं वृद्धि, ज्ञान–विज्ञान में बढ़ती अभिरुचि की वजह से जीवन के प्रति एक नए दृष्टिकोण की शुरुआत ने सामंतवादी व्यवस्था की जरूरत को नकारना शुरू कर दिया। पुरानी व्यवस्था की कमियों को दूर करने के उद्देश्य से समाज अब एक नई व्यवस्था को अपनाने के लिए आतुर था। इसी के परिणामस्वरूप अब नई सामाजिक व सांस्कृतिक संस्थाओं और व्यवस्थाओं का प्रारंभ हुआ। व्यापार एवं वाणिज्य में बढ़ोत्तरी व लोगों के आर्थिक रूप से सुदृढ़ होने की वजह से एक प्रभावशाली मध्यम वर्ग का उदय और विकास हुआ। समाज के कृषि प्रधान होने की वजह से ही सामंतवादी व्यवस्था इतने वक्त तक फलती–फूलती रही। लेकिन अब तेजी से कृषि प्रधान समाज का स्वरूप बदल रहा था, इसका स्थान धन–सम्पन्न जागरूक शिक्षित मध्यम वर्ग ने ले लिया था, परिणामस्वरूप सामंतवादी व्यवस्था भी अपनी पकड़ और उपयोगिता खोती चली गई।

सामंतवाद के पतन के आर्थिक–वाणिज्यिक कारण

यही वह समय था जब वैज्ञानिक एवं भौगोलिक कारणों से यूरोप के वाणिज्य व्यापार में खूब बढ़ोत्तरी हो रही थी। नए समुद्री मार्गों की खोज से विश्व के अन्य देशों से भी यूरोप का व्यापार शुरू हो चुका था। यूरोपवासियों को अब कई नए देशों का पता चल चुका था एवं पूर्व के देशों में यूरोपीय वस्तुओं की काफी मांग होने लगी थी। विदेशों से व्यापार की बढ़ती संभावनाओं के साथ ही नए व्यापारी वर्ग का उदय भी हुआ। कुछ व्यापारियों ने व्यापार के बल पर काफी धन कमाया और सामंतों से भी अधिक धन सम्पन्न हो गए। सामंतों से प्रतिस्पर्धा के लिए उन्होंने राजा को सामंतों के विरुद्ध जाकर सहयोग देना शुरू कर दिया। इस प्रकार राजा की धन और सहयोग के लिए सामंतों पर निर्भरता भी खत्म होती रही।

सामंतवादी व्यवस्था के अंतर्गत जहां गांव, कस्बे एवं नगर सामंतों के अधिकार एवं शासन में हुआ करते थे वहीं अब वाणिज्य, व्यापार, कलाकौशल और उद्योग–धंधों के विकास के परिणामस्वरूप यूरोप में कई नवीन कस्बों और सुख–सुविधाओं वाले शक्तिशाली नगरों का विकास हुआ। इससे सामंतों से इतर व्यापारियों और मध्य वर्ग की शक्ति एवं प्रभाव में वृद्धि हुई।

सामंतवाद के पतन का और एक प्रमुख कारण सामंतों और व्यापारियों की प्रतिस्पर्धा एवं संघर्ष भी है। सामंतों के हितों के विपरीत व्यापारियों ने अपने उद्योग–धंधों के विकास के लिए गांवों में बसे कृषकों और कृषि दासों को लालच देकर शहरों में आकर बसने के लिए प्रेरित किया। राजा भी सामंतों के वर्ग से अपनी मुक्ति चाहता था, इसलिए सामंतों और व्यापारियों के बीच के संघर्ष में राजतंत्र ने भी व्यापारियों के वर्ग का ही समर्थन किया। नए व्यापारिक वर्ग को भी अपने पैर पसारने के लिए राजा के समर्थन और संरक्षण की जरूरत थी, इसलिए बदले में व्यापारियों ने राजाओं को सहयोग देकर सामंतों की शक्ति को कम करने में अपनी भूमिका निभाई।

टिप्पणी

सामंतवाद के पतन के लिए केवल व्यापारियों की प्रतिस्पर्धा एवं आर्थिक उन्नति ही नहीं बल्कि कृषकों और कृषि दासों पर किए जा रहे सामंतों का शोषण और अत्याचार भी जिम्मेदार है। सामंतों के अत्याचारों से क्षुब्ध किसानों ने 1348 ई. में आई महामारी के बाद अपनी मांगों और वेतनवृद्धि की मांग को लेकर सामंतों के खिलाफ विद्रोह कर दिया। महामारी ने हजारों मजदूरों की जान ले ली, फलस्वरूप श्रमिकों की भारी कमी हो गई। श्रमिकों की मांग बढ़ने से अधिक मेहनताने की मांग ने भी जोर पकड़ा। कृषकों के इन विद्रोहों में शिल्पकार और निम्न श्रेणियों के कारीगर एवं छोटे पादरी भी साथ हो लिए। हालांकि किसानों का यह विद्रोह बहुत जल्द दबा दिया गया, लेकिन अब कृषक सामंतों पर निर्भर नहीं रहे थे। उनके पास गांव छोड़कर नगरों में जीवन निर्वाह करने का विकल्प मौजूद था। काश्तकारों के विद्रोह और गांव को छोड़कर शहरों में उनके पलायन ने सामंतवादी व्यवस्था की जड़ें खोद डालीं।

सामंतवादी व्यवस्था के शुरुआती मूल्यों के ह्रास के साथ ही उनमें परस्पर वर्चस्व की लड़ाई का सिलसिला भी शरू हुआ। सामंत अपनी खुद की सेना रखते थे, जिसे समय पड़ने पर राजा की सुरक्षा के लिए लगाया जाता था, लेकिन इन सेनाओं के बल पर सामंत आपस में भी एक–दूसरे से युद्ध कर लिया करते थे। उनके ऐसे संघर्षों और युद्धों से उनकी सेना कमजोर और शक्ति क्षीण होती चली गई।

अपनी प्रगति जांचिए

3. जॉर्ज ड्यूबी ने सामंतवादी शोषण का प्रमुख एजेंट किसे कहा?

(क) राजा (ख) किसान

(ग) नाइट्स (घ) वसाल

4. सामंतवाद के पतन के कौन–से कारण थे?

(क) राजनीतिक (ख) सामाजिक

(ग) आर्थिक–वाणिज्यिक (घ) ये सभी

1.4 औद्योगिक क्रांति व उत्पादन की नई प्रणाली का प्रभाव एवं पूंजी व्यवस्था

मानव इतिहास में इस क्रांति से पहले उत्तर पाषाण युग में भी एक क्रांति ने सामाजिक जीवन में बड़े बदलाव किए थे। यह वह समय था जब आदिमानव ने शिकार छोड़कर पशुपालन एवं कृषि के काम की शुरुआत की थी और दूसरी क्रांति यह रही जब आधुनिक युग में मानव ने कृषि छोड़कर व्यवसाय को महत्व दिया। उत्पादन के क्षेत्र में हुए इस बदलाव से श्रम के लिहाज से मानव की जगह मशीन ने ले ली थी। औद्योगिक क्रांति की वजह से उत्पादन पद्धति काफी ज्यादा प्रभावित हुई, उत्पादन में न केवल मात्रात्मक बल्कि गुणात्मक परिवर्तन भी हुए। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के बढ़ने से औपनिवेशिक साम्राज्यवाद का भी तेजी से विस्तार हुआ। धन संपदा में भारी वृद्धि हुई, जिसने पूंजीवाद को और अधिक मजबूती से खड़ा होने में मदद की। जैसे–जैसे पूंजीवाद अधिक जटिल होता गया बैंकों, बीमा कंपनियों और वित्त सेवाओं का विकास

टिप्पणी

होता गया। इसके कारण औद्योगिक श्रमिकों, प्रबंधकों और पूंजीपतियों की एक नई श्रेणी उभरी। कृषि समाज से इतर नए औद्योगिक समाज में कृषकों ने खुले और रोशनी से भरपूर ग्रामीण क्षेत्रों की बजाय खुद को धूल और गंदगी से भरे अंधेरे कारखानों में पाया। उत्पादन में वृद्धि के साथ ही शहरी जनसंख्या भी बढ़ने लगी। आबादी बढ़ने के साथ ही बड़ी संख्या में ग्रामीण क्षेत्रों से पलायन कर लोग शहरों में बसने लगे, जिसने शहरीकरण की गति अत्यधिक तीव्र कर दी। उद्योगों के आस–पास बसते चले गए औद्योगिक शहर तेजी से बढ़े। इन विशाल औद्योगिक शहरों में उतनी ही विशाल सामाजिक–आर्थिक असमानता नजर आने लगी थी। इस क्रांति से केवल सामाजिक आर्थिक परिवर्तनों को ही नहीं मनोवैज्ञानिक बदलावों को भी प्रगति मिली। प्राकृतिक संसाधनों के अधिकतम दोहन और प्रयोग से प्रकृति पर अधिकार करने की अतिआत्मविश्वासी प्रवृत्ति को बल मिला। औद्योगिक क्रांति के प्रभावों को अलग–अलग क्षेत्रों से संबद्ध करते हुए कुछ इस तरह समझा जा सकता है–

आर्थिक प्रभाव

उत्पादन का अत्यधिक तेज गति से बढ़ना– मशीनों और तकनीक के कारण कारखानों में उत्पादन अब पहले के मुकाबले बहुत जल्द और कहीं अधिक कुशलता के साथ भारी मात्रा में होने लगा। इन औद्योगिक उत्पादों को देश–विदेश के बाजारों तक पहुंचाने के लिए वाणिज्यिक गतिविधियां तेज हुईं, जिससे इंग्लैंड सरीखे औद्योगिक देश तेजी से धनी बनने लगे। इन राष्ट्रों की अर्थव्यवस्था अब पूर्णरूप से उद्योग प्रधान हो गई थी। यही वह समय था जब इन देशों में औद्योगिक पूंजीवाद का जन्म हुआ। उद्योगों के साथ–साथ औद्योगिक एवं व्यापारिक निगमों का भी फैलाव हुआ, जिसके लिए इन्होंने अपनी पूंजी की प्रतिभूतियां बेचना प्रारंभ कर दिया। इस तरह इस क्रांति ने न केवल व्यापार को बढ़ावा दिया बल्कि एक समूची नई आर्थिक पद्धति की ही उत्पत्ति कर डाली।

शहरीकरण– हस्तनिर्मित वस्तुओं की जगह अब उपभोक्ताओं की पहली पसंद भी अब मशीननिर्मित उत्पाद थे, परिणामस्वरूप गांवों में स्थापित लघु एवं कुटीर उद्योगों का पतन हुआ। नतीजतन आजीविका की तलाश में लोग शहरों की ओर पलायन करने लगे क्योंकि अब बड़े–बड़े उद्योगों के भरोसे ही रोजगार संभव नजर आ रहा था। इस पलायन से स्वाभाविक तौर पर शहरीकरण की प्रक्रिया तेज हो गई। नगरों का विकास मुख्य रूप से व्यापारिक केन्द्र, उत्पादन केंद्र, बंदरगाह आदि के रूप में हुआ। नए शहर अधिकतर उन औद्योगिक केंद्रों के चारों तरफ विकसित हुए जहां लोहा, कोयला और पानी की भरपूर उपलब्धता थी। फ्रांस, जर्मनी, ऑस्ट्रिया, इटली आदि देशों में भी शहरीकरण के ऐसे ही हालात थे। कुल मिलाकर इस प्रकार से अर्थव्यवस्था शहरों पर ही केंद्रित होने लगी।

आर्थिक असमानता से पैदा हुआ असंतुलन– औद्योगिक क्रांति से प्रत्यक्ष रूप से आर्थिक साम्राज्यवाद का युग आरंभ हुआ। आर्थिक असुंतलन एक राष्ट्रीय समस्या के रूप में सामने खड़ा था। औद्योगीकृत राष्ट्र अविकसित राष्ट्रों का खुलकर शोषण करने लगे। विकसित और अविकसित देशों के बीच आर्थिक असमानता और अधिक बढ़ती चली गई। औद्योगिक विकास के लिए राज्यों की एक–दूसरे पर निर्भरता काफी हद तक बढ़ गई थी, जिसकी वजह से एक देश में होने वाली गतिविधियां दूसरे

देश को भी प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करने लगी थीं। परिणामस्वरूप अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर आर्थिक तेजी और मंदी का दौर शुरू हुआ।

टिप्पणी

बैंकिंग के रूप में नई मुद्रा प्रणाली का विकास– औद्योगिक क्रांति की बदौलत बदले आर्थिक परिवेश में बैंकिंग क्षेत्र की भूमिका और ज्यादा प्रभावशाली होने लगी। उद्योग एवं व्यापार में बैंक एवं मुद्रा की भूमिका महत्वपूर्ण हो गई। मुद्रा के क्षेत्र में विकास के साथ–साथ बैंकों के माध्यम से लेन–देन सुचारू हुआ, चेक और ड्राफ्ट का प्रयोग बढ़ गया। धातु की मुद्रा का स्थान अब बहुलता से कागजी मद्रा ने ले लिया था। बैंकिंग सेवाओं के मद्देनजर उधार और ऋण की सुविधा भी उद्योगपतियों को उपलब्ध थी।

लघु व कुटीर उद्योगों का पतन– औद्योगिक क्रांति के साथ आए इस नकारात्मक प्रभाव ने औपनिवेशिक देशों को बहुत ज्यादा नुकसान पहुंचाया। सरल शब्दों में समझा जाए तो औद्योगिक रूप से विकसित हो रहे देशों में इन उद्योगों से बेरोजगार हुए लोगों के लिए उद्योगों में रोजगार की संभावनाएं मौजूद थीं बल्कि अविकसित उपनिवेशों में मशीननिर्मित वस्तुओं के बाजार स्थापित हो जाने की वजह से कुटीर उद्योगों से बेरोजगार हुए लोगों के पास कोई वैकल्पिक रोजगार की व्यवस्था नहीं थी। इस प्रकार इन देशों में गरीबी और बेरोजगारी की समस्या पहले से अधिक बड़ी हो गई थी।

मुक्त व्यापार– 1813 के चार्टर एक्ट के तहत इंग्लैंड ने व्यापारिक एकाधिकार को समाप्त कर मुक्त व्यापार की नीति को आगे बढ़ाया। जिसके परिणामस्वरूप संरक्षणवाद की बजाय मुक्त व्यापार की नीति को अपनाया गया। यह भी औद्योगिक क्रांति की ही देन थी, जिसका औद्योगिक विकास की दिशा में अग्रसर अन्य देशों ने भी स्वागत किया।

सामाजिक प्रभाव

नवीन सामाजिक वर्गों की उत्पत्ति– औद्योगिक क्रांति से समाज में आई नई तरह की असमानता ने मुख्य रूप से तीन नए वर्गों को जन्म दिया। पहला पूंजीवादी वर्ग, जिसमें कारखानों के मालिक पूंजीपति और व्यापारी शामिल थे। दूसरा वर्ग मध्यम वर्ग था, जिसमें कारखानों के निरीक्षक, दलाल, ठेकेदार, इंजीनियर, लेखाकार, मुंशी और वैज्ञानिक आदि शामिल थे। तीसरा वर्ग श्रमिक वर्ग था जो अपने श्रम और कौशल से उत्पादन की प्रक्रिया में लगे रहते थे। जाहिर सी बात है कि इन वर्गों ने समाज में असंतुलन पैदा किया। धन और संसाधनों पर काबिज पूंजीपति वर्ग आर्थिक क्षेत्र में ही नहीं बल्कि राजनीतिक क्षेत्र में भी प्रभावी हो रहा था। ब्रिटिश संसद में भी उस काल में पूंजीपतियों का ही वर्चस्व था। इसके अलावा अति महत्वाकांक्षी मध्यम वर्ग बुहआयामी गतिविधियों और अपनी कार्यकुशलता से आगे बढ़ रहा था। उस वक्त पर मध्यम वर्ग ही वह वर्ग था जिसने श्रमिक वर्ग को साथ लेकर उच्च वर्ग को नियंत्रित करने के कई प्रयास किए। 1832 के एक्ट के साथ ही बुर्जुआ वर्ग की समृद्धि का मार्ग प्रशस्त हुआ। जिसके बाद 19वीं सदी बुर्जुआ युग के नाम से ही जानी जाती है। श्रमिक वर्ग की स्थिति अब पहले से भी खराब थी। कारखानों में कम वेतन पर श्रमिक प्रायः 12 से 15 घंटे काम करने को बाध्य था। फलस्वरूप उसका शोषण बढ़ता गया। कारखानों में मूलभूत सुविधाओं के साथ ही साफ हवा और प्राकृतिक रोशनी की कमी, आवास, शिक्षा,

भोजन आदि का उचित प्रबंध नहीं होने के कारण उनका जीवन दयनीय होने लगा था। श्रमिकों का असंतोष उनका रोष बनकर फूटने लगा और श्रमिक आंदोलनों को जन्म दिया। उन आंदोलनों ने समाज में तनाव पैदा करना शुरू कर दिया।

टिप्पणी

जनसंख्या वृद्धि– कृषि क्षेत्र में तकनीकी प्रयोग ने खाद्यान्न उत्पादन को बढ़ाने में मदद की और भोजन की आवश्यकताओं की पूर्ति करना पहले से आसान हुआ। दूसरी तरफ परिवहन के विकसित साधनों के माध्यम से मांग वाले क्षेत्रों में उसके अनुसार खाद्यान्न की पूर्ति कराकर भोजन की आवश्यकता को पूरा किया जाना संभव हुआ। बेहतर पोषण और उन्नत स्वास्थ्य एवं औषधि विज्ञान की वजह से नवजात एवं लोगों की औसत उम्र में वृद्धि हुई। परिणामस्वरूप मृत्यु दर में कमी आने से जनसंख्या वृद्धि को बल मिला और यह सब संभव हो पाया औद्योगिक क्रांति के चलते तकनीकी विज्ञान एवं तकनीक में हुई उन्नति की वजह से।

जीवनशैली में गिरावट– अत्यधिक जनसंख्या के एक प्रकार के काम में लगे रहने की वजह से औद्योगिक केन्द्रों के आस–पास झुग्गी–झोपड़ियों का विस्तार होने लगा, जहां मूल–भूत सुविधाओं के अभाव में गंदगी रहती थी। शहरों में जनसंख्या विस्फोट की वजह से निचले तबके यानी मजदूर वर्ग के पास आवास, भोजन, पेयजल एवं शौचालय आदि का सदा अभाव रहा। इन सबके परिणामस्वरूप महामारी और अन्य प्रकार की जीवनशैली संबंधी बीमारियों का खतरा भी होने लगा और श्रमिक वर्ग का स्वास्थ्य भी प्रभावित होने लगा।

अन्य सामाजिक परिवर्तन– अन्य सामाजिक परिवर्तनों में महिला शक्ति के जागृत होने से लेकर बाल श्रम की समस्या के सिर उठाने तक की बात की जा सकती है। श्रम की कमी ने स्त्रियों को भी कामगार वर्ग में भागीदार बनाया, यही वजह रही कि बच्चों से उनका बचपन भी छिन गया और वे भी कम उम्र में श्रम शक्ति का हिस्सा बनने लगे। सांस्कृतिक परिवर्तनों में शिक्षा के क्षेत्र में अब रोजगारपरक शिक्षा एवं प्रशिक्षण का चलन बढ़ गया था। लोगों का रहन–सहन, मनोरंजन के साधन, धार्मिक मान्यताओं समेत कला–साहित्य के क्षेत्र में भी परिवर्तन देखे गए। इस प्रकार से स्पष्ट है कि औद्योगिक क्रांति को भले ही अर्थव्यवस्था को बदलने के कारक के रूप में देखा जाए परंतु इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि कई प्रकार के सामाजिक परिवर्तनों के केंद्र में भी क्रांति और उससे उत्पन्न परिस्थितियां थीं।

राजनीतिक प्रभाव

विचारधाराओं का जन्म– ये औद्योगिक क्रांति की वजह से ही संभव हो पाया कि पूंजीपति अपना मुनाफा और बढ़ाने के लिए श्रमिकों का शोषण करने में भी नहीं चूक रहे थे। औद्योगिक क्रांति से श्रमजीवियों की दशा शोचनीय होती जा रही थी, तो वहीं पूंजीपतियों की दशा में दिनोंदिन उन्नति होती गई। फलस्वरूप कई विचारकों ने इस दिशा में अपने विचार मुखरता से प्रकट करना शुरू कर दिया। मजदूरों की दशा में सुधार लाने के लिए एक नई विचारधारा का खाका प्रस्तुत हुआ जिसे समाजवाद की विचारधारा के रूप में जाना गया। इन विचारकों में ब्रिटेन के उद्योगपति रॉबर्ट ओवेन, फ्रांस के सेंट साइमन और लुई ब्लां आदि का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। इनके अनुसार उत्पादन के साधनों का एकाधिकार समाप्त होना चाहिए अर्थात किसी एक व्यक्ति के पास उत्पादन के साधनों का अधिकार नहीं होना चाहिए बल्कि पूरे समाज का

टिप्पणी

इन पर अधिकार होना चाहिए। इन विचारों को वैज्ञानिक रूप से पेश करने का श्रेय कार्ल मार्क्स एवं एंजेल्स को जाता है, जिन्होंने 1848 ई. में अपनी एक रचना 'कम्यूनिस्ट मेनिफेस्टो' के माध्यम से इसका विस्तारित रूप समाज के सामने पेश किया। बकौल मार्क्स औद्योगिक श्रमिक 'सर्वहारा' संज्ञा पाते हैं जिनके पास खोने के लिए अपने पांव की बेड़ियों के अलावा और कुछ नहीं था और जीतने के लिए पूरा संसार उपलब्ध था।

उपयोगितावाद, स्वच्छंदतावाद आदि कुछ और अन्य वैचारिक अवधारणाएं हैं जिनकी उत्पत्ति भी औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप ही हुई थी। इसके अलावा वैश्वीकरण, उपभोक्तावाद और ग्लोबल वार्मिंग जैसी विचारधाराएं भी औद्योगिक क्रांति की वजह से ही अस्तित्व में आए।

कहा जा सकता है कि औद्योगिक क्रांति ने कई बदलावों के साथ समाज को गहराई से प्रभावित करते हुए एक नई अर्थव्यवस्था के साथ एक नए समाज की ही रचना कर डाली। जिसके परिणामस्वरूप राजनीतिक, वैचारिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक आदि लगभग हर क्षेत्र में परिवर्तन को देखा गया। इसी परिवर्तन को 'क्रांति' का नाम दिया गया क्योंकि यह बदलाव केवल आर्थिक समाज तक ही सीमित न रहकर विभिन्न क्षेत्रों में प्रमुखता से देखा गया।

मानवीय संवेदनाओं का अधोगम– जिन श्रमिकों की मेहनत से पूंजीपति दिनोंदिन धनवान हो रहे थे, उन श्रमिकों से मालिक की न तो सीधी पहचान थी न ही उनके हित–अहित से कोई सीधा वास्ता। ऐसा देखा गया कि भावनात्मक मानवीय संबंधों का स्थान अब आर्थिक संबंधों ने ले लिया था। जिन मशीनों और तकनीकों के बल पर उद्योग फल–फूल रहे थे उन्होंने मानव को भी एक मशीन बना दिया था। मानव मानव के बीच की मानवीय संवेदना क्षीण होती चली गई और मानव का संबंध मशीनों से ज्यादा गहरा जुड़ने लगा। फलतः संवेदनशीलता, मानवीय मूल्यों और मानवीय संबंध नकारात्मक रूप से प्रभावित होते चले गए। इस पतन का प्रत्यक्ष रूप संयुक्त परिवार प्रथा के महत्व के कम हो जाने के रूप में देखा जा सकता है। कृषि प्रधान व्यवस्था में संयुक्त परिवार की प्रथा स्वतः ही चली आ रही थी जो गांव से शहर की ओर पलायन और वहां मूल–भूत सुविधाओं की कमी की वजह से टूटती चली जा रही थी। व्यक्ति घर से दूर अकेले या फिर सीमित पारिवारिक सदस्यों के साथ शहर में बसने को मजबूर था।

नैतिक मूल्यों का ह्रास– अत्यधिक तनाव एवं काम की वजह से थकान मिटाने के लिए श्रमिकों के बीच कई प्रकार के नशे का चलन तेजी से बढ़ा। भौतिक प्रगति से शराब और जुए का प्रचार भी बढ़ा। इतना ही नहीं पारिवारिक जीवन से वंचित मजदूरों की वजह से औद्योगिक केंद्रों पर वेश्यावृत्ति फैलने लगी। उपभोक्तावादी प्रवृत्ति बढ़ने से भ्रष्टाचार एवं अपराधों को बढ़ावा मिला।

पूंजीवादी व्यवस्था

पूंजीवादी व्यवस्था का उदय कैसे, किन परिस्थितियों में और कब हुआ इसकी चर्चा करने से पहले जरूरी है कि पूंजीवाद है क्या इसे समझा जाए। पूंजीवाद एक आर्थिक प्रणाली है। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में उत्पादन या निर्माण के साधन मुख्य रूप से निजी अधिकार में होते हैं। इस व्यवस्था को चलाने या नियंत्रित करने में सरकार की कोई सक्रिय भूमिका नहीं होती। कहा जा सकता है कि पूंजीवादी तंत्र लाभ के लिए चलाया

टिप्पणी

जाता है, जिसमें निवेश, वितरण और मूल्य का निर्धारण मुक्त बाजार में प्रतिस्पर्धा से पाया जाता है। पूंजीवादी व्यवस्था में, उत्पादन के साधन के मालिकों के पास उत्पादन कर, उत्पादित माल बेचकर लाभ कमाने का अवसर प्राप्त होता है। पूंजीवाद को मुख्यतः उस आर्थिक व्यवस्था के रूप में देखा जाता है जिसमें पूंजी के निजी स्वामित्व से लेकर उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत नियंत्रण और खुली औद्योगिक प्रतियोगिता होती है। हालांकि पूंजीवाद को कोई निश्चित परिभाषा देकर प्रस्तुत नहीं किया जा सकता क्योंकि देश, काल और परिस्थितियों के अनुसार इसे अलग–अलग रूपों में पाया गया है। फिर भी कुछ अर्थशास्त्रियों ने अपने शब्दों में पूंजीवाद को परिभाषित करने का प्रयास किया है।

बेन्हम के अनुसार– "पूंजीवादी अर्थव्यवस्था आर्थिक तानाशाही की प्रतिरोधी है। उत्पादन के क्षेत्र में कोई केन्द्रीय आयोजन नहीं होता। राज्य के द्वारा लगाए गए प्रतिबंधों को छोड़कर प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छा के अनुसार काम करने के लिए स्वतंत्र है।"

लॉक्स एवं हूट के अनुसार– "पूंजीवाद आर्थिक व्यवस्था की एक ऐसी प्रणाली है जिसमें व्यक्तिगत स्वामित्व पाया जाता है और मानवकृत एवं प्राकृतिक साधनों को व्यक्तिगत लाभ के लिए प्रयोग किया जाता है।"

जी.डी.एच. कोल के अनुसार– "पूंजीवाद लाभ के लिए उत्पादन की वह प्रणाली है जिसके अन्तर्गत उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व होता है तथा उत्पादन मुख्य रूप से मजदूरी के श्रमिकों द्वारा किया जाता है तथा इस उत्पादन एवं उसके लाभ पर पूंजीपति स्वामियों का अधिकार होता है।"

रसेल के अनुसार– "पूंजीवादी विचारधारा के प्रमुख तत्व के रूप में व्यक्तिवाद और स्वतंत्रता की एक विशिष्ट अवधारणा सदैव रही है। व्यक्तिवाद और स्वतंत्रता की पूंजीवादी अवधारणा आपस में संलग्न है।"

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि पूंजीवाद एक ऐसी प्रणाली को दिखाता है जिसमें अधिकांश श्रमिक उत्पादन के साधनों पर अधिकार से वंचित कर दिए जाते हैं और केवल मजदूर बनकर ही अपना जीवन गुजार देते हैं।

आर्थिक विकास के मद्देनजर दुनिया के अधिकतम देश लोकतंत्र और पूंजीवाद दोनों को साथ लेकर चलने की कोशिश कर रहे हैं। भारत को पूंजीवाद और समाजवाद दोनों के अच्छे सिद्धांतों की मिली–जुली अर्थव्यवस्था माना जा सकता है।

पूंजीवाद की उत्पत्ति

पूंजीवाद ने अपने जन्म के लिए सामंतवादी किले के ढह चुके खंडहरों के अवशेषों का सहारा लिया है। ज्यों–ज्यों पूंजीवाद विकास की सीढ़ियां चढ़ता गया इसने सामंतवाद को भीतर से खोखला कर दिया और एक नए प्रकार के आर्थिक और सामाजिक संबंधों के लिए आधार तैयार किया। सामंती व्यवस्था जहां मुख्य रूप से भू–संपदा पर आधारित एक आत्म–निर्भर व्यवस्था थी। इधर व्यापार में विकास के कारण व्यापारी वर्ग की उत्पत्ति हुई, जो समृद्ध था एवं नई–नई तकनीक के आविष्कारों से उत्पादन के क्षेत्र में मजबूती से अपनी पैठ बनाता चला जा रहा था। पूंजीवाद के विकास के साथ ही मुद्रा के लेन–देन, व्यापारिक केंद्रों–नगरों का विकास, कारखानों का विकास, किसानों का

टिप्पणी

नगरों की ओर पलायन, उत्पादन में अत्यधिक वृद्धि आदि ने सामंती अर्थव्यवस्था को जड़ से ही उखाड़ फेंका। सामंती व्यवस्था अब नए समाज की जरूरतों को पूरा करने में असमर्थ थी इसलिए औद्योगिक क्रांति ने उसे धीरे–धीरे अर्थहीन कर दिया। समाज का वैज्ञानिक सिद्धांत कहता है कि उत्पादन के साधनों की बागडोर जिनके हाथ में होती है, वही सत्ता में रहता है और अपने ही वर्ग के लाभ में सत्ता का प्रयोग भी करता है। इस प्रकार सामंतवाद और पूंजीवाद दोनों में एक समानता है कि, दोनों ही उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व और साधनविहीन वर्ग के शोषण पर आधारित हैं।

पूंजीवाद की उत्पत्ति के निश्चित कालखंड पर कई प्रकार के मत हैं। कुछ आर्थिक इतिहासकारों की नजर में इसकी शुरुआत 13वीं शताब्दी में तो कुछ के अनुसार इसका जन्म 14वीं शताब्दी के उत्तरार्ध और 15वीं शताब्दी की शुरुआत में हुई थी लेकिन तब से पूंजीवाद लगातार बदल रहा है। इन परिवर्तनों को अगर चार अलग–अलग चरणों में बांटा जाए तो पूंजीवाद अब अपने तीसरे चरण में है। 15वीं से 18वीं शताब्दी तक के पूंजीवादी युग को आर्थिक इतिहासकारों द्वारा वाणिज्यिक पूंजीवाद के रूप में चिह्नित किया गया है। इसे एक सामाजिक और आर्थिक प्रणाली के रूप में पूंजीवाद की पहली अवधि का उल्लेख करने के लिए उपयोग किया गया। इस पूंजीवादी व्यवस्था को व्यापार की एक प्राकृतिक निरंतरता के रूप में देखा जा सकता है। इसकी उत्पत्ति तब की मानी जाती है जब लोगों की प्राकृतिक उद्यमशीलता की भावना को शहरीकरण के कारण सामंतवाद के बंधनों से मुक्त किया जाता है। इतालवी व्यापारियों द्वारा विकसित एक व्यापारिक प्रक्रिया, जिसमें स्थानीय लोगों की बजाय उन्होंने अन्य बाजारों में अपना माल बेचकर लाभ कमाने की शरुआत की। हालांकि व्यापारिक पूंजीवाद का यह स्वरूप सीमित था जब तक कि बढ़ती यूरोपीय शक्तियों ने लंबी दूरी के व्यापार से लाभ लेना शुरू नहीं कर दिया था। यह समय औपनिवेशिक विस्तार की प्रक्रिया का था।

दूसरा चरण औद्योगिक पूंजीवाद (18वीं से 19वीं शताब्दी) के रूप में प्रारंभ हुआ, जिसकी शुरुआत इंग्लैंड की औद्योगिक क्रांति के साथ होती है। इस पूंजीवाद में कारखानों और मशीनों के इस्तेमाल की वजह से उत्पादन मूलतः व्यापार और लाभ कमाने की दृष्टि से ही किया जाने लगा। पूंजी के अधिकाधिक संचय और निवेश के कारण लाभ कमाने की प्रवृत्ति भी पहले से ज्यादा प्रबल थी। औपनिवेशिक विस्तार में बाजार का विस्तार भी फलतः सामान्य व्यापार अब बड़े उद्योग का रूप ले चुके थे। श्रम का स्थान मशीनों ने ले लिया था। अर्थव्यवस्था में पहले के मुकाबले सरकारी हस्तक्षेप कम था, जिससे उद्योगों को और अधिक स्वतंत्रता मिली। औद्योगिक पूंजीवाद के बाद वित्तीय पूंजीवाद ने स्वरूप लेना प्रारंभ किया। 20वीं शताब्दी के मध्य में पूंजीवाद के विकास की प्रक्रिया में तीसरे चरण के रूप में इसकी शुरुआत हुई। इस चरण के दौरान वित्त संबंधी सेवाओं और क्रिया–कलापों ने बाजार और उद्योग को नियंत्रित करना शुरू कर दिया। निर्यात–आयात फर्मों, विनिमय बैंकों, बीमा एवं मैनेजिंग एजेंसी आदि फर्मों आदि का नियंत्रण उद्योग एवं व्यापार पर बढ़ गया था। इसे एकाधिकार पूंजीवाद के रूप में भी जाना जाता है, जिसका सबसे महत्वपूर्ण परिणाम पूंजी के केंद्रीयकरण के माध्यम से अर्थव्यवस्था की त्वरित वृद्धि है। केंद्रीयकरण और पूंजी के विलय की इस प्रक्रिया ने 20वीं सदी के उत्तरार्ध और 21वीं सदी की शुरुआत में एकाधिकारवादी अंतर्राष्ट्रीय निगमों को जन्म दिया। हाल के वर्षों में इस प्रभुत्व ने उत्पादन गतिविधियों

की वृद्धि को छोड़कर, सट्टा, हवाला और वित्तीय पूंजी के विकास में ज्यादा योगदान दिया है।

टिप्पणी

पूंजीवादी व्यवस्था की प्रकृति

पूंजीवादी व्यवस्था की प्रकृति को इस प्रकार समझा जा सकता है–

निजी संपत्ति अर्जित करने का अधिकार– व्यक्तिगत संपत्ति अर्जित कर उनका संचय करना पूंजीवाद का आधारभूत नियम है। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में व्यक्ति स्वयं अपनी संपत्ति के मालिक होते हैं। इसमें उपकरण, भूमि, मशीनों और कारखानों जैसे निर्माण के सभी संसाधनों का स्वामित्व निजी व्यक्तिगत हाथों में होता है। पूंजीवादी व्यवस्था में हर व्यक्ति निजी सम्पत्ति एकत्र करने और उसे अपनी इच्छानुसार प्रयोग करने का अधिकारी होता है। मृत्योपरांत उस संपत्ति को उत्तराधिकारियों को हस्तांतरित करने के लिए भी वह स्वतंत्र होता है। पूंजीवाद में निजी सम्पत्ति के अधिकार की सुरक्षा का दायित्व सरकार पर होता है ।

सरकारी हस्तक्षेप रहित मुक्त व्यापार नीति– पूंजीवाद के प्रमुख लक्षणों में से सबसे महत्वपूर्ण यह है कि इसका संचालन मुक्त व्यापार और सरकारी हस्तक्षेप के न होने पर निर्भर करता है। उद्यमियों के आर्थिक कार्यों में सरकारी हस्तक्षेप नहीं होता एवं आर्थिक इकाइयों को उनके निजी क्रिया–कलापों पर इस धारणा के साथ छोड़ दिया जाता है कि व्यक्ति अपने हितों की सुरक्षा करने में खुद सक्षम है। कीमत संयंत्र (Price Mechanism) के नियमों पर आधारित पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था में आर्थिक कार्यों को सफलतापूर्वक अंजाम देने के लिए यह जरूरी है कि पूंजीपतियों का उत्पादन व विपणन संबंधी क्रिया–कलापों में कोई सरकारी हस्तक्षेप न हो और उनकी गतिविधियों को पूरी तरह से स्वतंत्र छोड़ दिया जाए। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में कंपनियां और उद्योग बाजार की मांग और आपूर्ति के आधार पर उत्पादों की कीमतें तय करते हैं। मूल्य का निर्धारण किसी भी प्रकार के बाहरी दखल जैसे सरकारी और अन्य बाहरी कारकों से मुक्त होता है। दूसरे शब्दों में पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था व्यक्तियों को आर्थिक स्वतंत्रता प्रदान करती है जो किसी अन्य आर्थिक प्रणाली में संभव नहीं है। पूंजीवादी आर्थिक संरचना में बाजार कीमत का निर्धारण मांग और पूर्ति के दो प्रतिस्पर्धी बलों के द्वारा होता है।

व्यक्तिगत हित को सर्वप्रधान मान्यता– हर आर्थिक व्यवस्था एक मनोवैज्ञानिक आधार होता है। पूंजीवाद में उद्यमी को उसकी इच्छानुसार काम करने की आजादी होती है। व्यक्तिगत हित एवं लाभ की सर्वोपरि मान्यता ही व्यक्ति को पूंजीवादी प्रणाली में आर्थिक क्रियाकलापों को करने के लिए प्रेरित करते हैं। पूंजीवादी व्यवस्था किसी भी व्यक्ति को सबसे अधिक व्यक्तिगत लाभ वाली आर्थिक क्रिया को चुनने का अवसर प्रदान करती है। ताकि उसके निजी हित की पूर्ति अधिकतम सीमा तक हो सके। पूंजीवादी व्यवस्था में उद्योगों का मुख्य उद्देश्य अधिकतम लाभ कमाना होता है। इस कारण उद्योग सर्वोत्तम वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन करने के लिए प्रोत्साहित होते हैं।

उपभोक्ता की प्रधानता– पूंजीवादी आर्थिक प्रणाली उपभोक्ता की प्रभुता को स्वीकार करती है अर्थात पूंजीवादी व्यवस्था में उपभोक्ता ही प्रधान माना गया है। मुक्त व्यापार के साथ–साथ पूंजीवादी व्यवस्था उपभोक्ता को अपनी पसंद के उत्पाद चुनने की भी पूरी आजादी देती है। इस प्रणाली के अंतर्गत उपभोक्ता किसी भी वस्तु विशेष के चुनाव के लिए प्रतिबंधित नहीं होता है, जिसकी वजह से उपभोक्ता को अपने हितों की संतुष्टि के

टिप्पणी

लिए समुचित अवसर मिलता है। यही वजह है कि पूंजीवादी बाजार व्यवस्था में ग्राहकों की मांग के आधार पर ही उत्पादों का मूल्य निर्धारण किया जाता है। पूंजीवादी व्यवस्था और प्रतिस्पर्धा एक–दूसरे के पर्यायवाची हैं, जिसके कारण उपभोक्ता को सर्वोत्तम मूल्य पर सर्वोत्तम उत्पाद और सेवाओं का लाभ मिलता है।

निवेश एवं संचय की स्वतंत्रता– पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था में निजी संपत्ति के अधिकार एवं उत्तराधिकार के नियम के कारण संचय करने की प्रेरणा को प्रोत्साहन मिलता है, जिससे विनियोग एवं पूंजी निर्माण की दर में बढ़ोत्तरी होती है एवं उत्पादन प्रक्रिया को भी प्रोत्साहन मिलता है। उत्पादक के अलावा इस व्यवस्था के अंतर्गत उपभोक्ता को भी चुनाव की स्वतंत्रता होती है अतः वह भी अपनी आय का कोई भी हिस्सा बचत करने के लिए स्वतंत्र होता है।

संसाधनों की उत्पादकता में वृद्धि– पूंजीवादी व्यवस्था की अन्य विशेषताओं जैसे व्यक्तिगत लाभ को अधिकतम करने की सोच, आर्थिक स्वतंत्रता एवं स्पर्धा, सामाजिक संसाधनों का अनुकूलतम प्रयोग करवा पाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। संसाधनों की अधिक से अधिक उत्पादकता निर्धारित करने में उत्पादकों एवं वितरकों में बाजार पर नियंत्रण करने के लिए प्रतिस्पर्धा होती है, जिसके कारण हर उत्पादक अपनी उत्पादक क्षमता को बढ़ाने के लिए हमेशा सक्रिय रहता है। निजी लाभ को अधिक से अधिक बनाने के उद्देश्य से उद्यमी उत्पादन के साधनों का अधिकतम क्षमता के साथ उपयोग करने की कोशिश के साथ आर्थिक क्रियाएं निर्धारित करता है। भले ही स्वयं हित से प्रेरित लेकिन उत्पादक का यह प्रयास पूंजीवादी आर्थिक प्रणाली में उत्पादन एवं कार्यक्षमता को बढ़ाने के लिए एक सबल प्रोत्साहन बन जाता है।

तकनीकी विकास को प्रोत्साहन– पूंजीवादी आर्थिक प्रणाली के उद्‌भव से लेकर उसके विकास तक में तकनीकी विकास का योगदान विशेष स्थान रखता है। इस प्रणाली में उत्पादक अधिकतम लाभ के उद्देश्य से हमेशा नवीन उत्पादन तकनीकों को विकसित और प्रयोग करने के लिए प्रयासरत रहता है। इस प्रकार आविष्कार और अन्वेषण उसकी आर्थिक क्रियाओं का महत्वपूर्ण हिस्सा हो जाते हैं। हर उत्पादक खुद को पूंजीवादी व्यवस्था के मुकाबले में आगे रखने के लिए तकनीकी विकास एवं उत्पादन प्रक्रिया में उसके प्रयोग का ही सहारा लेता है। इसका सीधा सा उद्देश्य अन्य उत्पादों की तुलना में बाजार पर अपना अधिकार करना होता है।

योग्यता के अनुसार लाभ एवं हानि– अधिकाधिक उत्पादन के मूलमंत्र से प्रेरित पूंजीवादी व्यवस्था में योग्यता एवं कार्यकुशलता की अनदेखी संभव नहीं है। उत्पादन प्रक्रिया को अधिक लाभप्रद बनाने हेतु श्रमिकों को अतिरिक्त प्रेरणाप्रद लाभ (इंसेंटिव) देने का चलन, श्रमिकों को अपनी योग्यता, दक्षता एवं कार्यकुशलता बढ़ाने के लिए प्रोत्साहित करता रहता है। योग्य एवं कार्यकुशल श्रमिक को अधिक पारिश्रमिक देकर पुरस्कृत करने का प्रावधान पूंजीवादी आर्थिक प्रणाली में आसानी से अमल में लाया जा सकता है।

अर्थव्यवस्था में विकास की दर को प्रोत्साहन– पूंजीवादी आर्थिक प्रणाली में बचत, विनियोग एवं पूंजी निर्माण अधिक होने की वजह से विकास की दर में तेजी से वृद्धि संभव है। पूंजीपति वर्ग अपने लाभ को ज्यादा से ज्यादा करने की कोशिश में पूरी दक्षता एवं कुशलता के साथ उत्पादक कार्यों में संलिप्त होता है। श्रमिक वर्ग भी अधिक

टिप्पणी

मेहनताना पाने की प्रेरणा के कारण अपनी कार्यकुशलता में लगातार वृद्धि करता है। तकनीकी सुधार एवं अन्वेषण और श्रम–विभाजन आदि के कारण पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था में उत्पादकता में लगातार बढ़ोत्तरी होती रहती है, जिससे अर्थव्यवस्था में विकास की दर को तेजी मिलती है।

लोकतांत्रिक अर्थव्यवस्था को मजबूती– उपभोक्ता की प्रधानता के चलते पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था अर्थव्यवस्था को लोकतांत्रिक रूप से मजबूती प्रदान करती है। उपभोक्ताओं की इच्छाओं के बहुमत के आधार पर उत्पादन संबंधी आर्थिक क्रियाएं नियंत्रित एवं संचालित होती हैं। कीमतों का निर्धारण भी उपभोक्ताओं के बहुमत का सम्मान करते हुए किया जाता है। परिणामस्वरूप लोकतांत्रिक शक्तियों के मजबूत होने के साथ–साथ पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का संस्थागत ढांचा भी अर्थव्यवस्था में लोकतांत्रिक स्वरूप की स्थापना करता है।

पूंजीवादी प्रणाली के दोष

उपरोक्त तमाम विशेषताओं और अच्छाइयों के बावजूद पूंजीवादी प्रणाली दोष रहित कभी नहीं थी। अतः पूंजीवादिता के दोषों को निम्नलिखित कारणों के साथ स्पष्ट किया जा सकता हैः

1. **सम्पत्ति एवं आय की असमानताएं** : पूंजीवादी आर्थिक प्रणाली में आय की असमानताओं के कारण देश की संपत्ति और पूंजी का केन्द्रीयकरण कुछ विशेष लोगों के हाथों में ही हो जाता है। आय और सम्पत्ति का असमान वितरण होने की वजह से समाज में सामाजिक एवं राजनीतिक असमानताएं जन्म लेती हैं, जिससे गरीब और अमीर के बीच की खाई और गहरी होती चली जाती है। आय की यह असमानता ही समाज में उत्पन्न असंतुलन की वजह बनती है और समाज दो वर्गों में बंट जाता है। सम्पन्न और विपन्न के दो वर्गों में बंटे समाज में वर्ग–संघर्ष उत्पन्न होता है जो किसी भी समाज के विकास के लिए नुकसानदायक है। आय की असमानताओं के कारण एवं उत्पत्ति के संसाधनों पर कुछ ही व्यक्तियों का अधिकार हो जाने के कारण अमीर और अधिक अमीर और गरीब और अधिक गरीब होता चला जाता है, जिसके कारण समाज के लाभ के अवसर सम्पन्न वर्ग के हाथों में ही रह जाते हैं। परिणामस्वरूप अपेक्षाकृत कम क्षमता वाले लेकिन साधन सम्पन्न लोग उत्पादन क्रियाओं पर आधिपत्य स्थापित कर लेते हैं और अपेक्षाकृत अधिक उत्पादन क्षमता वाले श्रमिक साधनों के अभाव में उत्पादन क्रिया में स्वतंत्र रूप से भाग नहीं ले पाते हैं और पूंजीपतियों के शोषण का शिकार होते हैं। आय की यह असमानता पूंजीवादी प्रणाली के निजी सम्पत्ति के अधिकार के कारण उत्पन्न होती है। उत्तराधिकार का नियम ही समाज को वर्गों में बांटता है। उत्तराधिकार का नियम वंशानुगत सम्पत्ति के हस्तांतरण को सम्भव बनाता है, जिसके कारण अमीर और गरीब के बीच की दूरी वंशानुगत आधार पर बढ़ती चली जाती है।
2. **वर्ग–संघर्ष की स्थिति में सामाजिक अस्थिरता** : पूंजीवादी आर्थिक आधार पर समाज का दो वर्गों में विभाजन होने के कारण सामाजिक शोषण पैदा होता है, जो वर्ग संघर्ष की राह पर समाज को ले जाता है। पूंजीपतियों की लाभ में लगातार वृद्धि करने की लालसा उत्पादन प्रक्रिया को पूंजी पर निर्भर बना देती

टिप्पणी

है। श्रमिकों का स्थान पूंजीगत उपकरण ले लेते हैं, जिससे लोगों की बढ़ती बेरोजगारी के कारण उनकी आर्थिक स्थिति और दयनीय हो जाती है। श्रमिकों का शोषण एवं असुरक्षा की भावना श्रमिकों को श्रम संघ के रूप में संगठित करती है, जिससे समाज की उत्पादकता कम होती है साथ ही सामाजिक अशान्ति भी पैदा होती है।

3. **एकाधिकार की प्रवृत्ति का जन्म** : उत्पादकों के बीच होने वाली गलाकाट प्रतियोगिता का परिणाम है कि पूंजीपतियों में एकाधिकार की प्रवृत्ति बढ़ती है, जिसमें प्रत्येक उत्पादक अपने प्रतिद्वंद्वी को उत्पादन प्रक्रिया से बाहर निकालने एवं बाजार पर अपना आधिपत्य जमाने के लिए प्रयासरत रहता है। इस प्रवृत्ति के चलते अर्थव्यवस्था में कई अवांछनीय परिणाम सामने आते हैं, जिससे उपभोक्ताओं की अधिकतम संतुष्टि को सबसे पहले नुकसान होता है। प्रतियोगिता के कारण बाजार में वस्तुओं की कमी जान–बूझकर की जाती है, ताकि कीमतों में वृद्धि करके एकाधिकारी लाभ को बढ़ाया जा सके।

4. **अनियोजित उत्पादन** : परस्पर प्रतिस्पर्धा के कारण प्रत्येक उत्पादक अधिक से अधिक लाभ अर्जित करने का प्रयास करता है, जिसके कारण अर्थव्यवस्था में अति–उत्पादन की स्थिति पैदा होती है। केन्द्रीकृत नियोजन की कमी की वजह से पूंजीवादी प्रणाली में उत्पादन अनियोजित रहता है।

5. **उत्पत्ति के साधनों का अपव्यय** : पूंजीवादी व्यवस्था प्रतियोगी व्यवसायी प्रतियोगिता के कारण वस्तुओं का अनावश्यक उत्पादन करती है। इसके अलावा उत्पत्ति के साधनों का एक बड़ा भाग विज्ञापन एवं प्रचार में व्यय किया जाता है। इन सभी कारणों की वजह से अति उत्पादन की समस्या उत्पन्न होती है और उत्पत्ति के साधनों का अनावश्यक अपव्यय होता है।

6. **सामाजिक कल्याण की अनुपस्थिति** : पूंजीवादी आर्थिक प्रणाली में व्यक्तिगत हित एवं कल्याण की भावना सबसे ऊपर रखी जाती है तथा सामाजिक कल्याण की भावना पूरी तरह से नदारद रहती है। इस व्यवस्था में लाभ के उद्देश्य पर ही उत्पादक वर्ग काम करता है। इस कारण से पूंजीवादी व्यवस्था जन–कल्याण एवं आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन की उपेक्षा करता है। अधिकतम व्यक्तिगत लाभ की भावना के कारण ही समाज में श्रमिक वर्ग का शोषण होता है और जन कल्याण का उद्देश्य पीछे रह जाता है।

7. **उत्तराधिकारी प्रथा के कारण सामाजिक उत्पादकता में कमी** : पूंजीवादी आर्थिक प्रणाली में उत्तराधिकार के नियम के कारण संचित आय एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक स्थानांतरित होती रहती है। सम्पन्न वर्ग का उत्तराधिकारी बिना किसी उत्पादकता, त्याग और परिश्रम एवं कोशिश के एक बड़ी सम्पत्ति हासिल कर लेता है, जिससे समाज में आय की असमानताएं बढ़ती हैं, साथ ही सम्पन्न वर्ग परजीवी होता चला जाता है। सामाजिक परजीविता की यह बुराई अगली पीढ़ी को आलसी और विलासी बना देती है।

8. **पूर्ण रोजगार प्राप्त करने में असफल** : स्पर्धात्मक आर्थिक प्रणाली में पूर्ण रोजगार स्तर को प्राप्त न होने के कारण प्राकृतिक एवं मानवीय संसाधनों का पूरा प्रयोग नहीं हो पाता है जिसके कारण समाज में संसाधनों का अपव्यय होता

टिप्पणी

है। 1930 की महामंदी के बाद प्रो.जे.एम. कीन्स ने अपने रोजगार सिद्धांत में यह स्पष्ट किया है कि संतुलन पूर्ण रोजगार के बिंदु पर नहीं मिलता, बल्कि पूर्ण रोजगार स्तर से पहले ही अर्थव्यवस्था संतुलन की दशा प्राप्त कर लेती है, जिसे प्रो. कीन्स ने पूर्ण रोजगार की पूर्व दशा कहा है। स्पर्धात्मक आर्थिक प्रणाली में यह मान लिया जाता है कि यह स्वयं संचालित होती है।

9. **व्यापार चक्रों की उपस्थिति :** पूंजीवादी आर्थिक प्रणाली में मांग एवं पूर्ति के बलों के स्वतंत्र काम करने के कारण समय–समय पर मांग एवं पूर्ति बलों में असंतुलन मौजूद रहते हैं। यही कारण है कि व्यापार चक्र की तेजी अर्थव्यवस्था में आर्थिक अस्थिरता बनाए रखते हैं। व्यापार चक्रों की तेजी और मंदी के काल तथा मुद्रा की स्फीति काल दोनों का ही समाज के विभिन्न वर्गों पर दुष्प्रभाव पड़ता है।

10. **बेरोजगारी का भय :** पूंजीवादी आर्थिक प्रणाली में अधिकाधिक लाभ की इच्छा में जब उद्यमी उत्पादन करते चले जाते हैं तब अति–उत्पादन की समस्या पैदा होती है जिसके कारण उद्यमी उत्पादन स्तर को सीमित करते हैं। परिणामस्वरूप कई श्रमिकों को कारखानों से निकाल दिया जाता है और वह कोई अन्य रोजगार की व्यवस्था न होने की स्थिति में गरीबी की समस्या पैदा हो जाती है। अतः यह स्पष्ट है कि पूंजीवादी आर्थिक प्रणाली में पूर्ण रोजगार की निश्चितता को अर्थव्यवस्था में लम्बे समय तक बनाए रखना संभव नहीं हो पाता।

अपनी प्रगति जांचिए

5. बुर्जुआ युग के नाम से कौन–सी सदी जानी जाती है?

   (क) 17वीं (ख) 18वीं

   (ग) 19वीं (घ) 20वीं

6. किस चार्टर एक्ट के तहत इंग्लैंड ने व्यापारिक एकाधिकार को समाप्त कर मुक्त व्यापार की नीति को आगे बढ़ाया?

   (क) 1813 (ख) 1832

   (ग) 1836 (घ) 1938

7. "पूंजीवादी अर्थव्यवस्था आर्थिक तानाशाही की प्रतिरोधी है और उत्पादन के क्षेत्र में कोई केंद्रीय आयोजन नहीं होता।" यह परिभाषा किसने दी है?

   (क) जी.डी.एच. (ख) रसेल

   (ग) बेन्हम (घ) लॉक्स एवं हूट

1.5 प्रबोधन (ज्ञानोदय) युग एवं इसके विचारात्मक प्रभाव

वैज्ञानिक आविष्कारों और अनुसंधानों के कारण न केवल विज्ञान के क्षेत्र में बल्कि राजनीति, धर्म और अर्थव्यवस्था, दर्शन, साहित्य आदि अनेक मानवीय क्षेत्रों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का उदय हुआ, इस वैज्ञानिक दृष्टिकोण के आधार पर विकसित हुए

टिप्पणी

दार्शनिक व वैचारिक क्रांति को प्रबोधन या ज्ञानोदय कहा गया। यूरोप में 1650 के दशक से लेकर 1780 के दशक तक की अवधि को प्रबोधन युग या ज्ञानोदय युग (Age of Enlightenment) कहते हैं। इस अवधि में पश्चिमी यूरोप के बौद्धिक वर्ग व समाज ने परम्परा से हटकर वैज्ञानिक विश्लेषणों पर आधारित तर्कों और सिद्धांतों की महत्ता पर जोर दिया। ज्ञानोदय ने चर्च एवं समाज में गहरी पैठ बना चुकी परंपरागत संस्थाओं को चुनौती दी। कोलमैन के विचारों में मानव जीवन पर पड़ने वाले प्रभावों और उसके स्वरूप के अनुसार 17वीं सदी को प्रबोधन का युग, 18वीं सदी को तर्क युग, 19वीं सदी को प्रगति–युग और 20वीं सदी को उत्कंठा का युग बताया है। समाजशास्त्र की उत्पत्ति में इस ज्ञानोदय काल का विशेष योगदान माना गया है। 17वीं से18वीं शताब्दी में हुए क्रांतिकारी परिवर्तनों को देखते हुए इस काल को प्रबोधन या विवेक का युग भी कहा गया है। हालांकि इसकी शुरुआत को लेकर इतिहासकारों में सदा ही मतभेद रहा है, मसलन फ्रांसीसी इतिहासकारों का मानना है कि परम्परागत रूप से प्रबोधन काल की शुरुआत 1715 ई. में लूई 14वें की मृत्यु के उपरांत या 1789 ई. में फ्रांसीसी क्रांति की शुरुआत के बाद हुई थी। वहीं कुछ आधुनिक इतिहासकार 1620 के दशक से ही प्रबोधन युग का प्रारंभ मानते हैं, जो कि वैज्ञानिक क्रांति की शुरुआत के समय से है। पुनर्जागरण, धर्मसुधार आंदोलन व वाणिज्यिक क्रांति ने इसका आधार तैयार किया फलस्वरूप पुनर्जागरण काल में विकसित हुई वैज्ञानिक चेतना ने तर्क और अन्वेषण की प्रवृत्ति को बल दिया, जिसने 18वीं शताब्दी में परिपक्व होकर एक बौद्धिक आंदोलन का रूप ले लिया। वैज्ञानिक चिंतन की इस विकसित अवस्था को प्रबोधन का नाम दिया गया। बकौल फ्रांसिस बेकन किसी भी चीज पर हुए विश्वास को मजबूती प्रदान करने के तीन रास्ते होते हैं, पहला अनुभव, दूसरा तर्क और तीसरा प्रमाण। इनमें सबसे अधिक प्रभावी तरीका प्रमाण है क्योंकि तर्क और अनुभव पर आधारित विश्वास स्थिर नहीं रहता जबकि प्रामाणिकता के आधार पर अर्जित विश्वास स्थिर व चिरायु होता है। प्रबोधनकालीन चिंतकों ने इस बात पर जोर दिया कि भौतिकवादी दुनिया एवं प्रकृति में होने वाली घटनाओं के पीछे अवश्य ही किसी अपरिवर्तनशील और प्राकृतिक नियम का योगदान रहता है। ज्ञानोदय युग के विचारकों की नजर में आलोचनात्मक खोज और व्यवस्थित प्रयोग पद्धति ही सत्य तक पहुंचने का सक्षम जरिया है। विचारकों ने इस काल में ज्ञान को प्राकृतिक विज्ञानों के साथ जोड़ने की भी बात कही है, क्योंकि प्रबोधन का युग अपने पूर्वगामी वैज्ञानिक क्रांति से काफी नजदीक से संबंधित है। प्रबोधन कालीन विचारकों में फ्रांस के मॉन्टेस्क्यू (1689–1755), वॉल्टेयर (1694–1778), दिदरो (1713–1784), रूसो (1712–1778), कांडिलैक (1714–1780), ब्रिटेन के डेविड ह्यूम (1711–1776) और एडम स्मिथ (1723–1790), जर्मनी के लेसिंग (1729–1781), इटली के गैम्बटिस्टा विंको (1668–1744) और पगानो (1748 –1799) आदि प्रमुख हैं।

प्रबोधन कालीन दार्शनिकों एवं विचारकों ने सबसे ज्यादा बल विकास, तर्क, सहिष्णुता और चर्च तथा राजतंत्र की कमियों को समाप्त करने पर दिया। हालांकि इन उद्देश्यों को पाने के सुझाए गए तरीकों के विचारों में भिन्नता पाई गई। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रभावित चिंतन ने इस युग के विचारों को परिवर्तित किया। पहले के मुकाबले अब धर्मनिरपेक्ष चिंतन और विवेकपूर्ण विश्लेषण को प्रोत्साहित किया जाने लगा। इस काल के लेखकों ने भी सामाजिक बुराइयों के खिलाफ खुलकर लिखना प्रारंभ कर दिया था। इस काल में आम जनता के विचारों में आए वैज्ञानिक परिवर्तनों

टिप्पणी

को देखते हुए इसे बौद्धिक क्रांति का नाम भी दिया गया। इस युग को ज्ञानोदय अथवा विवेक का युग आदि अन्य नामों से भी जाना जाता है। पुनर्जागरण तथा धर्म सुधार आंदोलन जैसी घटनाओं ने प्रबोधन के लिए आधार तैयार किया। इसकी प्रेरणास्वरूप फ्रांसीसी क्रांति, अमेरिकी क्रांति तथा नेपोलियन के सैनिक अभियान जैसी महत्वपूर्ण घटनाएं घटित हुईं। प्रबोधनकालीन चिंतकों ने धर्म आधारित मान्यताओं को नकारते हुए दुनिया में होने वाली प्रत्येक घटना के पीछे किसी स्थायी तथा अपरिवर्तनशील प्राकृतिक नियम का हाथ माना। आधुनिक युग के आने से पहले मानव जगत को जानने–समझने के लिए लोग इन्हीं पर निर्भर थे।

प्रबोधन काल में आए विचारधारा संबंधी बदलाव

प्रबोधन काल में आए विचारधारा संबंधी बदलाव इस प्रकार हैं–

ज्ञान को विज्ञान से जोड़ने की हिमायत– प्रबोधन काल के विचारकों के मुताबिक ज्ञान को प्रयोग एवं परीक्षा की कसौटी पर खरा उतरने जितना काबिल होना चाहिए। ज्ञान के पास बोधगम्य प्रमाण होने आवश्यक हैं, जो कि मानव को आसानी से समझ आने लायक हो। प्रबोधनकालीन विचारकों की नजर में किसी भी ज्ञान के साथ पर्यवेक्षण, प्रयोग और आलोचनात्मक छानबीन की पद्धति के बिना सच तक नहीं पहुंचा जा सकता है।

प्रयोग एवं परीक्षण पर जोर दिया गया– ज्ञानोदय ने मध्ययुग की इस अवधारणा को सिरे से खारिज कर दिया कि ईश्वर द्वारा निर्मित इस दुनिया को मनुष्य नहीं जान सकता। मध्ययुग में ईसाई मत के अनुसार यह दुनिया मानवीय बुद्धिमता के लिए अंजान है, मनुष्य और ब्रह्माण्ड के बारे में सत्य को जान पाना केवल पवित्र पुस्तकों और चर्च के माध्यम से संभव है। प्रबोधन काल ने इस मान्यता को खारिज करते हुए यह दावा किया कि जिन बातों को या घटनाओं को बुद्धि के प्रयोग से या व्यवस्थित पर्यवेक्षण के सहारे नहीं जाना जा सकता वह काल्पनिक हैं। मनुष्य ब्रह्माण्ड के रहस्यों को पूरी तरह से समझ सकता है। प्रकृति के बारे में मनुष्य को पवित्र पुस्तकों के माध्यम से नहीं बल्कि प्रयोगों एवं परीक्षाओं के माध्यम से जानने का प्रयास करना चाहिए।

कार्य–कारण संबंधों के वैज्ञानिक अध्ययन पर जोर– इस चिंतन के द्वारा विचारकों ने ऐसी पूर्ववर्ती घटना को चिह्नित करने का प्रयास किया जिसका होना किसी परिघटना के पैदा होने के लिए जरूरी है। कार्य–कारण संबंध का अध्ययन प्रबोधन काल के वैज्ञानिक नजरिए से चीजों को देखने का केंद्रीय तत्व था। नतीजतन कारणों की खोज प्राकृतिक एवं सामाजिक वातावरण पर मनुष्य का नियंत्रण बढ़ाने के साधन के रूप में की जाने लगी।

मानवतावाद

प्रबोधन युग के विचारकों ने मानव की खुशी और परोपकार पर जोर दिया। उनके अनुसार मनुष्य स्वभाव से ही विवेकवान और परोपकारी है लेकिन स्वार्थी धार्मिक संस्थानों ने मानव को स्वार्थी और भ्रष्ट बना दिया है। उन्होंने कहा कि अगर मनुष्य धर्माधिकारियों के जाल से मुक्त कर सके तो वह एक आदर्श समाज की स्थापना हो सकती है। प्रबोधन के विचारकों का मानना था कि दुनिया एक मशीन की तरह है जिनका नियंत्रण व संचालन कुछ खास नियमों के अनुसार होता है। उनका ऐसा

टिप्पणी

मानना था कि प्रकृति के अंतर्निहित नियमों को खोज कर वे ब्रह्माण्ड के रहस्य को समझ लेंगे और फिर उनपर काबू पा सकने में सक्षम होंगे। इस काल में न्यूटन ने प्रकाश के मौलिक रहस्यों का पता लगाया और प्रकाश विज्ञान की स्थापना की। विद्युत की खोज में बेंजामिन फ्रैंकलिन आदि का योगदान भी इन्हीं विचारों का समर्थन करता है।

यथार्थवाद

प्रबोधनयुगीन विचारकों के विचार में वह परमसत्ता जिसने समूचे प्राणी जगत का निर्माण किया है उनके साथ कभी क्रूरता नहीं कर सकता। उनके अनुसार ईश्वर ने संसार की रचना की है, लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि वह अब भी इसके संचालन के दिशा–निर्देश दे रहा है, अतः मनुष्य के जिम्मे अपने बुद्धि विवेक से इसे चलाने की जिम्मेदारी है। इस प्रकृतिवाद में रीति–रिवाज, अनुष्ठानों तथा अप्राकृतिक तत्वों का बहिष्कार कर दिया गया और मनुष्यों की समानता और सहिष्णुता को नए आधार के रूप में ग्रहण किया गया। इस प्रकार से ज्ञानोदय के चिंतकों ने यह स्पष्ट किया कि प्राकृतिक धर्म मनुष्यता का धर्म है और यह धर्म लोगों में दूसरों की खिल्ली उड़ाने और नफरत पैदा करने का स्रोत नहीं बनेगा।

समानता एवं स्वतंत्रता को महत्व

ज्ञानोदय के चिंतकों ने स्वतंत्रता और समानता के अधिकारों की हिमायत की। दिदरो ने व्यक्ति की स्वतंत्रता के पक्ष में तर्क देते हुए कहा है कि प्रकृति ने किसी को भी किसी के ऊपर अधिकार जताने या आदेश देने का अधिकार नहीं दिया है, बल्कि यह स्वतंत्रता का एक दैवीय दान है। प्रबोधन के चिंतकों के विचार में सभी मनुष्य एक समान पैदा होने वाले समान जीव हैं और इनमें मौजूद भिन्नता इन्हें समान शिक्षा और उन्नति के अवसर न मिल पाने की वजह से होती है।

प्रकृति से जुड़े रहना महत्वपूर्ण

प्रबोधन ने प्रकृति के महत्व को प्रतिपादित करते हुए प्रकृति से जुड़े रहने की पैरवी की है। प्रबोधनयुगीन विचारकों के मद में प्रकृति अपने सरल रूप में सौन्दर्य से भरपूर है और एक अच्छे और उन्नत समाज के लिए उसके लोगों का प्रकृति से जुड़े रहना अति आवश्यक है।

पुनर्जागरण एवं प्रबोधन में अंतर

पुनर्जागरण काल का झुकाव ज्ञान के सैद्धान्तिक पक्ष की ओर अधिक था जबकि प्रबोधनयुगीन चिंतन का मानना था कि ज्ञान वही है जिसका तर्कपूर्ण तरीके से परीक्षण किया जा सके और जो व्यावहारिक जीवन में उपयोग में लाया जा सके। इसका ज्यादा जोर व्यावहारिक ज्ञान पर था।

प्रबोधनकालीन मध्यम वर्ग में शक्ति और आत्मविश्वास दोनों का समावेश था अतः इस काल में वैज्ञानिक दृष्टिकोण के साथ तर्क के माध्यम से विचारों को रखा गया। वहीं दूसरी ओर पुनर्जागरण कालीन मध्यम वर्ग आत्मविश्वास से युक्त न होने की वजह से अतीत से प्राप्त ज्ञान को ही श्रेष्ठ मानने पर बल देता था। बुद्धि की बात करते हुए उदाहरण के रूप में ग्रीक एवं लैटिन साहित्य पर जोर दिया जाता रहा था।

प्रबोधनकालीन वैज्ञानिक अन्वेषण व वैज्ञानिक क्रांति के सामूहिक प्रयास का नतीजा था, जबकि पुनर्जागरणकालीन वैज्ञानिक अन्वेषण निजी प्रयासों का प्रतिफल था।

टिप्पणी

पुनर्जागरण का बल ज्ञान के सैद्धांतिक पक्ष पर अधिक था जबकि प्रबोधन चिंतन का मानना था कि ज्ञान वही है जिसका परीक्षण किया जा सके और जो व्यावहारिक रूप में व्यक्तिगत जीवन और समाज के काम आ सके। प्रबोधन कालीन चिंतन बल पुनर्जागरण काल से उलट व्यावहारिक ज्ञान पर ज्यादा था।

प्रबोधन युग की कमियां

प्रबोधन युग की निम्न कमियां हैं–

- प्रबोधनयुगीन विचारक कानून के शासन तथा विधि निर्माण को महत्वपूर्ण दर्जा देते थे परंतु मध्यवर्ग का ही वर्चस्व स्थापित करना चाहते थे।
- प्रबोधन काल का प्रमुख चिंतक वर्ग मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवी था इसलिए चिंतन बुर्जुआ दृष्टिकोण की ही अभिव्यक्ति करता नजर आता है। सीधे शब्दों में कहा जा सकता है कि वह मध्यवर्ग के हितों से परिचालित था।
- प्रबोधनयुगीन चिंतकों का दृष्टिकोण काफी हद तक अतिआशावादी प्रतीत होता था। यूरोपियन दृष्टिकोण के कारण वे भविष्य के प्रति जरूरत से ज्यादा आशावादी दिखाई देते थे।
- प्रबोधनकालीन चिंतकों ने विज्ञान को मानव उपयोगी मानते हुए उसे ही इस दुनिया को बेहतर बनाने का माध्यम माना। वह विज्ञान ही होगा जिसके प्रयोग से व्यक्ति स्वतंत्रता और खुशी का आनंद उठा सकता है और विज्ञान का प्रयोग मानव हित में भी किया जा सकता है। लेकिन इस विचार को 20वीं सदी के उत्तरार्द्ध में चुनौती मिली जब विज्ञान और तकनीक ने अपना विध्वंसक रूप भी दिखाया और असमानता को भी बढ़ावा मिलता गया।

निम्नलिखित बिंदुओं में प्रबोधन काल के प्रभावों को क्रमानुसार समझा जा सकता है।

- रूढ़िवादी अवैज्ञानिक सोच को मिटाकर आधुनिक विश्व के निर्माण की राह उज्ज्वल हुई।
- वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिक प्रगति से औद्योगिक युग का आधार तैयार होने लगा।
- निरंकुश राजतंत्र के खिलाफ लोग उठ खड़े हुए, फलतः जनमानस प्रिय राज्य की स्थापना की राह प्रशस्त हुई। चिंतकों के माध्यम से प्रतिपादित व्यक्तिगत स्वतंत्रता की बात ने उदारवादी सरकार के निर्माण की जरूरत को प्रोत्साहित किया। प्रबोधनकालीन चिंतकों ने निरंकुशकारी राजतंत्र की आलोचना की।
- प्रबोधनकालीन विचारों ने फ्रांसीसी क्रांति, अमेरिकी क्रांति तथा ब्रिटिश लोकतांत्रिक राजनीति में बदलावों के संबंध में वैचारिक आधार प्रदान किया।
- प्रबोधनकालीन विचारों ने समानता और रचनात्मकता जैसी आधुनिक अवधारणाओं को लोकप्रिय बनाया।
- व्यक्ति की वैचारिक स्वतंत्रता की मांग ने आर्थिक स्वतंत्रता को प्रोत्साहित किया। नतीजतन वाणिज्यवाद और आर्थिक नीति से मुक्त 'अहस्तक्षेप की नीति' वाली अर्थव्यवस्था की ओर जाने की बात की जाने लगी। प्रबोधनकालीन विचारकों ने

टिप्पणी

आर्थिक क्षेत्रों में भी प्राकृतिक नियमों की बात की। उनका मानना था कि जिस प्रकार संसार का संचालन प्राकृतिक नियमों से होता है ठीक उसी प्रकार आर्थिक गतिविधियों का संचालन मांग एवं आपूर्ति से। अतः राज्य को आर्थिक गतिविधियों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। इस प्रकार प्रबोधन काल ने विश्व के सामने मुक्त अर्थव्यवस्था के सिद्धांत को प्रतिपादित किया, जिसे वर्तमान में काफी महत्व दिया जाता है।

- प्रबोधनकालीन विचारों ने धार्मिक व्यवस्था को भी चुनौती दी। इस बात को प्रबलता से उद्घाटित किया कि संसार का संचालन प्राकृतिक नियमों से होता है न कि ईश्वर के द्वारा। धर्मनिरपेक्ष राज्य की अवधारणा और वैज्ञानिक चिंतन के प्रसार में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका रही अतः राजतंत्रात्मक व्यवस्था के दैवीय उत्पत्ति पर भी प्रश्नचिन्ह लगाए गए।
- मानववाद, व्यक्तिवाद, पंथनिरपेक्ष दृष्टिकोण, समानता, स्वतंत्रता, बंधुता, आधुनिक शिक्षा जैसे विचारों को आगे बढ़ाया गया।

भारत में प्रबोधन युग का असर

19वीं शताब्दी में भारत में चले सामाजिक सुधार आंदोलनों पर भी इसका कुछ असर देखने को मिलता है। भारतीय समाज सुधार आंदोलनों ने ज्ञानोदय के मानवतावादी विचारों से प्रेरणा ली और धर्म तथा रीति–रिवजों को मानव विवेक के सिद्धांतों के अनुरूप ढालने के प्रयास किए। यह प्रबोधनकालीन मानवतावादी विचारों का ही असर था कि समाज सुधारकों ने पारंपरिक रस्मों रिवाजों की आलोचनात्मक परीक्षा की और उन रीतियों को बदलने की लड़ाई लड़ी जो समानता और सहिष्णुता के बुनियादी सिद्धांतों के अनुरूप नहीं थे। प्रबोधनकालीन विचारों से प्रभावित राजा राममोहन राय भारतीय समाज पुनर्जागरण के जनक कहे गए। समाज सुधारकों को प्रबोधनकालीन विचारों पर इतना गहरा विश्वास था कि अंग्रेजी शासन के साथ आने वाले नए विचारों का भी उन्होंने इस विश्वास के साथ स्वागत किया कि जब कभी वे स्वशासन की मांग करेंगे उन्हें मिल जाएगा। औपनिवेशिक शासन के शोषण चरित्र से लोग अवगत हैं लेकिन प्रबोधनकालीन धारणा, वैज्ञानिक ज्ञान और स्वतंत्र उद्यम में तत्कालीन विश्वास आज भी लोकप्रिय कल्पना को प्रभावित करता है।

प्रबोधन काल के प्रमुख विचारकों का परिचय

18वीं शताब्दी के सर्वाधिक प्रभावशाली लेखक रूसो हुए। इनकी प्रमुख रचनाएं–सोशल कॉन्ट्रैक्ट एवं सेकंड डिस्कोर्स थी। रूसो के विचार में प्रारंभ में मनुष्य स्वतंत्र एवं प्रसन्न होता है किंतु प्रतियोगिता की भावना की वजह से असमानता, अन्याय व शोषण की उत्पत्ति होती है। उनके विचारों में कानून जनता की सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति है और समानता एवं स्वतंत्रता समाज के संगठन का आधार।

18वीं शताब्दी के फ्रांसीसी विचारक थे मॉन्टेस्क्यू। स्पिरिट ऑफ ला इनकी प्रमुख रचना रही है। इनके विचारों में परिस्थितियों के हिसाब से सरकार का निर्माण होना चाहिए। मॉन्टेस्क्यू ने विस्तारित करते हुए बताया है कि विशाल देशों के लिए निरंकुश, मध्यम दर्जे के देशों के लिए सीमित राजतंत्र तथा छोटे देशों के लिए गणतंत्र होना चाहिए। इन्होंने अपने विचारों में शक्ति पृथक्करण के सिद्धांत का समर्थन किया।

टिप्पणी

एडम स्मिथ 18वीं शताब्दी के स्कॉटलैंड के महान अर्थशास्त्री थे। इनकी प्रमुख रचना थी वेल्थ ऑफ नेशंस। एडम स्मिथ ने प्रगति के लिए व्यवसाय की स्वतंत्रता को जरूरी माना। बाजार मूल्य एवं गुणवत्ता का निर्धारण प्रतियोगिता के आधार पर होना चाहिए। लेसेज फेयर (मुक्त व्यापार) के सिद्धांत एवं मांग पूर्ति के नियम को प्रतिपादित करने वाले एडम स्मिथ ही थे।

18वीं सदी के जर्मन दार्शनिक कॉट नैतिक कर्तव्य तथा प्राकृतिक विज्ञान का तुलनात्मक अध्ययन करने के लिए जाने जाते हैं। इन्होंने अपने विचारों में व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर विशेष बल दिया।

राजनीतिक व्यवस्था लोक इच्छा पर आधारित होनी चाहिए ऐसा इनका मानना था।

17वीं शताब्दी के अंग्रेज दार्शनिक जॉन लॉक के विचारों में प्रत्येक व्यक्ति के मूलभूत प्राकृतिक अधिकारों को स्वीकृति अवश्य मिलनी चाहिए। राज्य की सीमित संप्रभुता का सिद्धांत इन्होंने ही प्रतिपादित किया साथ ही उनका मानना था कि सरकार प्राकृतिक अधिकारों की सुरक्षा के लिए है। इनकी प्रमुख रचना है– 'एन एस्से कंसर्निंग ह्यूमन अंडरस्टैंडिंग'।

18वीं शताब्दी के फ्रांसीसी दार्शनिक वॉल्तेयर एक लेखक, कवि, नाटककार, व्यंग्यकार तथा दार्शनिक के रूप में प्रसिद्ध हुए। इनकी प्रमुख रचनाएं 'लुई 14वें का युग' और 'बदनाम चीजों को नष्ट कर दो' हैं। वॉल्तेयर को 'संपादकों का राजा' उपाधि से सम्मानित किया गया है। वे शोषण तथा अंधविश्वास के कटु आलोचक रहे एवं चर्च का विरोध करने वाले मुख्य प्रतिपादक के रूप में जाने जाते हैं।

अपनी प्रगति जांचिए

8. यूरोप में कब से कब तक की अवधि को प्रबोधन काल कहा जाता है?
   (क) 1550 से 1670 (ख) 1650 से 1780
   (ग) 1710 से 1820 (घ) इनमें से कोई नहीं
9. निम्न में से प्रबोधन काल के विचारक कौन हैं?
   (क) मॉन्टेस्क्यू (ख) वॉल्टेयर
   (ग) एडम स्मिथ (घ) उपरोक्त सभी
10. निम्न में से रूसो की प्रमुख रचना कौन–सी है?
   (क) स्पिरिट ऑफ लॉ (ख) वेल्थ ऑफ नेशंस
   (ग) सोशल कॉन्ट्रैक्ट एवं सेकंड डिस्कोर्स (घ) इनमें से कोई नहीं

1.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ख)
2. (क)

3. (ग)
4. (घ)
5. (ग)
6. (क)
7. (ग)
8. (ख)
9. (घ)
10. (ग)

टिप्पणी

1.7 सारांश

समाजशास्त्र और सामाजिक मानव विज्ञान दोनों मानव समाज का अध्ययन करते हैं और बड़े पैमाने पर अपनी सैद्धांतिक समस्याओं और हितों को साझा करते हैं। यही कारण है कि कई विद्वानों द्वारा सामाजिक मानव विज्ञान को समाजशास्त्र का एक भाग या उसकी एक शाखा माना जाता है। जहां तक उत्पत्ति का संबंध है समाजशास्त्र से कुछ पहले सामाजिक मानव विज्ञान की उत्पत्ति मानी जाती है। जबकि समाजशास्त्र के उभरने के लिए तत्कालीन यूरोप में विभिन्न कारकों को उत्तरदायी बताया जाता है, विशेष रूप से औद्योगिक, सामाजिक–राजनीतिक और बौद्धिक आंदोलनों को जिम्मेदार माना जाता है।

सामंतवाद एक सामाजिक व्यवस्था थी जो आधुनिक समाज के उभरने से पहले अस्तित्व में आया था और इसका संबंध मानव इतिहास के मध्यकालीन युग से है। कृषिदासता सामंत उत्पादन पद्धति की आधारभूत विशेषता है। सामंतवाद में संप्रभुता विखंडित थी और राजनीतिक सत्ता बिखरी हुई थी। सामंतवाद के पतन से ही एक नई सामाजिक आर्थिक व्यवस्था ने सिर उठाना शुरू किया, जिसे पूंजीवाद के नाम से जाना गया। हालांकि पूंजीवाद का अस्तित्व काफी पहले से माना गया है, लेकिन औद्योगिक क्रांति के पश्चात जिस पूंजीवादी व्यवस्था को समाज में पाया गया उसकी चर्चा सबसे ज्यादा हुई है एवं समाजशास्त्र के विकास में भी उसकी महत्वपूर्ण भूमिका मानी गई है।

बौद्धिक कारकों में प्रबोधन काल में लोगों की विचारधारा और सामाजिक मान्यताओं में आए सैद्धांतिक परिवर्तनों ने समाजशास्त्र की उत्पत्ति, विकास और औचित्य को और पुख्ता किया।

वैज्ञानिक क्रांति ने यूरोपीय सामंतवादी रूढ़िवादी सोच को बदलने में अति महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसकी शुरुआत वैज्ञानिक कॉपरनिकस से होती है। जिन्होंने अपने अध्ययन के बाद ब्रह्माण्ड के केंद्र में पृथ्वी के होने की बात को गलत बताकर सूर्य के होने की बात सिद्ध की। उनकी इस पहल ने वहां की रुढ़िवादी एवं धार्मिक कट्टरपंथी सोच को चुनौती दी। यह सिलसिला यहीं नहीं थमता, बाद में न्यूटन ने भी गति का नियम (law of motion) एवं सार्वभौमिक गुरुत्वाकर्षण (gravitational force) के नियमों से लोगों को अवगत कराकर उन्हें प्रकृति के बारे में नए नजरिए से सोचने के लिए प्रेरित ही नहीं बल्कि बाध्य कर दिया। धार्मिक कट्टरपंथ एवं रुढ़िवादिता से

वैज्ञानिक दृष्टिकोण की ओर चल पड़े यूरोप के इस कदम को पुनर्जागरण काल के नाम से जाना जाता है।

टिप्पणी

समाजशास्त्र के उद्‌भव के सामाजिक कारकों को इतिहास की दो प्रमुख घटनाओं के रूप में उल्लेखित किया गया है। पहला कारक औद्योगिक क्रांति को माना गया है, जिसकी शुरुआत 1760 से मानी जाती है। इंग्लिश इतिहासकार अर्नाल्ड टॉयनबी ने इस शब्द का प्रयोग ब्रिटेन में 1760 से 1840 के बीच हुए आर्थिक विकास का वर्णन करने के लिए औद्योगिक क्रांति शब्द का प्रयोग किया था। इस क्रांति की शुरुआत मुख्यतः खनन, कपास और परिवहन के क्षेत्र में हुए विकास से हुई। लेकिन बहुत जल्द यूरोपीय एवं ब्रिटिश समाज ने अपनी बौद्धिक जागरूकता का परिचय देते अन्य क्षेत्रों में भी मशीनों के आविष्कार और निर्माण कार्य को पूरा कर लिया। औद्योगीकरण का प्रभाव कुछ ऐसा रहा कि कृषि का मशीनीकरण, टेक्सटाइल उद्योग, विनिर्माण एवं ऊर्जा के क्षेत्र में क्रांतिकारी बदलाव हुए।

समाज में नए विचारों और आदर्शों के एक नए युग का प्रारंभ हुआ। मुद्रा का आविष्कार, विद्या एवं ज्ञान का प्रसार एवं वृद्धि, ज्ञान–विज्ञान में बढ़ती अभिरुचि की वजह से जीवन के प्रति एक नए दृष्टिकोण की शुरुआत ने सामंतवादी व्यवस्था की जरूरत को नकारना शुरू कर दिया। पुरानी व्यवस्था की कमियों को दूर करने के उद्देश्य से समाज अब एक नई व्यवस्था को अपनाने के लिए आतुर था। इसी के परिणामस्वरूप अब नई सामाजिक व सांस्कृतिक संस्थाओं और व्यवस्थाओं का प्रारंभ हुआ। व्यापार एवं वाणिज्य में बढ़ोत्तरी व लोगों के आर्थिक रूप से सुदृढ़ होने की वजह से एक प्रभावशाली मध्यम वर्ग का उदय और विकास हुआ। समाज के कृषि प्रधान होने की वजह से ही सामंतवादी व्यवस्था इतने वक्त तक फलती–फूलती रही। लेकिन अब तेजी से कृषि प्रधान समाज का स्वरूप बदल रहा था, इसका स्थान धन–सम्पन्न जागरूक शिक्षित मध्यम वर्ग ने ले लिया था, परिणामस्वरूप सामंतवादी व्यवस्था भी अपनी पकड़ और उपयोगिता खोती चली गई।

पूंजीवादी व्यवस्था में, उत्पादन के साधन के मालिकों के पास उत्पादन कर, उत्पादित माल बेचकर लाभ कमाने का अवसर प्राप्त होता है। पूंजीवाद को मुख्यतः उस आर्थिक व्यवस्था के रूप में देखा जाता है जिसमें पूंजी के निजी स्वामित्व से लेकर उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत नियंत्रण और खुली औद्योगिक प्रतियोगिता होती है। हालांकि पूंजीवाद को किसी निश्चित परिभाषा देकर नहीं प्रस्तुत किया जा सकता क्योंकि देश, काल और परिस्थितियों के अनुसार इसे अलग–अलग रूपों में पाया गया है। फिर भी कुछ अर्थशास्त्रियों ने अपने शब्दों में पूंजीवाद को परिभाषित करने का प्रयास किया है।

प्रबोधन युग के विचारकों ने मानव की खुशी और परोपकार पर जोर दिया। उनके अनुसार मनुष्य स्वभाव से ही विवेकवान और परोपकारी है लेकिन स्वार्थी धार्मिक संस्थानों ने मानव को स्वार्थी और भ्रष्ट बना दिया है। उन्होंने कहा कि अगर मनुष्य धर्माधिकारियों के जाल से मुक्त कर सके तो वह एक आदर्श समाज की स्थापना हो सकती है। प्रबोधन के विचारकों का मानना था कि दुनिया एक मशीन की तरह है जिनका नियंत्रण व संचालन कुछ खास नियमों के अनुसार होता है। उनका ऐसा मानना था कि प्रकृति के अंतर्निहित नियमों को खोज कर वे ब्रह्माण्ड के रहस्य को समझ लेंगे और फिर उनपर काबू पा सकने में सक्षम होंगे। इस काल में न्यूटन ने प्रकाश के मौलिक रहस्यों का पता लगाया

और प्रकाश विज्ञान की स्थापना की। विद्युत की खोज में बेंजामिन फ्रैंकलिन आदि का योगदान भी इन्हीं विचारों का समर्थन करता है।

1.8 मुख्य शब्दावली

टिप्पणी

- **समाज** : सामाजिक संबंधों के ताने–बाने को समाज कहते हैं, यह एक अमूर्त धारणा है जो एक समूह के सदस्यों के बीच पाए जाने वाले पारस्परिक अन्तर्संबंधों की जटिलता का पता लगाता है।
- **समाजशास्त्र** : वह विषय जो समाज का क्रमबद्ध अध्ययन करता है।
- **परिप्रेक्ष्य** : विशिष्ट नजरिया जिसके द्वारा कोई व्यक्ति अपने अध्ययन को सुव्यवस्थित करता है।
- **श्रम विभाजन** : कार्यों का वितरण।
- **सामाजिक समूह** : आपस में एक–दूसरे से सामाजिक संबंध रखने वाले व्यक्तियों का एक समूह या संग्रह।
- **सामंतवाद** : पश्चिमी और मध्य यूरोप में एक राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक प्रणाली थी जिसमें अधिपतियों की संप्रभुता के साथ–साथ राजनीतिक विखंडीकरण प्रमुख विशेषता थे।
- **मैनोर** : सामंती व्यवस्था में आर्थिक उत्पादन एवं सामाजिक जीवन की एक आधारभूत इकाई।
- **समुदाय** : किसी सीमित क्षेत्र के अंदर रहने वाले सामाजिक जीवन के संपूर्ण संगठन को समुदाय कहा जाता है।
- **प्रौद्योगिकी** : यह मानव की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मानव निर्मित यंत्रों, उपकरणों और शिल्पकला के संबंध में बताता है।
- **ज्ञानोदय** : वह काल जब यूरोपीय दार्शनिकों ने धार्मिक सिद्धांतों की सर्वमान्यता को नकारते हुए वैज्ञानिक सिद्धांतों को मान्यता दी।
- **पूंजीवाद** : एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था जहां उत्पादन के साधनों एवं लाभ पर निजी स्वामित्व होता है।

1.9 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. समाजशास्त्र को परिभाषित कीजिए। समाजशास्त्र शब्द के प्रयोग का श्रेय किसको प्राप्त है?
2. सामंतवाद से आप क्या समझते हैं? बताइए।
3. औद्योगिक क्रांति से क्या तात्पर्य है? समझाइए।
4. पूंजीवादी व्यवस्था को परिभाषित कीजिए।
5. प्रबोधन काल किसे कहते हैं? परिभाषित कीजिए।

टिप्पणी

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. समाजशास्त्र की उत्पत्ति के तीनों कारकों का उल्लेख कीजिए।
2. सामंतवादी व्यवस्था में सामाजिक संरचना पर प्रकाश डालिए।
3. पूंजीवाद की उत्पत्ति, विशेषताओं एवं कमियों का विवेचन कीजिए।
4. प्रबोधनयुगीन विचारों के महत्व को विश्लेषित कीजिए।
5. औद्योगिक क्रांति के प्रभावों का वर्णन कीजिए।

1.10 सहायक पाठ्य सामग्री

1. गुप्ता, एम. एल. तथा शर्मा, डी.डी., 'समाजशास्त्र', साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, 2010
2. शर्मा, वीरेन्द्र प्रकाश, 'समाजशास्त्रीय चिन्तन के आधार', पंचशील प्रकाशन, 2005
3. दुबे, एस.सी, 'इंडियन सोसाइटी', नेशनल बुक ट्रस्ट, 2010
4. अग्रवाल, जी.के, 'समाजशास्त्र के सिद्धांत', साहित्य भवन आगरा, 2000
5. अब्राहम एवं मार्गन, 'सोशियोलॉजिकल थ्योरी'।
6. टी. बी. बोटामोर, 'सोशियोलॉजी'।
7. डॉ डी. एस. बघेल, 'महान समाजशास्त्रीय विचारक'।
8. शर्मा एवं गुप्ता, 'समकालीन समाजशास्त्रीय सिद्धांत', साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा, 2002
9. शर्मा एवं गुप्ता, 'समाजशास्त्र के सिद्धांत', साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा, 2007
10. वीरेन्द्र प्रकाश शर्मा, 'समाजशास्त्र के सिद्धांत', पंचशील प्रकाशन, जयपुर, 2007
11. रवीन्द्र नाथ मुकर्जी, 'समाजशास्त्र का सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य', विवेक प्रकाशन, दिल्ली, 2007
12. ब्लैक, मैक्स 1961, 'द सोशल थ्योरीज ऑफ टॉलकॉट पारसंस : ए क्रिटिकल ऐक्जामिनेशन', प्रेंटिस हॉल, इंको : ईगलवुड क्लिप्स न्यूज
13. पारसंस, टॉलकॉट 1951, 'द सोशल सिस्टम द फ्री प्रेस', ग्लेनको इलिनॉय

इकाई 2 कार्ल मार्क्स

टिप्पणी

संरचना

2.0 परिचय
2.1 उद्देश्य
2.2 मार्क्स के सामाजिक परिवर्तन एवं द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धांत
  2.2.1 द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धांत
  2.2.2 मार्क्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की आलोचना
2.3 मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद की व्याख्या
  2.3.1 विभिन्न चरणों के माध्यम से मानव समाज के परिवर्तन की व्याख्या
  2.3.2 आर्थिक नियतिवाद एवं उत्पादन प्रक्रिया
  2.3.3 आधार और अधिरचना का सिद्धांत
2.4 अतिरिक्त मूल्य एवं शोषण की अवधारणा : पूंजी के संचय व केंद्रीकरण के संदर्भ में मार्क्स का विश्लेषण
2.5 मार्क्स का वर्ग–संघर्ष का सिद्धांत, सर्वहारा क्रांति एवं वर्गविहीन समाज
  2.5.1 सर्वहारा क्रांति और पूंजीवाद का भविष्य
  2.5.2 वर्ग–विहीन समाज
2.6 पूंजीवादी समाज में अलगाव की अवधारणा एवं विचारधारा का सिद्धांत
  2.6.1 राजनीतिक सत्ता पर विचार
  2.6.2 सामाजिक वर्गों के संबंध में राज्य
  2.6.3 सर्वहारा का उदय और राज्य का भविष्य
  2.6.4 विचारधारा का सिद्धांत
  2.6.5 विचारधारा अधिरचना का अंग
  2.6.6 विचारधारा के संबंध में तीन विचार
2.7 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
2.8 सारांश
2.9 मुख्य शब्दावली
2.10 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
2.11 सहायक पाठ्य सामग्री

2.0 परिचय

मार्क्स से पहले भी दार्शनिक दुनिया एवं समाज की व्याख्या करने का प्रयास करते रहे हैं परंतु वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाते हुए समाज एवं व्यवस्था को बदल डालने के उद्देश्य से पहली बार सिद्धांतों की रचना करने वालों में कार्ल मार्क्स का नाम शामिल किया जाता है। वैज्ञानिक समाजवाद के प्रतिपादक एवं क्रांतिकारी विचारक के रूप में प्रख्यात मार्क्स की विचारधारा ने परोक्ष एवं अपरोक्ष दोनों ही रूपों में लोगों के चिंतन को प्रभावित अवश्य किया है। यही कारण है कि उनकी समाजवाद की वैज्ञानिक व्याख्या अब भी आधुनिक समाजवादी चिंतन का आधार है।

प्रस्तुत इकाई में मार्क्स के सामाजिक परिवर्तन, द्वंद्वात्मक भौतिकवाद, अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत, वर्ग संघर्ष, सर्वहारा क्रांति एवं पूंजीवादी समाज में अलगाव की अवधारणा आदि तथ्यों का अध्ययन किया गया है।

टिप्पणी

2.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- मार्क्स के सामाजिक परिवर्तन एवं द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धांत को समझ पाएंगे;
- मार्क्स की ऐतिहासिक भौतिकवाद की अवधारणा को जान पाएंगे;
- कार्ल मार्क्स के विचारों से अवगत हो पाएंगे;
- कार्ल मार्क्स के सिद्धांतों एवं अवधारणों के विषय में जान सकेंगे;
- सर्वहारा क्रांति का उद्देश्य, प्रारूप एवं परिणाम से अवगत हो पाएंगे।
- पूंजीवादी समाज में अलगाव की अवधारणा को समझ पाएंगे।

2.2 मार्क्स के सामाजिक परिवर्तन एवं द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धांत

मार्क्स के सामाजिक परिवर्तन का सिद्धांत एक शोषणमुक्त समाज की स्थापना की परिकल्पना पर आधारित है। मार्क्स ने एक क्रांति के रूप में सामाजिक परिवर्तन की कल्पना की थी एवं उसके लिए सुझाए गए उनके सिद्धांतों एवं विचारों के ढांचे को ही हम मार्क्सवाद के नाम से जानते हैं। मार्क्सवाद राजनैतिक रूप से चर्चित एक सारगर्भित सिद्धांत के रूप में देखा गया है जिसकी रचना का श्रेय मार्क्स के साथ–साथ एंगेल्स को भी जाता है। मार्क्सवाद को मार्क्स एवं एंगेल्स दोनों के विचारों के मर्म से उत्पन्न एक सिद्धांत के रूप में देखा जा सकता है। मात्र समाजवाद के इतर मार्क्स ने वैज्ञानिक समाजवाद की तरफ जोर दिया एवं इसके जनक के रूप में जाने जाते हैं। मार्क्स के बारे में स्वयं एंगेल्स ने कहा था कि मार्क्सवाद की जड़ में मार्क्स की दूरदर्शिता एवं उनकी व्यापक सोच है जिसके बिना यह सिद्धांत अपने वर्तमान स्वरूप को प्राप्त नहीं कर सकता था। मार्क्स के अनुसार सामाजिक परिवर्तन का आधार औद्योगिक व आर्थिक होना चाहिए। कार्ल मार्क्स ने सामाजिक परिवर्तन को आर्थिक कारणों की उपज माना। अतः उनके सिद्धांत को सामाजिक परिवर्तन का आर्थिक सिद्धांत भी कहा जाता है। मार्क्स द्वारा इतिहास की व्याख्या में यह पाया गया है कि अब तक जो परिवर्तन हुए हैं वे उत्पादन की प्रक्रिया में बदलाव के कारणों से ही हुए हैं। मार्क्स ने परिवर्तन के अन्य कारणों जैसे जनसंख्या व अन्य भौगोलिक परिस्थितियों को सामाजिक परिवर्तन का कारक नहीं माना है। मार्क्सवाद पहला दर्शन हुआ है जिसमें उल्लेखित द्वंद्वात्मक भौतिकवाद एवं इतिहास के आर्थिक विकास जैसी बातों के जिक्र ने समाज की आध्यात्मिक मान्यताओं पर आघात किया। मार्क्सवाद ने ही सर्वहारा वर्ग का प्रभुत्व समाज में स्थापित करने के लिए एक क्रांति का सिद्धांत दिया। हालांकि ऐसी किसी क्रांति का इंतजार समाज आज भी कर रहा है, और यही मार्क्सवाद की आलोचनाओं का प्रमुख तर्क भी है। मार्क्स के अनुसार मानव जाति का इतिहास उत्पादक एवं श्रम के बीच के संघर्ष का ही इतिहास है। इनके अनुसार मानव इतिहास के प्रत्येक युग में सामाजिक परिवर्तन के केन्द्र में यही दो वर्ग रहे हैं। मार्क्स के अनुसार

टिप्पणी

यह दो वर्ग हैं– एक वह जिसका उत्पादन के संसाधनों पर स्वामित्व रहा है और दूसरा जिनका जीवन श्रम के द्वारा जीवनयापन पर आधारित रहा है। वर्ग संघर्ष तथा अतिरिक्त मूल्य के सिद्धांत द्वारा पूंजीवादी समाज के प्रभुत्व पर विशेष रूप से जोर देते हुए पूंजीवादी सामाजिक व्यवस्था की गतिविधियों का रहस्योद्घाटन करता है। मार्क्स ने इन्हीं दो वर्गों के बीच के फर्क को मिटाकर एक वर्गविहीन समाज की स्थापना की वकालत करते हुए साम्यवादी विचारधारा को समाज में स्थापित करने की कोशिश की। मार्क्स ने उत्पादन साधनों के स्वामित्व वाले वर्ग को शोषक माना एवं श्रमजीवी वर्ग को शोषित। मार्क्स के सामाजिक परिवर्तन के सिद्धांत के पीछे मूल विचारधारा यह रही कि सुविधा एवं साधन सम्पन्न वर्ग ने अपने फायदे के लिए समाज के एक वर्ग को हमेशा अभाव में रखा, इसे ही उन्होंने बुर्जुआ विचारधारा कहा है। कार्ल मार्क्स उन विचारकों में से हैं, जिन्होंने पूंजीवादी समाज का वैज्ञानिक तरीके से विश्लेषण करने के बाद समाजवाद की स्थापना के लिए समाजवादी क्रांति के तरीकों का वर्णन किया। अतः उन्हें वैज्ञानिक समाजवाद का जनक भी कहा जाता है। मार्क्स से पूर्व भी चार्ल्स फूरीयर, रॉबर्ट ओवेन, सैंट साइमन जैसे विचारकों ने भी समाजवादी विचारों को प्रस्तुत किया लेकिन उस समाज की स्थापना की कोई स्पष्ट रूपरेखा तैयार करने में असफल रहे। मार्क्स ने सामाजिक परिवर्तन का मूलभूत आधार आर्थिक संगठन को माना।

2.2.1 द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धांत

मार्क्स और एंगेल्स द्वारा प्रतिपादित समाजवादी दर्शन को ही द्वंद्वात्मक भौतिकवाद कहा गया है। द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की आड़ में मार्क्सवाद मानव इतिहास और समाज के विकासक्रम के विश्लेषण के तरीके को ही ऐतिहासिक भौतिकवाद कहा गया है। मार्क्स ने अपने सिद्धांतों की आधारभूमि बनाते हुए इतिहास के उदाहरण लेते हुए भौतिकवादी धारणा से उन्हें जोड़कर सामाजिक विकास को समझाने की प्रक्रिया का रहस्य प्रस्तुत किया है।

मार्क्स की विचारधारा में सामाजिक परिवर्तन के लिए द्वंद्व को अनिवार्य माना गया है। मार्क्स के अनुसार सामाजिक परिवर्तन को केवल विचारों से नहीं पाया जा सकता। समाज का भौतिकवादी विकास एक सतत प्रक्रिया है परंतु उसे द्वंद्व के रूप में ही हासिल किया जा सकता है। मार्क्स व हेगेल इस एक बिन्दु पर सहमत हुए कि विरोधी धाराओं के संघर्ष से ही समाज में परिवर्तन लाया जा सकेगा। मार्क्स के विचार में हर काल और समय में केवल संघर्ष मात्र से ही समाज का विकास एवं परिवर्तन हुआ है। मार्क्स संसार में घटित होने वाली प्रत्येक छोटी–बड़ी घटना के केंद्र में अर्थ यानी पूंजी को ही पाते हैं। मार्क्स का सिद्धांत स्पष्ट करता है कि संघर्ष से ही विकास होता आया है और भविष्य में भी होगा। मार्क्स का द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धांत भी आर्थिक संघर्ष की गुंजाइश को सामने लाता है। आसान शब्दों में इसे विरोध से विकास का सिद्धांत भी समझा जा सकता है। इस सिद्धांत का मूल मंत्र पूंजीवादी समाज को खत्म कर साम्यवादी समाज की स्थापना से जुड़ा हुआ है। इस सिद्धांत के तहत मार्क्स ने एक वर्गविहीन सामाजिक संरचना की परिकल्पना की। मार्क्स ने आर्थिक क्रियाओं को प्रमुखता से लेते हुए इस सिद्धांत के अपने तर्कों को पुष्ट किया। ग्रीक विचारकों ने सबसे पहले द्वंद्ववाद की परिकल्पना की थी। यहां द्वंद्व से तात्पर्य तर्क–वितर्क से है जिसकी सहायता से ही सत्य की खोज और स्थापना की जा सकती है, विचारों के इसी द्वंद्व

टिप्पणी

को मार्क्स ने सामाजिक परिवर्तन के लिए जरूरी माना है। मार्क्स से पहले हेगेल ने द्वंद्वात्मक विकास की प्रक्रिया का प्रतिपादन किया था। उनका यह मानना था कि विरोधी शक्तियों के संघर्ष से ही विकास का चक्र सतत् चलता रहता है। हेगेल के मतानुसार विश्व में हर वस्तु या घटना की प्रतिवादी वस्तु या घटना जरूर होती है। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि संवाद के स्थापित होने के लिए पहले वाद और फिर प्रतिवाद के होने से जो संघर्ष की स्थिति पैदा होती है उससे विवाद उत्पन्न होता है एवं वही समाज के विकास के लिए एक उपयोगी कारक है। मार्क्स ने हेगेल के द्वंद्ववाद को तो अपनाया लेकिन हेगेल के प्रत्ययवादी द्वंद्ववाद को असरकारक नहीं माना। जहां हेगेल ने विचारों को ही सर्वोपरि रखा वहीं मार्क्स के मत में द्वंद्ववाद को भौतिकवाद से जोड़ा जाना जरूरी समझा गया। मार्क्स ने प्रत्ययवाद का खंडन करते हुए अपनी किताब 'दास कैपिटल' में लिखा, 'मैंने हेगेल के द्वंद्व को सिर के बल खड़ा पाया, मैंने उसे पैरों के बल खड़ा कर दिया।' केवल मार्क्स ही नहीं फ्यूरबख ने भी प्रत्ययवाद की आलोचना की, उसी से प्रेरित होकर मार्क्स ने भौतिकवादी दृष्टिकोण को प्रमुखता दी।

द्वंद्ववाद की दो मुख्य मान्यताएं हैं– पहली, बहुशाखीय संपर्क एवं आंतरिक क्रिया व दूसरी, परिवर्तन और विकास। पहली मान्यता के अनुसार कोई भी वस्तु या प्रक्रिया परस्पर संबंधों के एक जाल से अन्य वस्तुओं और प्रक्रियाओं से जुड़ी होती है जिसकी वजह से कुछ में होने वाला बदलाव भी अन्य में बदलाव का कारण बनता है। दूसरी मान्यता के अनुसार वस्तुएं एवं प्रणालियां लगातार परिवर्तनशील हैं और इससे उत्पन्न होने वाला विकास ही द्वंद्ववाद की आधारभूत मान्यता है। कुछ परिवर्तन अकस्मात होते हैं और कुछ एक सतत प्रयास के फलस्वरूप। विश्व में परिवर्तन के परिणामस्वरूप ही जैविक संरचना का विकास संभव हो पाया है, उसी प्रकार समाज में परिवर्तन का श्रेय भी द्वंद्ववाद को ही जाता है। भौतिकवाद की व्याख्या करते हुए मार्क्स ने कहा है कि "जो वस्तु या पदार्थ मूर्त रूप में आंखों को दिखाई देती है, उसके अस्तित्व को स्वीकार करना ही भौतिकवाद है। जगत को या प्रकृति की वास्तविकता का सम्मान करना ही भौतिकवाद है। इस जगह आदर्शवाद को जान–बूझकर दूर रखना बुद्धि के निष्कर्ष पूर्व यथार्थता का विचार करना ही भौतिकवाद है। इस संबंध में लेनिन ने कहा था कि "सही मायनों में द्वंद्वात्मक विरोधी बातों का अध्ययन ही विकास विरोधी बातों में संघर्ष का परिणाम है।" मार्क्स ने सदैव द्वंद्वात्मक तरीके से ही संसार के विकास के होने की बात कही है। पुरातन काल में भी सत्य की खोज के लिए द्वंद्व यानी विचारों की तार्किक भूमिका पर ही जोर दिया जाता रहा है और मार्क्स के मुताबिक यही तार्किक पद्धति द्वंद्वात्मक स्वरूप ले लेती है।

भौतिकवादी द्वंद्ववाद का सिद्धांत ही मार्क्स की संपूर्ण विचारधारा का मूल आधार रहा है। इस पर प्रख्यात रूसी विद्वान वि. अफनास्योव ने लिखा है कि मार्क्स का द्वंद्ववाद का विचार हेगेल से तथा भौतिकवाद का सिद्धांत फ्यूरबख से लिया गया था। इस प्रकार दोनों के सम्मिश्रण ने द्वंद्ववाद को एक नई मौलिक दिशा प्रदान की। इस संबंध में यहां तक प्रचलित है कि इसी सिद्धांत के आधार पर समस्त साम्यवादी अपनी क्रांतिकारी गतिविधियों का संचालन करते हैं। द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धांत मार्क्स ने अपने प्रमुख ग्रंथ साम्यवादी पथ का हलफनामा में प्रतिपादित किया था एवं इसका विस्तृत उल्लेख सामाजिक इतिहासों के विचार नामक किताब में मिलता है। हेगेल के

मत के विपरीत मार्क्स का मानना है कि चिंतन क्रिया में भौतिक संसार का ही रूपांतरण है एवं वह स्पष्ट करते हैं कि विचार मानव रूप में प्रतिबिम्बित भौतिक जीवन का ही एक स्वरूप है।

टिप्पणी

हेगेल ने संसार एवं मानव के परिवर्तन के लिए विचार को महत्व दिया, किंतु मार्क्स ने पदार्थ को महत्व दिया। मार्क्स के अनुसार सृष्टि या प्रकृति का विकास यह परस्पर द्वंद्व से होता है। परंतु यह द्वंद्व पदार्थ में होता है। इसलिए मार्क्स के मतानुसार वस्तु ही सत्य है तो वहीं हेगेल के लिए वस्तु जगत विचार तत्व का माध्यम घटनात्मक रूप है। हेगेल इस बात पर जोर देते हैं कि वास्तविक जगत का निर्माण चिंतन क्रिया की प्रेरणा से हुआ है जबकि मार्क्स चिंतन क्रिया को भौतिक जगत का ही असर मानते हैं। मार्क्स के विचार इस ओर स्पष्ट हैं कि पदार्थ से ही विचारों का जन्म होता है। तो वहीं हेगेल ने बाहरी जगत को विचारों की परछाई समझकर विचार को ही वास्तविक माना है।

मार्क्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद को अगर आसान शब्दों में समझा जाए तो पूंजीवादी समाज की व्यवस्था में पूंजीपति और मजदूर वर्ग प्रतिवादी की भूमिका में नजर आता है और इन दोनों के संघर्ष या द्वंद्व से नया समाजवादी समाज व संवाद का निर्माण होता है। वाद, प्रतिवाद, संवाद की यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है जब तक आदर्शवादी समाज की रचना न हो। मार्क्स ने इस पूरी प्रक्रिया को समझने के लिए द्वंद्ववाद के कुछ नियमों को उल्लेख किया है–

विरोधी समागम का नियम

मार्क्स द्वारा प्रतिपादित इस नियम के मूल में विरोधी शक्तियों के मिलन एवं संघर्ष से पैदा होने वाली गति का सिद्धांत है। यह नियम प्राकृतिक गतिशीलता के रहस्य को उद्घाटित करता है। लेनिन के अनुसार विपरीत ताकतों की एकता और संघर्ष का नियम ही द्वंद्ववाद का सार है, जिससे मार्क्स के भौतिकवादी द्वंद्ववाद का जन्म होता है। इस नियम को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से स्पष्ट करते हुए मार्क्स ने कहा है कि जैसे एक चुंबक के दो सिरे एक दूसरे के परस्पर विरोधी होते हैं ठीक उसी प्रकार हर एकता में विरोध भी समाहित होता है। ठीक उसी प्रकार जैसे उत्तरी ध्रुव और दक्षिणी ध्रुव एक दूसरे से अलग एवं विरोधी होते हुए भी अलग–अलग नहीं हो सकते अर्थात चुंबक के दोनों ध्रुवों को अलग कर दिए जाने पर भी उनका विरोधी स्वरूप अलग नहीं किया जा सकता। इस उदाहरण के आधार पर मार्क्स यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि श्रमिक और पूंजीपति एक दूसरे के विरोधी वर्ग के होते हुए भी एक संगठित पूंजीवादी समाज का निर्माण करते हैं। विपरीतों का यह परस्पर निबंधन, नए के बीच, परस्पर जनित और आधुनिक के बीच संघर्ष को पैदा करता है।

मात्रा भेद से गुण भेद

जैसे पानी का तापमान एक निश्चित सीमा से अधिक हो जाए तो वह भाप बन जाता है और एक निश्चित सीमा से कम पहुंच जाए तो बर्फ बन जाता है, ठीक उसी प्रकार संसार की हर वस्तु अलग–अलग घटनाक्रम के प्रभाव से परिवर्तनशील है अतः किसी भी वस्तु का गुण स्थिर एवं स्थायी नहीं होता है। प्रकृति में होने वाला परिवर्तन अगर एक निश्चित क्रम तक पहुंच जाए तो उसका बदलाव तय होता है। मार्क्स ने समाज

टिप्पणी

में होने वाले परिवर्तन को क्रांति माना है। मार्क्स क्रांति की स्वाभाविकता को सिद्ध करने के लिए इस नियम का उपयोग करते हैं। मार्क्स का मानना है कि परिणात्मक से गुणात्मक परिवर्तन करने वाली ये क्रांतियां समाज के विकास में विशेष महत्व रखती हैं। इस व्यवस्था को प्राचीन सामाजिक व्यवस्था को खत्म करके नई सामाजिक व्यवस्था को स्थापित करने वाला कहा गया है।

प्रतिषेध का नियम

यह प्रकृति का नियम है कि संसार की प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है। इसी परिवर्तन से उत्पन्न गतिशीलता से पदार्थ में लगातार संघर्ष की स्थिति बनी रहती है। इस संघर्ष की सूरत में एक ताकत दूसरी शक्ति का प्रतिषेध करती है जिसके परिणामस्वरूप एक नई व्यवस्था का जन्म होता है। पहले से मौजूद पदार्थ या व्यवस्था के विलीन या नष्ट हो जाने की अवस्था में जो नई वस्तु या व्यवस्था उत्पन्न होती है उसे ही प्रतिषेध समझा जाना चाहिए। यह क्रम इसी प्रकार से अनवरत चलता रहता है और प्रतिषेध के नष्ट हो जाने की स्थिति में फिर से एक नई वस्तु या स्थिति उत्पन्न होती है, उसे पुनः प्रतिषेध का प्रतिषेध कहा जाता है। मार्क्स द्वारा दिए गए इस नियम को अगर साफ शब्दों में समझा जाए तो उनका मानना है कि पूंजीवादी व्यवस्था के विकास में ही उसका विनाश निहित होता है। इसके अंतर्गत ऐसी सामाजिक व्यवस्था का निर्माण होता है जहां साधनविहीन लोगों पर होने वाले अत्याचार और शोषण का लोप हो जाता है। यानी कि इससे एक साम्यवादी समाज का निर्माण होता है एवं यह मार्क्स द्वारा प्रतिपादित द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धांत को परिलक्षित करता है।

2.2.2 मार्क्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की आलोचना

मार्क्स ने भौतिकवाद को अपने दर्शन का आधार बनाया हैं, क्योंकि मार्क्स ने हेगेल के विपरीत विचारों की बजाय पदार्थों को प्रमुख माना है एवं विचारों को भी पदार्थों की ही उत्पत्ति करार दिया है। मार्क्स के इस सिद्धांत की काफी आलोचना भी हुई है। निम्नलिखित आधारों पर मार्क्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की आलोचना की जाती रही है–

1. **अस्पष्ट एवं रहस्यमयी**– वेबर ने मार्क्स की इस अवधारणा को रहस्यमयी करार देते हुए कहा है कि– ''मार्क्स भौतिकवाद की उचित व्याख्या कर उसका अभिप्राय स्पष्ट करने में नाकाम रहे हैं। उन्होंने पदार्थ की गतिशीलता को भी स्पष्ट नहीं किया है। भौतिकवाद के बारे में वह केवल यही बता पाए हैं कि यह यांत्रिक न होकर द्वंद्वात्मक है।'' वेबर के अलावा लेनिन ने भी यह माना है कि हेगेल के द्वंद्ववाद को समझे बिना मार्क्स के द्वंद्ववाद को समझना कठिन है। लेनिन एवं अन्य साम्यवादी विचारकों एवं लेखकों ने मार्क्स के इस सिद्धांत को अपनी रचनाओं में स्थान देने का प्रयास भी किया है, लेकिन सिद्धांत की अस्पष्टता के कारण उसकी विस्तृत विवेचना करने में असफल रहे हैं।
2. **अतार्किक एवं विरोधाभासी**– आलोचकों ने द्वंद्ववाद के इस सिद्धांत को इस आधार पर तर्कसंगत नहीं बताया है कि मार्क्स ने जड़ एवं चेतन दोनों को समान मानते हुए उनकी तुलना की है। विश्वास या बुद्धि आवश्यकताओं की वजह से स्वयं विकसित हो सकती है, परंतु वस्तु जो जड़ है यानी आत्मा रहित है, स्वयं

टिप्पणी

विकसित नहीं हो सकती। इसलिए जड़ जगत में होने वाले बदलाव बाहरी शक्ति के ही कारण हैं, न कि आंतरिक वैचारिक शक्ति के कारण। भौतिक जगत के नियमों को जस का तस मानव जगत में लागू नहीं किया जा सकता। मार्क्स के इस सिद्धांत में विरोधाभास भी है। मार्क्स ने हर सामाजिक परिवर्तन का आधार भौतिकवाद को माना है, लेकिन जिस वर्ग–विहीन समाज की स्थापना की बात वे करते हैं, उसमें सर्वहारा वर्ग की क्रांति की प्रेरणा में मानवीय चेतना के जाग्रत होने का भी बहुत बड़ा योगदान होगा।

3. **मानवीय मूल्यों की अनदेखी**– मार्क्स ने मानवीय मूल्यों की उपेक्षा करते हुए पदार्थ को ही अंतःकरण व मानवीय चेतना से अधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया है। मनुष्य को स्वार्थी मानते हुए उन्होंने उसे नैतिक मूल्यों से रहित मात्र स्वयं के हितों की रक्षा करने वाले प्राणी के रूप में प्रस्तुत किया है। पक्षपातपूर्ण एकांगी दृष्टिकोण का परिचय देते हुए मार्क्स ने मानव को निज स्वार्थ के लिए नैतिक मूल्यों एवं मर्यादाओं की उपेक्षा करने वाला जीव माना है, जो कि अर्द्ध सत्य है।
4. **प्रामाणिकता की कमी**– मार्क्स ने अपने इस सिद्धांत में तर्कों की पुष्टि दृष्टांतों के आधार पर की है। दृष्टांतों का प्रयोग भी मनमाने ढंग से किया गया है, ऐसा कोई स्पष्ट प्रमाण मार्क्स ने नहीं दिया, जिससे माना जा सके कि भौतिक जगत व प्राणी जगत के नियम समान हैं। प्राणिशास्त्र के नियम इतिहास के नियमों से अलग होते हैं। लेनिन एवं एंजल्स के मत में सामाजिक विज्ञान से जुड़े सिद्धांत में जीवशास्त्र के विचारों का कोई औचित्य नहीं है। मार्क्स के सिद्धांत में ऐसा किया गया है, अतः इसी आधार पर आलोचकों ने इसमें प्रामाणिकता की कमी पाई है।
5. **मानवीय समाज में अव्यावहारिक**– सामाजिक जीवन के घटनाक्रम प्रकृति के नियमानुसार चलते हैं, इसलिए मार्क्स द्वारा प्रतिपादित जड़ जगत से जुड़ा एक भौतिकवादी वैज्ञानिक सिद्धांत इस समाज के लिए अमान्य हो जाता है। सामाजिक जीवन की सबसे महत्वपूर्ण इकाई स्वयं व्यक्ति होता है, जो किसी वस्तु या भौतिक पदार्थ की तरह से व्यवहार नहीं करता। वैज्ञानिक दृष्टिकोण का दावा करने वाला मार्क्स का द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धांत असल में मानवीय जीवन में लागू नहीं होता।
6. **दोषपूर्ण मनोवैज्ञानिक विश्लेषण**– मार्क्स ने मानव की भौतिक संतुष्टि को ही सबसे महत्वपूर्ण मानते हुए, भौतिक जगत के विकास का आधार संघर्ष को माना है। उसने इस सत्य की अनदेखी की है कि कई बार मनुष्य दुखों में भी खुश एवं संतुष्ट रहता है। यह पाया गया है कि कई बार अभावग्रस्त व्यक्ति भी सुविधासम्पन्न धनवान के मुकाबले ज्यादा संतुष्ट होता है। इस प्रकार मार्क्स का यह सिद्धांत सहयोग, प्रेम, समानुभूति आदि मानवीय गुणों की अनदेखी करते हुए सामाजिक प्रगति का आधार भौतिक जगत के लिए संघर्ष को माना है। इस प्रकार आलोचकों ने मार्क्स के इस सिद्धांत को दोषपूर्ण मनोवैज्ञानिक विश्लेषण बताया है।
7. **नियतिवाद को ही सर्वोपरि माना**– मार्क्स के इस सिद्धांत के अनुसार विश्व में होने वाला हर परिवर्तन पहले से निश्चित कारणों की वजह से ही होता आया

टिप्पणी

है एवं विकास की इस प्रक्रिया में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। बकौल मार्क्स ऐतिहासिक नियतिवाद ही संसार के हर सामाजिक परिवर्तन के मूल में है। मार्क्स का सिद्धांत इस तथ्य को नकारता है कि मनुष्य की इच्छा शक्ति एवं मानवीय चेतना बड़े से बड़ा परिवर्तन कर सकने में सक्षम है, बल्कि इतिहास में ही कई ऐसे उदारण मौजूद हैं जहां मानव ने परिवर्तन की राह बदल कर रख दी है। इस प्रकार से मार्क्स का यह सिद्धांत नियतिवाद का समर्थन करता हुआ नजर आता है।

इस प्रकार मार्क्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की वैज्ञानिकता को कई विचारकों एवं समाजशास्त्रियों ने पूरी तरह से कभी नहीं अपनाया। हैलोवल ने अनुसार– मार्क्स खुद एक गंभीर दार्शनिक नहीं थे, बल्कि उनकी दिखने वाली यह गंभीरता हेगेल से उधार ली गई है। इसके साथ ही सेबाइन व वेबर भी मार्क्स को राजनीति, कानून एवं अर्थशास्त्र के ज्ञाता के रूप में जानते हैं न कि एक बेहतरीन दार्शनिक के तौर पर। प्रो. हंट के मुताबिक वैज्ञानिकता के नाम से मशहूर असल में मार्क्स का द्वंद्वात्मक भौतिकवाद एक अवैज्ञानिक सिद्धांत है। इन तमाम आलोचनाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मार्क्स का यह सिद्धांत तमाम विसंगतियों के साथ–साथ अस्पष्ट एवं अमौलिक है।

लेकिन तमाम दोषों के बावजूद मार्क्स के इस सिद्धांत का राजनीतिक नीति निर्धारण में अपना एक विशेष महत्व है। मार्क्स का यह सिद्धांत कहता है कि समाज की कोई भी व्यवस्था स्थायी नहीं हो सकती एवं क्योंकि मनुष्य की सभी समस्याएं भौतिक जगत से ताल्लुक रखती हैं इस लिए सामाजिक परिवर्तन का आधार भी भौतिक अर्थात आर्थिक परिस्थितियां ही होती हैं। अपने इस सिद्धांत के आधार पर ही मार्क्स ने श्रमिक वर्ग को पूंजीवाद से मुक्ति दिलाकर साम्यावादी समाज की स्थापना की परिकल्पना की अर्थात सबके लिए समानता का अधिकार रखने वाले एक नए समाज की स्थापना का मार्ग प्रशस्त किया।

अपनी प्रगति जांचिए

1. वैज्ञानिक समाजवाद का जनक किसे कहा जाता है?

   (क) चार्ल्स फूरीयर (ख) कार्ल मार्क्स

   (ग) रॉबर्ट ओवेन (घ) सैंट साइमन

2. "मार्क्स खुद एक गंभीर दार्शनिक नहीं थे, बल्कि उनकी दिखने वाली यह गंभीरता हेगेल से उधार ली गई है।" यह कथन किसका है?

   (क) हैलोवल (ख) सेबाइन

   (ग) वेबर (घ) प्रो. हंट

2.3 मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद की व्याख्या

मार्क्स ने अपने विचारों में सदैव इस बात पर बल दिया है कि समाज का इतिहास आर्थिक कारणों से तय होता है एवं इतिहास के इतिहास में भी वर्ग संघर्ष समाहित है। स्पष्ट रूप से मार्क्स की समाजशास्त्र वाली प्रणाली के दो आधार हैं, प्रथम इतिहास का

टिप्पणी

भौतिकवादी विचार और वर्ग संघर्ष। ऐतिहासिक विश्लेषणों के आधार पर मार्क्स ने यह साबित करने की कोशिश की है कि पूंजीवादी समाज का खात्मा एवं भविष्य में समाजवादी क्रांति की सफलता निश्चित है। मार्क्स द्वारा इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या में उन्होंने प्राचीन समाज का आधार दासता, सामंतवादी समाज का आधार भूमि तथा मध्यवर्गीय समाज का आधार पूंजी बताया गया है। बकौल मार्क्स अनेक समय और काल में सामाजिक संरचना को प्रभावित और निर्धारित करने में दो प्रमुख कारक, आर्थिक परिस्थितियां एवं उत्पादन की विधियों का प्रमुख हाथ रहा है। मार्क्स के विश्लेषण में उसने स्पष्ट किया है कि पाश्चात्य यूरोप में एक–एक करके पांच अवस्थाएं आईं जिनमें कि उसकी भौतिक परिस्थितियों का विकास हुआ है। हालांकि मार्क्स ने इतिहास को एक विस्तृत परिप्रेक्ष्य में देखा था एवं उनकी मौलिक विवेचनाओं और विश्लेषणों पर आधारित सिद्धांतों का मुख्य आधार भी इतिहास ही रहा है लेकिन फिर भी उनकी अवधारणाओं का मुख्य आधार इतिहास का आर्थिक जीवन ही है।

समाज, अर्थशास्त्र एवं इतिहास का अध्ययन करने के लिए मार्क्स ने इतिहास की भौतिकवादी अवधारणाओं का एक खाका प्रस्तुत किया। ऐतिहासिक भौतिकवाद का नाम मार्क्स के उसी दृष्टिकोण को दिया गया। सरल शब्दों में कहा जा सकता है कि ऐतिहासिक भौतिकवाद का सिद्धांत यह बताता है कि भौतिक परिस्थितियों में बदलाव समाज व अर्थव्यवस्था को सुव्यवस्थित रखने में अपनी निर्णायक भूमिका निभाता है। ऐतिहासिक भौतिकवाद की व्याख्या में मार्क्स ने जिन पांच चरणों की बात की है उसमें पहली अवस्था आदिम साम्यवाद की बताई गई है जिसे संपत्ति के बराबर बंटवारे से जोड़ा गया है। इस अवस्था में किसी मालिक या नेता की अवधारणा का अस्तित्व में न होने की बात स्वीकार की गई है। दूसरी अवस्था में मार्क्स दासता की शुरुआत होने के संकेत देते हैं। दास–स्वामी समाज के रूप में पहली अवस्था से बात आगे बढ़ते हुए वर्ग एव राज्य की अवधारणा तक जा पहुंची थी। तीसरी अवस्था में मार्क्स सामंतवाद के जन्म की बात करते हैं जिसमें अभिजात्य वर्ग या साधनों पर प्रभुत्व वाले वर्ग ने निम्न वर्ग का दोहन किया। इस युग को मार्क्स भू–स्वामियों एवं कृषि दासों वाला काल मानते हैं। चौथी अवस्था में पूंजीवादी युग के प्रारंभ होने का कारण मध्यवर्गीय क्रांति को मानते हुए मार्क्स यह स्पष्ट करते हैं कि पूंजीपतियों ने सामंती व्यवस्था को दरकिनार कर निजी संपत्ति व लोकतंत्र के साथ एक भौतिक अर्थव्यवस्था की स्थापना की। इस काल को स्वामी व श्रमिक का युग बताया गया है। पांचवीं अवस्था के बारे में मार्क्स का पूर्वानुमान था कि सर्वहारा वर्ग द्वारा एक क्रांति की शुरुआत होगी जिसके परिणाम स्वरूप समाजवाद की प्राप्ति के साथ साम्यवाद की स्थापना का लक्ष्य पूरा होगा। इस अवस्था में संपत्ति पर किसी व्यक्ति विशेष का एकाधिकार नहीं बल्कि समूचे समुदाय का स्वामित्व होगा। मार्क्स द्वारा प्रतिपादित इतिहास के भौतिकवादी विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि उन्होंने इतिहास, संस्कृति और सामाजिक परिवर्तन की सभी आदर्शवादी व्याख्याओं को नकारा है। ऐतिहासिक भौतिकवाद को मार्क्स के विचारों का केंद्र बिंदु माना जा सकता है। मार्क्स के इस सिद्धांत को संपूर्ण विश्व के इतिहास में एक क्रांति के बीज बोने वाला माना जाता रहा है, अतः सभी सिद्धांतों में यह एक प्रमुख सिद्धांत है। इस सिद्धांत के साथ ही मार्क्स ने हेगेल द्वारा प्रतिपादित इतिहास के आदर्शात्मक पहलू को नकारते हुए भौतिकवादी व्याख्या को प्रमुखता के साथ पेश किया। ऐतिहासिक भौतिकवाद के माध्यम से मार्क्स इतिहास को एक नए कलेवर में पेश करते हैं जिसके

केंद्र में आर्थिक प्रणालियां हैं और जो सभी निर्णायक ऐतिहासिक घटनाओं को चलाने वाली महत्वपूर्ण ताकत है।

टिप्पणी

ऐतिहासिक भौतिकवाद सिद्धांत के अनुमान

1. भौतिक जगत अर्थात आर्थिक तत्व ही किसी भी सामाजिक विकास की प्रक्रिया में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इतिहास में भी हुए सभी सामाजिक परिवर्तनों का आधार यही रहा है।
2. कुछ वैज्ञानिक नियमों के आधार पर ही समाज का विकास होता है। मानवीय मूल्यों, चेतनाओं एवं क्षमताओं को कमतर आंका गया है।
3. मनुष्य के सामाजिक जीवन के विकास के नियमों का पता लगाने के लिए इतिहास का अध्ययन जरूरी माना गया है।
4. उत्पादकीय संबंधों में परिवर्तन का आधार उत्पादक शक्तियों में होने वाला परिवर्तन है।
5. उत्पादन के साधनों पर जिस वर्ग का प्रभुत्व होता है, प्रत्येक युग में समस्त सामाजिक व्यवस्था पर आधिपत्य भी उसी वर्ग का होता है।
6. नैसर्गिक क्रिया या संयोग की उपस्थिति को नकारते हुए यह सिद्धांत कहता है कि सामाजिक जीवन के परिवर्तन केवल आर्थिक कारकों की वजह से ही होते हैं।
7. वर्ग–संघर्ष को सामाजिक व्यवस्थाओं में परिवर्तन का सबसे महत्वपूर्ण माध्यम मानते हुए यह सिद्धांत इस बात पर जोर देता है कि दासता अवस्था से लेकर सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद तक वर्ग–संघर्ष ही सामाजिक विकास का रास्ता है। हालांकि साम्यवादी युग की स्थापना के साथ ही इस वर्ग–संघर्ष का अंत हो जाएगा एवं एक वर्ग–विहीन समाज की स्थापना होगी।
8. इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या के माध्यम से मार्क्स पूंजीवादी काल के उन्मूलन एवं साम्यवादी समाज के स्थापन की अनिवार्यता को प्रस्तुत करता है।

मार्क्स ने अपने इस सिद्धांत में स्पष्ट रूप से यह बताया है कि कुछ निश्चित नियमों के आधार पर ही सामाजिक आर्थिक संरचना में बदलाव होते हैं। मार्क्स के विचार में अलग–अलग समय–काल–खण्ड में दार्शनिकों ने केवल अनेक तरीकों से समाज की व्याख्या की है, लेकिन सवाल जमाने को बदलने का है, इसलिए मार्क्स ऐतिहासिक भौतिकवाद की अवधारणा को समाजविज्ञानों में रखने वाले पहले विचारक हुए। मार्क्स इतिहास के प्रवाह को आवश्यक मानते हैं एवं उनके विचार में सुनिश्चित योजना के अनुसार अगर इस प्रवाह को संचालित किया जाए तो यह एक सुनिश्चित लक्ष्य की ओर बढ़ सकता है। इस सिद्धांत का मूलमंत्र यही है कि मनुष्य की मूलभूत जरूरत भोजन, कपड़ा और मकान है। इसके बाद ही वह धर्म, कला, आदर्श एवं राजनीति के संबंध में सोचता है। इस संबंध में मार्क्स एवं एंगेल्स ने 'द जर्मन आइडियोलाजी' में उल्लेखित किया है कि सबसे पहले मनुष्य के लिए आवश्यक उन साधनों का उत्पादन है कि जिससे भोजन, वस्त्र एवं आवास की जरूरत पूरी हो सके यानी कि भौतिक जीवन को सुनिश्चित करना ही सबसे पहला काम है। वास्तव में यही ऐसा ऐतिहासिक कार्य है जो कि हजारों वर्ष पहले की तरह आज भी मानव जीवन को

चलाने के लिए सबसे जरूरी है। अतः उत्पादन की प्रक्रिया ही समाज के संगठन और उसकी ऐतिहासिक घटनाओं को तय करती है। इस सिद्धांत के रूप में मार्क्स यही स्पष्ट करना चाहते हैं कि इतिहास का विकास विचार, आत्मा या आदर्शों के बल पर नहीं हुआ है न ही होगा बल्कि उसका असल आधार समाज का आर्थिक जीवन, उसकी उत्पादन क्षमता एवं उसके संबंध हैं। जैसा कि मार्क्स की अवधारणा कहती है कि उत्पादन प्रणाली के हर परिवर्तन के साथ ही समाज का आर्थिक संबंध और उसकी सामाजिक व्यवस्था आदि में भी बदलाव हो जाता है।

टिप्पणी

2.3.1 विभिन्न चरणों के माध्यम से मानव समाज के परिवर्तन की व्याख्या

मार्क्स ने मनुष्य के इतिहास को पांच चरणों में विभक्त किया है। मार्क्स के अनुसार इन पांच चरणों में से तीन अब समाप्त हो चुके हैं एवं इतिहास का हिस्सा हैं, चौथा युग चल रहा है एवं पांचवां युग अभी भी आना बाकी है।

आदिम साम्यवादी युग

सामाजिक व्यवस्था की सबसे प्रारंभिक अवस्था के रूप में इस काल में उत्पादन के साधन बहुत सरल व सीमित थे। इस युग में उत्पादन के साधनों पर सबका बराबर का अधिकार होता था। उत्पादन एवं वितरण की प्रक्रिया साम्यवादी ढंग से होती थी। अनगढ़ औजारों से भोजन एकत्र कर, जानवरों से स्वयं की एवं अपने समुदाय की रक्षा करने से लेकर आसरा बनाने तक का कार्य पूरा समाज संयुक्त रूप से करता था। संयुक्त श्रम के कारण ही उत्पादन के साधनों पर सबका समान अधिकार एवं उससे उत्पन्न पदार्थों की भी सबमें बराबर बांट की व्यवस्था सुचारू रूप से चलती रहती थी। उस काल में किसी भी प्रकार की वर्ग प्रथा या शोषण नहीं था क्योंकि उत्पादन के साधनों पर एकाधिकार करने जैसी अवधारणा का तब तक अस्तित्व ही नहीं था।

दासता युग

इस युग में पहले पशुपालन एवं खेती जैसे कार्यों का आविष्कार मानव ने किया एवं उसके साथ ही पहले से उन्नत धातुओं के औजारों का उपयोग शुरू हुआ। यहीं से बलशाली का साधनों पर स्वामित्व एवं दास व्यवस्था की शुरुआत भी हुई। उत्पादन के साधनों पर मालिकों का अधिकार हुआ एवं उत्पादन में लगे श्रमिकों पर भी उनके अधिकार की भावना को बल मिला। इस युग में निजी संपत्ति के संचय की अवधारणा का विकास हुआ, संपत्ति कुछ लोगों के अधिकार में जमा होने लगी एवं सम्पन्न वर्ग ने अभाव झेल रहे वर्ग को दास बनाकर रखा। पहले की तरह न ही संसाधनों का समान अधिकार सबको प्राप्त था न ही उत्पादन में सबकी भूमिका समान थी, बल्कि दासत्व के आविर्भाव से शोषक और शोषित के रूप में दो वर्गों का जन्म हुआ। दो वर्गों में समाज के हुए इस नए विभाजन से संघर्ष की प्रवृत्ति को बल मिलना भी स्वाभाविक था।

सामंतवादी युग

यह युग सामंती व्यवस्था यानी उत्पादन के साधनों के रूप में भू–स्वामी बनकर राज करने की प्रवृत्ति को जन्म देने वाला था। गरीब किसान आधे दास के रूप में ही इन सामंतों के अधीन कार्य करने पर मजबूर थे। उत्पादन का कार्य इन्हीं भूमिहीन किसानों

टिप्पणी

से करवाया जाता था। दास न होते हुए भी यह कृषक तमाम बंधनों से युक्त दासता भरा जीवन ही जी रहे थे। न केवल खेतों में किसानी बल्कि युद्ध के समय एक सैनिक की भूमिका भी इन्हें ही निभानी पड़ती थी। इन सबके बदले इन कृषकों को अपने निर्वाह के लिए भूमि मिलती थी। सम्पत्ति अर्जन की प्रवृत्ति इस युग में और प्रबल हुई। सामंतों द्वारा वर्षों किसानों का शोषण किए जाने की सूरत में दासत्व युग की तरह ही इस काल में भी दो वर्गों के बीच संघर्ष की स्थिति बनी रही।

पूंजीवादी अवस्था

चौथी अवस्था में मार्क्स ने आधुनिक पूंजीवाद को रखा है। इस युग की शरुआत वे औद्योगिक क्रांति के बाद से मानते हैं। आधुनिक मशीनों के आविष्कार के साथ ही बड़े उद्योग धन्धों के जन्म से ही उत्पादन के संसाधनों पर पूंजीपतियों का प्रभुत्व और बढ़ता गया। उत्पादन के कार्य में लगे श्रमिकों को इस काल में एक पूर्वनिश्चित रकम वेतन के रूप में दी जाती थी परंतु फिर भी अभावयुक्त जीवन के लिए वह कम मेहनताने में ही पूंजीपतियों को अपना श्रम बेचने को मजबूर थे। इस प्रकार की व्यवस्था को भी मार्क्स ने आर्थिक शोषण का ही नाम दिया। क्योंकि उत्पादन के साधनों पर श्रमिकों का कोई अधिकार नहीं होता, वे सिवाय पूंजीपतियों के नौकर बने रहने के कुछ और करके भी अपनी माली हालत को सुधारने में असमर्थ ही रहे। ये श्रमिक पहले के युगों के विपरीत व्यक्तिगत रूप से तो स्वतंत्र हुआ करते थे परंतु आर्थिक परतंत्रता के कारण, उनका जीवन बंधुआ ही माना गया। मार्क्स के सिद्धांत के अनुसार श्रम के मुकाबले विसंगति युक्त वेतनभोगी वर्ग का पूंजीपतियों ने अपने फायदे के लिए शोषण किया जिससे उत्तरोत्तर श्रमिकों की हालत दयनीय होती जाएगी। अंततः यह श्रमिक वर्ग बाध्य होकर क्रांति करेगा और उत्पादन के साधनों पर कब्जा जमाकर बैठे पूंजीपतियों के एकछत्र राज को उखाड़ फेंकेगा। इस प्रकार सर्वहारा वर्ग अधिनायक की भूमिका में स्थापित होकर एक समाजवादी युग के आगमन के लिए झंडा बुलंद करेगा।

आधुनिक अवस्था

पांचवां और अंतिम युग मार्क्स की कल्पनाओं का युग है जिसमें उसने सर्वहारा क्रांति से उत्पन्न एक ऐसे युग की कल्पना की है जो वर्ग–विहीन, राज्य–विहीन और शोषण मुक्त होगा। मार्क्स की ऐसी कल्पना सर्वहारा वर्ग द्वारा की गई खूनी क्रांति पर आधारित है। बकौल मार्क्स ऐसी क्रांति से सर्वहारा वर्ग पूंजीपतियों को जड़ से मिटा कर राज्य एवं शासकीय ताकतों पर अपना प्रभुत्व जमा लेगा। लेकिन मार्क्स का सिद्धांत यह भी स्वीकार करता है कि श्रमिक वर्ग के अधिकार में राज्य की शक्ति आ जाने के बावजूद भी पूंजीपति स्तर के लोगों का संपूर्ण खात्मा नहीं होगा और वे फिर से संगठित होकर नई समाजवादी व्यवस्था को पलटने की पुरजोर कोशिश करेंगे और संघर्ष की संभावना बनी रहेगी। इसके लिए नए सिरे से समूचे समाज के पुनःनिर्माण की तैयारी करनी होगी ताकि पूंजीवादी ताकतों का अस्तित्व पूर्णतः मिटाया जा सके। मार्क्स ने इसे ही संक्रमणकालीन अवस्था माना। इस युग में प्रमुखता से जिन व्यवस्थाओं को दुरुस्त किए जाने या मिटाने की बात मार्क्स करते हैं उनमें से जमीन के व्यक्तिगत अधिकार, व्यापार तथा वाणिज्य का नियमन, संपत्ति के उत्तराधिकार का उन्मूलन, कारखानों में बाल–श्रम का निषेध और हर प्रकार के एकाधिकार या विशेषाधिकार का पूर्णतः समापन शामिल है।

2.3.2 आर्थिक नियतिवाद एवं उत्पादन प्रक्रिया

टिप्पणी

मार्क्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद पर आधारित ऐतिहासिक व सामाजिक विकास की व्याख्या को ही इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या का नाम दिया गया। अनेक विद्वानों ने इस सिद्धांत को ही आर्थिक नियतिवाद आदि नामों से भी पुकारा। इस प्रकार मार्क्स का यह सिद्धांत स्वयं एक भ्रमजाल बनकर ही रह गया।

आर्थिक नियतिवाद मूल रूप से इसी बात पर जोर देता है कि ऐतिहासिक विकास का निर्णायक तत्व उत्पादन शक्तियां हैं। आर्थिक नियतिवाद यह स्पष्ट करता है कि मनुष्य जो कुछ भी करता है उसका निर्णय आर्थिक या भौतिक आधार पर ही होता है। साफ शब्दों में मार्क्स ने मानव को आर्थिक ताकतों का दास मान कर इस सिद्धांत में बताया है कि इतिहास का निर्धारण अंतिम रूप में आर्थिक परिस्थितियों के अनुसार होता है। कई विद्वानों ने यहां तक माना कि मार्क्स के सिद्धांत का नाम इतिहास की आर्थिक व्याख्या ही होना चाहिए लेकिन मार्क्स ने भौतिकवादी शब्द का प्रयोग किया। आर्थिक नियतिवाद का सिद्धांत यह कहता है कि किसी भी समाज की राजनैतिक संस्थाएं, उसके व्यापार और उद्योग, कला, दर्शन, रीतियां, आचरण, परम्पराएं, नियम, धर्म तथा नैतिकता सभी भौतिक जरूरतों द्वारा ही प्रभावित होकर अपने स्वरूप को पाती हैं। जीवन की भौतिक अवस्थाओं से मार्क्स का तात्पर्य वातावरण, उत्पादन, वितरण और विनिमय से है और उनमें से उत्पादन सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। मार्क्स ने अपने इस सिद्धांत को इतिहास और भविष्य दोनों में होने वाली क्रांतियों के लिए किया है। मार्क्स के अनुसार प्राचीनकाल में क्रांति सामंतवादियों के खिलाफ बुर्जुआवादियों की थी और भविष्य में क्रांति बुर्जुआवादियों के खिलाफ सर्वहारा वर्ग की होगी।

मार्क्स ने हेगेल के वाद, प्रतिवाद एवं संवाद पर आधारित समाज के द्वंद्वात्मक विकास की बात को स्वीकार तो किया लेकिन यह पाया कि द्वंद्वात्मक विकास का आधार वैचारिक न होकर भौतिकवादी है एवं अपनी व्याख्या में यह स्पष्ट किया कि एक उत्पादन प्रक्रिया जब समाज की अपेक्षाओं पर खरी नहीं उतरती है तो उसकी जगह दूसरी प्रणाली का जन्म होता है और इस प्रकार सामाजिक परिवर्तन से एक नए समाज का निर्माण होता है। सिद्धांत कहता है कि परिवर्तन और विकास की यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है जब तक समाज में साम्यवादी व्यवस्था स्थापित नहीं हो जाती। हेगेल के दर्शन की यह मान्यता थी कि समाज अपने आप में संतुलन की अवस्था में होता है। परंतु मार्क्स के विचार में समाज में ऐसा कोई संतुलन नहीं होता बल्कि उसमें भेद, असंतुलन व असमानताएं मौजूद होती हैं और वही वर्ग संघर्ष का आधार बनती हैं। मार्क्स के बाद के विचारकों ने मार्क्स द्वारा प्रतिपादित ऐतिहासिक भौतिकवाद को समाज की असमानता के अध्ययन का एक विशेष विज्ञान माना जिसके साथ–आर्थिक असमानता के साथ–साथ समाज की संरचनात्मक असमानता का भी अध्ययन किया जा सकता है। आसान शब्दों में मार्क्स का ऐतिहासिक भौतिकवाद का सिद्धांत मानव इतिहास के दर्शन पर आधारित है फिर भी इतिहास का दर्शन नहीं है बल्कि इसे मानवीय गुणों वाले एक समाजशास्त्रीय सिद्धांत के रूप में देखा जा सकता है। यह इस बात का दावा करता है कि समाज में परिवर्तन लाने के लिए एक क्रांतिकारी कार्यक्रम भी इसमें शामिल है।

टिप्पणी

2.3.3 आधार और अधिरचना का सिद्धांत

आर्थिक नियतिवाद के आधार पर ही मार्क्स ने समाजवादी युग के बाद साम्यवादी युग आने की बात की। सर्वहारा वर्ग की क्रांति के बाद उत्पादन के साधनों पर सर्वहारा का आधिपत्य हो और संक्रमणकाल से गुजरने के बाद समाजवादी व्यवस्था पूरी तरह साम्यवादी व्यवस्था में तब्दील हो जाएगी। यह स्थिति राज्यविहीन समाज के हालात उत्पन्न करेगी एवं समानता का साम्राज्य स्थापित होगा। पूंजीपति वर्ग का जड़ से उन्मूलन हो जाएगा और समाज में श्रमजीवियों का वर्ग ही राज करेगा। विरोधी वर्ग के खात्मे के साथ ही वर्ग संघर्ष की भी समाप्ति हो जाएगी अर्थात शोषण के सभी साधन भी नष्ट हो जाएंगे और इससे आदर्श समाज की अवस्था आएगी। मार्क्स के आर्थिक नियतिवाद के सिद्धांत के अंतर्गत उत्पादन शक्तियों के आधार पर सामाजिक संरचना को दो हिस्सों में विभाजित किया गया है। पहली संरचना में मनुष्य को अपनी मूलभूत जरूरत– भोजन, निवास एवं वस्त्र को पूरा करने की जरूरत है। दूसरी संरचना में मानव की कला, संस्कृति, दर्शन, धर्म एवं परम्पराओं आदि आवश्यकताओं को पूरा करने की बात कही गई है। मार्क्स ने इन दोनों संरचनाओं के परस्पर संबंध की बात कही है। मार्क्स की इस अवधारणा के अनुसार सर्वहारा क्रांति के रूप में समाज के आधार संरचना में बदलाव होगा जिसके परिणामस्वरूप अधिरचना में भी परिवर्तन निश्चित है। दूसरी संरचना का प्रभाव पहली संरचना पर अधिक न होने की स्थिति में पहली संरचना का प्रभाव उत्पादन प्रक्रिया पर सर्वाधिक होता है।

हालांकि मार्क्स के इस सिद्धांत की आलोचना के कुछ मजबूत आधार हैं लेकिन फिर भी इस सिद्धांत की पूरी तरह से उपेक्षा नहीं की जा सकती। जोड के मतानुसार ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धांत ने मार्क्स को अन्य किसी भी सिद्धांत के मुकाबले सबसे अधिक लोकप्रियता दिलाई है। यही वह सिद्धांत है जिसके माध्यम से मार्क्स ने इतिहास के वैज्ञानिक अध्ययन की परंपरा की शुरुआत की। मार्क्स ने अपने इस सिद्धांत के माध्यम से आर्थिक कारकों पर जोर देकर सामाजिक विज्ञान के क्षेत्र में एक नई शुरुआत की है। भले ही समाजशास्त्री मार्क्स के विचारों को स्वीकार न करते हों, परंतु एक नई प्रथा की शुरुआत के लिए आधुनिक युग के विचारक एवं लेखक मार्क्स के ऋणी जरूर हैं।

अपनी प्रगति जांचिए

3. मार्क्स ने ऐतिहासिक भौतिकवाद को कितनी अवस्थाओं में विभक्त किया है?

   (क) तीन (ख) चार

   (ग) पांच (घ) छह

4. मार्क्स के किस सिद्धांत के अंतर्गत सामाजिक संरचना को दो भागों में विभाजित किया गया है?

   (क) आर्थिक नियतिवाद (ख) अधिरचना का सिद्धांत

   (ग) द्वंद्वात्मक भौतिकवाद (घ) इनमें से कोई नहीं

[redacted]पूंजी के संचय व केंद्रीकरण के संदर्भ में मार्क्स का विश्लेषण

टिप्पणी

उन्नीसवीं शताब्दी में रची गई कार्ल मार्क्स की अनेकानेक कृतियों में से दो सबसे प्रभावकारी कृतियां रहीं 'कम्युनिस्ट घोषणा पत्र' एवं 'दास कैपिटल' ने एक समय विश्व के कई देशों के करोड़ों लोगों को राजनैतिक और आर्थिक रूप से काफी प्रभावित किया था। नतीजतन बीसवीं शताब्दी के घटनाक्रमों पर समाजवादी विचारों का काफी असर रहा। रूसी क्रांति के बाद सोवियत संघ का खड़ा होना इस बात का ही उदाहरण था। हालांकि विशेषज्ञ इस बात से इंकार नहीं करते की मार्क्स एवं एंगेल्स के सिद्धांतों वाला साम्यवाद दुनिया में आना अब भी बाकी है। यह बात और है कि साम्यवाद की विफलता के बावजूद मार्क्स के विचार आज भी प्रासंगिक बने हुए हैं। ऐसे ही एक सिद्धांत की चर्चा मार्क्स ने अपनी पुस्तक दास कैपिटल में की जिसका आधार मूल्य के श्रम सिद्धांत पर आधारित है। आम भाषा में अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत के नाम से प्रचलित यह सिद्धांत कार्ल मार्क्स की राजनैतिक सिद्धांतों की सूची में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यह सिद्धांत मूलतः पूंजीपति वर्ग द्वारा श्रमिक वर्ग के शोषण करने के तरीकों को उजागर करता है। विचारकों ने मार्क्स के इस सिद्धांत को रिकार्डो एवं एडम स्मिथ अर्थशास्त्रियों द्वारा रचित मूल्य के श्रमिक सिद्धांत का ही प्रसार माना है। अतः कहा जा सकता है कि अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत श्रम सिद्धांत का ही उत्तराधिकारी है।

मार्क्स द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत में यह कहा गया है कि पूंजीपतियों की संपत्ति कई अनगिनत वस्तुओं का भंडार है, जहां सबकी अपनी कीमत होती है। ऐसी ही एक वस्तु श्रम है जिसकी भी एक निश्

टिप्पणी

तत्व मानकर ही मार्क्स ने अपने अतिरिक्त मूल्य के सिद्धांत की व्याख्या की है। मार्क्स का सिद्धांत कहता है कि उत्पादन की प्रक्रिया में पूंजीवादी व्यवस्था के चलते श्रमिक को विनिमय मूल्य के बराबर वेतन या मेहनताना नहीं मिलता, बल्कि उसकी तुलना में काफी कम मूल्य देकर विनिमय का अधिकांश भाग पूंजीपति खुद हड़प लेते हैं। पूंजीपतियों द्वारा हड़प लिए गए लाभ को ही मार्क्स ने अतिरिक्त मूल्य कहा है। मार्क्स के अनुसार उपयोग मूल्य व विनिमय मूल्य में से श्रमिक के वेतन को घटा देने से जो मूल्य बचता है, उसे ही अतिरिक्त मूल्य कहा जाता है। मार्क्स मानता है कि यह अतिरिक्त लाभ दो मूल्यों का अंतर है, जिसे मजदूर पैदा करता है और उसका एक हिस्सा श्रमिक को ही मिलना चाहिए परंतु वास्तविकता में मजदूरों से प्राप्त करके भी पूंजीपति मजदूरों को ऐसा कोई मूल्य नहीं चुकाता। उदाहरणस्वरूप अगर एक मजदूर 6 घंटे काम करके एक कालीन बनाता है जिसका विनिमय मूल्य 300 रुपये है। इस काम के बदले श्रमिक को केवल 100 रुपये की मजदूरी मिली बाकी के 4 घंटे की मेहनत के 200 रुपये मालिक अर्थात पूंजीपति ने हड़प लिए। मार्क्स के इस सिद्धांत के अनुसार बाकी के 200 रुपयों पर भी श्रमिक का ही अधिकार है लेकिन आदतन पूंजीपति ने इस अतिरिक्त मूल्य को अपनी जेब में रख लिया। मार्क्स की नजर में यह श्रम का शोषण ही है। मजदूर को केवल उतनी ही मजदूरी दी जाती थी जितने में उसका पेट भर सके और वह मजदूरी करने के लायक बना रहे। इसे मजदूरी का लौह नियम कहा जाता है। इसी के आधार पर पूंजीपति श्रमिक का वेतन निश्चित करके अतिरिक्त मूल्य पर अपना अधिकार बनाए रखता है। पूंजीपति की मंशा होती है कि इस अतिरिक्त मूल्य को ज्यादा से ज्यादा बढ़ाया जाए, जिसके लिए वे मजदूरों का शोषण करते हैं। इस शोषण को रोकने का मार्क्स ने एकमात्र उपाय यही सुझाया है कि उत्पादन एवं विनिमय से पैदा हुए अतिरिक्त मूल्य को श्रमिकों को दिया जाए। जिस वस्तु के उत्पादन में अधिक श्रम लगा हो उसका मूल्य अधिक और जिसमें कम श्रम लगा हो उसका मूल्य कम होता है इस प्रकार किसी भी चीज के उत्पादन और क्रय–विक्रय में श्रम की ही सबसे महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

मार्क्स के अतिरिक्त मूल्य के सिद्धांत की कमियां

मार्क्स का यह सिद्धांत बड़े बड़े दावों से सुसज्जित एक सामाजिक और राजनैतिक विचार ज्यादा नजर आता है, जिसमें वैज्ञानिक दृष्टि से देखे जाने पर कई खामियां नजर आती हैं। कई विचारकों ने इसमें अर्थशास्त्रीय सच्चाई की बेहद कमी पाते हुए इसकी कड़ी आलोचना की है।

(क) मार्क्स ने उत्पादन का एकमात्र साधन श्रम को माना जबकि भूमि, पूंजी, उद्यम आदि महत्वपूर्ण साधनों की उपयोगिता को दरकिनार करते हुए इन साधनों पर लाभ के वितरण की कोई बात नहीं की है।

(ख) मार्क्स ने मानसिक श्रम के ऊपर शारीरिक श्रम को ही अधिक महत्व दिया है। जबकि वास्तविकता में पूंजीपति अतिरिक्त मूल्य का प्रयोग नई मशीनें लाने एवं अन्य संसाधन जुटाने में भी करता है। परंतु मार्क्स का मानना है कि मशीनों, कच्चे माल का एवं अन्य संसाधनों का इस अतिरिक्त मूल्य को पाने में कोई योगदान नहीं है, यह केवल श्रम से ही पाया जा सकता है।

टिप्पणी

(ग) मार्क्स ने इस सिद्धांत में उत्पादन की प्रक्रिया में पूंजीपतियों द्वारा किए गए खर्च का कोई ब्योरा नहीं दिया है। मार्क्स ने यह कहीं भी उल्लेखित नहीं किया है कि पूंजीपति को अतिरिक्त मूल्य का एक बड़ा हिस्सा मजदूरों को अच्छा माहौल, बोनस एवं मशीनों के रखरखाव आदि में भी खर्च करना पड़ता है। जबकि उन्होंने इस वास्तविकता को दरकिनार कर इसे पूंजीपतियों द्वारा हड़प लिए जाने की बात को ही प्रमुखता से पेश किया है।

(घ) मार्क्स के इस सिद्धांत पर अस्पष्टता के भी आरोप लगे हैं। अलेकजैण्डर ग्रे ने कहा है कि अपने सिद्धांत में मार्क्स ने जिन पूंजीपतियों और मजदूरों की बात की है वे इस लोक के नहीं लगते। मार्क्स ने मूल्य, दाम आदि शब्दों का प्रयोग बड़े ही मनमाने ढंग से करते हुए मजदूरी बढ़ाने से मुनाफा बढ़ाने जैसी अस्पष्ट सी बातें की हैं, जिनमें कार्यकुशलता एवं तकनीकी साधन व ज्ञान का मुनाफा वृद्धि में योगदान नहीं माना है। मार्क्स के इस सिद्धांत को अर्थ केंद्रित न मानते हुए इसे नैतिकता पर आधारित एक सामाजिक व्याख्या माना गया है। मार्क्स का सिद्धांत आर्थिक हित की बात न करते हुए सामाजिक हित एवं मानव मूल्यों की बात करता है।

पूंजीवादी व्यवस्था में पूंजी के संचय एवं केंद्रीकरण से बढ़ता शोषण

अतिरिक्त मूल्य का यह सिद्धांत मार्क्स का मौलिक सिद्धांत न होने के कारण एवं उत्पादन के विभिन्न पहलुओं की अनदेखी करने के कारण अनेक भ्रांतियों का पुतला बन गया और आलोचना का शिकार हुआ। कई आलोचकों ने मार्क्स के इस सिद्धांत को पूंजीपतियों का चरित्र चित्रण करने वाला एवं सर्वहारा वर्ग के शोषण को दिखाने एवं समाजवाद द्वारा उसे दूर करने के उपायों का एक सिद्धांत बताया एवं इसके नामकरण पर ही सवाल उठाए। तमाम आलोचनाओं के बावजूद मार्क्स के इस सिद्धांत को पूंजीवादी व्यवस्था में श्रमिकों पर होने वाले अत्याचारों की विवेचना का एक प्रमुख आलेख माना जाता है। कई विचारकों ने यह माना है कि भले ही मार्क्स की भविष्यवाणियां समय के साथ अप्रासंगिक साबित हुई हों लेकिन उसके द्वारा पूंजीवाद का ऐसा तर्कपूर्ण विश्लेषण किसी ने नहीं किया है। सेबाइन मार्क्स के इस सिद्धांत के महत्व को स्वीकार करने वाले एक महत्वपूर्ण व्यक्ति के रूप में कहते हैं कि "अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत एक ऐसा मूल तत्व है जो पूंजीवाद को हिला देने वाली विभीषिकाओं को उजागर करता है। यह सिद्धांत काफी तर्कपूर्ण तथा मजबूत है कि इसे चुनौती नहीं दी जा सकती। मार्क्स का अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत पूंजीवाद के विरुद्ध श्रमिकों के हितों की हिमायत करने का बेहतरीन हथियार है। यदि इस सिद्धांत को आधा भी अपना लिया जाए तो श्रमिक वर्ग के लिए प्रगति के नए रास्ते निकल आएंगे और उन पर मार्क्स का कर्ज युगों–युगों तक के लिए रह जाएगा। इस प्रकार सामाजिक विषमता का भी लगभग अंत किया जा सकेगा। विचारकों ने मार्क्स के इस सिद्धांत तो पूंजीवादी समाज में सर्वहारा के प्रति हो रहे शोषण की व्याख्या करने के लिए विकसित किया गया सिद्धांत माना है। प्राचीन अर्थशास्त्रियों से प्रेरित मार्क्स अपने इस सिद्धांत के अंतर्गत श्रम को भी एक वस्तु के रूप में आंकते हैं। उनके विचार से किसी भी वस्तु के उत्पादन में श्रम का स्थान ही सबसे महत्वपूर्ण होता है, जिसके अभाव में उत्पादन के अन्य कारकों जैसे भूमि, पूंजी और संगठन का कोई

टिप्पणी

काम नहीं। वस्तु के समान ही श्रम को भी बेचा और खरीदा जा सकता है। इसी श्रम को खरीदने के लिए पूंजीपति कम कीमत अदा करते हैं बदले में उस श्रम से उत्पादित वस्तु को बेचकर जो अतिरिक्त मूल्य प्राप्त करते हैं उसका लाभ श्रमिकों को देने की बजाय वह खुद उठाते हैं। इसे ही मार्क्स पूंजीपतियों द्वारा किया गया श्रमिकों का आर्थिक शारीरिक शोषण मानते हैं। मार्क्स का सिद्धांत कहता है कि श्रम इतना महत्वपूर्ण है कि यही उत्पादन के अन्य कारकों को उत्पादक बनाता है अन्यथा वह किसी काम के नहीं। इस सिद्धांत में मार्क्स इस बात को विस्तारित करते हैं कि अगर श्रमिक को दिया जाने वाला मेहनताना उसके द्वारा उत्पादित कीमत के अनुपात में दिया गया है, तो वह शोषण नहीं होता, लेकिन पूंजीवादी व्यवस्था में ऐसा होना संभव नहीं यह भी वह मानते हैं। श्रम की तुलना उत्पादन के अन्य साधनों से करते हुए मार्क्स यह भी कहते हैं कि श्रम सदैव ही अपने रख–रखाव की कीमत से ज्यादा कीमत का उत्पादन करता है, जबकि बदले में उसे वास्तव में कम वेतन मिलता है। प्राचीन अर्थशास्त्रियों के मत में श्रमिक द्वारा उत्पन्न यही अतिरिक्त मूल्य मालिक का लाभ होता है, जिसके संचय को वे सही मानते हैं। क्योंकि यही अतिरिक्त मूल्य भविष्य में व्यापार के लिए संपत्ति संग्रह करने के काम आता है, जिसे मौजूदा उद्योग को आगे बढाने या फिर नए उद्योग स्थापित करने के लिए प्रयोग किया जाता है, जिससे समाज एवं राष्ट्र का विकास संभव है। परंतु मार्क्स के विचारों से इत्तेफाक रखने वाले मार्क्सवादी विचारधारा के लोगों के अनुसार, यह श्रमिकों का शोषण है, जिसे एक बेहतर समाज के निर्माण के लिए हरसंभव प्रयास करते हुए समाप्त किया जाना चाहिए। मार्क्स ने अपने इस सिद्धांत के पक्ष में तर्क दिया है कि समाज में ज्यों–ज्यों पूंजीवाद का विकास होता है प्रतियोगिता बढ़ती जाती है और श्रमिकों के वेतन में लगातार कमी की जाने लगती है, क्योंकि पूंजीपतियों के बीच भी अधिक से अधिक मुनाफा बनाने की होड़ लगी होती है। इस सूरत में सर्वहारा को केवल गुजर–बसर करने योग्य वेतन ही मिल पाता है। मार्क्स के अनुसार केवल जीवन यापन करने योग्य वेतन न्यूनतम वेतन होता है, जो कि मेहनतकश वर्ग के बीच घोर असंतुष्टि को पैदा करता है। इस प्रकार गहरी प्रतिस्पर्धा सर्वहारा की अत्यधिक क्षति का परिचायक है। यही नीति वर्ग संघर्ष को प्रोत्साहित करती है और अंततः शोषित एवं असंतुष्ट सर्वहारा वर्ग क्रांति को जन्म देता है। मार्क्स के मुताबिक समस्या मूल रूप से उत्पादन के साधनों एवं पूंजी का चंद हाथों में केंद्रित होने की है, जिसकी वजह से ही बेरोजगारी बढ़ती है और मजदूरी में गिरावट आती है। मार्क्स के इस सिद्धांत में श्रमिक वर्ग से एक अपील एवं पूंजीपति वर्ग को एक चेतावनी भी है कि अगर पूंजीपति वर्ग अतिरिक्त मूल्य का सारा लाभ स्वयं ही हड़पते हुए गरीब श्रमिक को गरीब भी बने रहने देने पर मजबूर करते रहेंगे, तो वह दिन दूर नहीं जब वह एक क्रांति की शुरुआत करें जिसके परिणाम पूंजीपतियों के लिए घातक साबित हो सकते हैं। गौरतलब है कि मार्क्स के इसी सिद्धांत से ही मिलती–जुलती बात महात्मा गांधी ने भी कही है कि "जो धन पूंजीपतियों ने समाज से कमाया है उन्हें अपने आपको उस धन का मात्र प्रन्यासी (ट्रस्टी) मानना चाहिए और इस धन को समाज के कल्याण में खर्च करना चाहिए।"

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

5. 'दास कैपिटल' पुस्तक के लेखक कौन हैं, जिसके आधार पर अतिरिक्त मूल्य के सिद्धांत की अवधारणा की गई?

   (क) एडम स्मिथ (ख) रिकार्डो

   (ग) एंगेल्स (घ) कार्ल मार्क्स

6. "अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत एक ऐसा मूल तत्व है जो पूंजीवाद को हिला देने वाली विभीषिकाओं को उजागर करता है।" यह किसका कथन है?

   (क) सेबाइन (ख) कार्ल मार्क्स

   (ग) हेगेल (घ) इनमें से कोई नहीं

2.5 मार्क्स का वर्ग–संघर्ष का सिद्धांत, सर्वहारा क्रांति एवं वर्गविहीन समाज

कार्ल मार्क्स का सामाजिक परिवर्तन का सिद्धांत वर्ग संघर्ष के सिद्धांत के नाम से ही जाना जाता है। उनके अनुसार उत्पादन प्रणाली ही सामाजिक परिवर्तन का मूल कारण है एवं यही समाज की आर्थिक संरचना को निर्धारित करता है, जिसके फलस्वरूप समाज में आर्थिक विषमता के कारण सदैव से ही दो वर्ग रहे हैं। पहला पूंजीधारी वर्ग एवं दूसरा श्रमिक वर्ग। मार्क्स ने इन्हें सम्पन्न एवं विपन्न के रूप में भी विभाजित किया है। मार्क्स के मतानुसार आदिकाल से समाज में जितने भी परिवर्तन हुए हैं वे इन्हीं दोनों वर्गों के भेद मतभेद के कारण हुए हैं, अर्थात इन दोनों वर्गों की प्रमुखताएं एवं हित एक दूसरे के परस्पर विरोधी रहे हैं। मार्क्स के अनुसार, यदि ऐतिहासिक रूप से देखें तो जैसे–जैसे उत्पादन की प्रणाली बदलती गई वैसे–वैसे समाज बदलता है। परंतु समाज में द्विवर्गीय व्यवस्था बनी रही है। ऐतिहासिक भौतिकवाद के अपने सिद्धांत में इन दो वर्गों के संघर्ष के इतिहास का ही गहनता से अध्ययन एवं विश्लेषण किया था। मार्क्स ने पूंजीवादी समाज से पहले के समाज में दास एवं कृषक श्रमिकों को स्वयं में वर्ग (class in itself) कहा है, क्योंकि उनकी आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियां एक समान थीं, परंतु एकजुटता के अभाव में वे असंगठित थे और इन विषमताओं को वर्ग–संघर्ष का रूप नहीं दे सके। परंतु मार्क्स की भविष्यवाणी के अनुसार पूंजीवादी काल में यह संघर्ष होकर रहेगा, क्योंकि इस समाज में शोषण अपने चरम पर एवं श्रमिक वर्ग अपने सबसे संगठित एवं ताकतवर स्वरूप में उभरेगा। इस सिद्धांत को विस्तारित करते हुए मार्क्स कहते हैं कि पूंजीवादी समाज में उत्पादन केवल लाभ के लिए होता है, जबकि पूर्व काल में उपभोग के लिए होता था। इसके अलावा इस काल में उत्पादन के मशीनीकरण के कारण श्रम के महत्व में कमी आएगी। पूंजीवादी और श्रमिक के बीच केवल अर्थ का ही संबंध है, जिससे दोनों वर्गों में किसी भी तरह का सांस्कृतिक, भावनात्मक एवं परंपरागत जुड़ाव नहीं होगा। यही कारण श्रमिकों में अलगाव की भावना पैदा करेगा। साथ ही जैसे–जैसे पूंजीपति अर्थव्यवस्था पर अपनी पकड़ बनाता जाएगा, वैसे ही धर्म, कानून आदि को भी अधिक से अधिक अपने नियंत्रण में लेता जाएगा। पहले से ही अलगाव की भावना के साथ जी रहे श्रमिक इसे अतिरिक्त शोषण के रूप

टिप्पणी

में पाएंगे। मार्क्स कहते हैं यह स्थिति श्रमिकों में चेतना पैदा करेगी। समान शोषण, जीवन शैली एवं समस्याएं झेल रहा यह वर्ग चेतना के समान स्तर पर होकर ध्रुवीकृत होने की दिशा में बढ़ेगा। यही वह समय होगा जब वंचित वर्ग 'स्वयं में वर्ग' से 'स्वयं के लिए वर्ग' में बदल जाएगा। इसी ध्रुवीकरण के बाद समाज दो प्रमुख वर्गों बुर्जुआ एवं सर्वहारा में बंटकर अंततः वर्ग–संघर्ष एवं क्रांति की शुरुआत होगी, जिसमें जीत सर्वहारा की निश्चित है। कार्ल मार्क्स ने अपनी कृति 'कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो' में कहा है कि "अब तक के समाज का इतिहास वर्ग–संघर्ष का इतिहास ही रहा है।" जैसा कि ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धांत में मार्क्स ने विश्लेषित किया है कि गुलामों का आजाद व्यक्तियों से, साधारण जनता का कुलीनों से, कृषकों का सामंतों से, वेतनभोगियों का श्रेणिपतियों से एवं मध्यम वर्ग का उच्च वर्ग से सदैव ही संघर्ष का रिश्ता रहा है। हालांकि यह संघर्ष कभी जगजाहिर रूप से तो कभी गुप्त रूप से लगातार चलता ही रहा है।

2.5.1 सर्वहारा क्रांति और पूंजीवाद का भविष्य

मार्क्स द्वारा प्रतिपादित ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धांत में ही क्रांति के सिद्धांत की अवधारणा निहित है। इस सिद्धांत के अनुसार उत्पादन की शक्तियों का विकास समय के साथ होता रहता है लेकिन वह एक ऐसी अवस्था में पहुंच जाता है जहां पुराने सामाजिक संबंधों पर उनका दबाव बहुत अधिक हो जाता है अर्थात जो सामाजिक वर्ग पुरानी व्यवस्था में फंसा हुआ महसूस कर रहा था उसमें वर्ग चेतना जागृत होने लगती है। यह वर्ग संगठित होकर पुराने आधिपत्य वाले वर्ग को सत्ता से हटा देता है और उसके साथ जुड़ी हुई सारी संस्थाओं को तितर–बितर कर देता है। यह वर्ग–संघर्ष जब वृहद रूप लेकर अपनी चरम सीमा पर होता है तो क्रांति को जन्म देता है।

क्रांति के माध्यम से अब तक का अधीन वर्ग सत्ता पर काबिज हो जाता है और वह सारी राजनीतिक, कानूनी, सामाजिक एवं नैतिक संस्थाओं और मान्यताओं का पुनःनिर्माण करता है। इस प्रकार मार्क्स ने भी क्रांति को सामाजिक परिवर्तन का अनिवार्य माध्यम माना है। मार्क्स ने क्रांति का सिद्धांत दिया है, क्योंकि उनका यह मानना था कि सामंतवाद से पूंजीवाद के युग में प्रवेश करने के लिए बुर्जुआ क्रांति की जरूरत थी, जो कि फ्रांसीसी क्रांति (1789) के रूप में हुई। ठीक उसी प्रकार से पूंजीवादी व्यवस्था की अवस्था से समाजवादी युग में प्रवेश के लिए सर्वहारा क्रांति भी आवश्यक है। मार्क्सवाद से प्रेरित पहली समाजवादी क्रांति लेनिन के नेतृत्व में रूस में 1917 में हुई और दूसरी समाजवादी क्रांति माओ–त्से–तुंग की अगुवाई में 1949 में चीन में हुई।

सर्वहारा क्रांति

मार्क्स ने असमान एवं शोषक उत्पादक संबंधों का हवाला देते हुए इसे ही सर्वहारा वर्ग के विरोध का आधार बताते हुए एक क्रांतिकारी संकट बताया है। मार्क्स की भविष्यवाणी थी कि इस अवस्था में सर्वहारा वर्ग जो कि आबादी का एक बड़ा हिस्सा होगा, वह एक संघर्षकारी वर्ग बन जाएगा और एक ऐसी सामाजिक शक्ति के रूप में उभरेगा जो कि इन उत्पादन संबंधों को परिवर्तित करने का प्रयास करेगा। मार्क्स के विचार में सर्वहारा वर्ग सामाजिक संस्तरण में सबसे निचला वर्ग है। इसके नीचे और कोई वर्ग नहीं है। उनका ऐसा विश्लेषण रहा है कि सर्वहारा वर्ग के लिए पूंजीवाद के खिलाफ उनका यह

टिप्पणी

संघर्ष उनके जीवित रहने के लिए अनिवार्य है। मार्क्स यही कहना चाहते हैं कि सर्वहारा वर्ग के उद्धार में ही पूरे समाज का उद्धार है, इसलिए वह बुर्जुआ वर्ग की तरफ से संघर्ष को भी मान्यता देते हैं। मार्क्स की कल्पना के अनुसार सर्वहारा क्रांति पूर्व में हुई सभी प्रकार की क्रांतियों से अलग होगी। इससे पहले हुई क्रांतियों में अल्पसंख्यक लोगों द्वारा ही अल्पसंख्यक समाज के लाभ के लिए क्रांति की गई, लेकिन सर्वहारा वर्ग जिस समय क्रांति के लिए उठ खड़ा होगा वह एक बहुसंख्यक समुदाय का उदाहरण होगा एवं इसका लाभ मात्र समुदाय विशेष को नहीं बल्कि पूरे समाज को मिलेगा। मार्क्स के सिद्धांत के अनुसार यह क्रांति पूंजीवादी व्यवस्था का तख्ता पलट कर देगी एवं एक वर्गविहीन समाज की स्थापना की राह प्रशस्त होगी। जिसमें संपत्ति का कोई निजी अधिकार नहीं होगा, समानता होगी एवं समाज शोषणमुक्त होगा। मार्क्स ने इस अवस्था को सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व का काल कहा है, जिसका विलय बाद में राज्यविहीन समाज की व्यवस्था के रूप में होगा। इसके साथ ही सभी प्रकार के वर्ग एवं वर्ग संघर्ष भी समाज से समाप्त हो जाएंगे। यही वो अवस्था होगी जिसमें सर्वहारा वर्ग का अलगाव भी खत्म हो जाएगा।

पूंजीवाद का भविष्य

मार्क्स ने पूंजीपति वर्ग के अत्याचारों से व्यथित होकर श्रमिक वर्ग के कष्टों को देखते हुए एक सिद्धांत की कल्पना की और कल्पना के आधार पर ही पूंजीवादी समाज के अंत और समाजवाद के उदय का एक सपना देखा जो शोषण मुक्त समाज का आईना होगा। मार्क्स ने वर्ग शब्द का प्रयोग विशिष्ट अर्थों में किया है। बुखारिन ने वर्ग को परिभाषित करते हुए कहा है– "वर्ग व्यक्तियों के उस समूह को कहते हैं जो उत्पादन की प्रक्रिया में एक भूमिका अदा करते हैं और उत्पादन की प्रक्रिया में शामिल अन्य व्यक्तियों के साथ संबंधित हो।" वहीं मार्क्स के अनुसार, "व्यक्तियों का वह समूह वर्ग है, जो अपने साधारण हितों की पूर्ति हेतु उत्पादन की प्रक्रिया से जुड़ा हुआ है।" साधारण शब्दों में जिस समूह के आर्थिक हित एक से होते हैं, उसको वर्ग कहा जाता है। वर्ग के बाद संघर्ष को परिभाषित करते हुए मार्क्स कहते हैं कि संघर्ष का तात्पर्य केवल युद्ध से नहीं बल्कि इसका व्यापक अर्थ है– रोष, असंतोष तथा आंशिक असहयोग। मार्क्स के कथनानुसार अनादिकाल से ही दो विपरीत वर्गों के बीच संघर्ष होता रहा है तो इसका अभिप्राय यह होता है कि सामान्य रूप से असंतोष की भावना धीरे–धीरे शांतिपूर्ण तरीके से वर्ग के बीच मौजूद रहती है और कुछ अवसरों पर यह भीषण क्रांति का रूप ले लेती है। मार्क्स के मत से पूंजीवाद में ही उसके विनाश का बीज पनपता रहता है, मार्क्स ने इसके कुछ विशेष कारणों का भी उल्लेख करते हुए बताया है–

1. **पूंजीवाद में मात्र स्वार्थ सिद्धि के लिए उत्पादन**– मार्क्स के अनुसार पूंजीवादी व्यवस्था में उत्पादन समाज की भलाई एवं लोगों के लिए उपभोग को ध्यान में रखकर नहीं वरन् निज स्वार्थ को ध्यान में रखकर किया जाता है जिसके कारण ही मांग एवं आपूर्ति का संतुलन बिगड़कर असंतोष की भावना को जन्म देता है।
2. **लाभ एवं पूंजी का एकाधिकार**– पूंजीवादी व्यवस्था का प्रमुख उद्देश्य बड़े पैमाने पर उत्पादन कर अधिक से अधिक लाभ कमाने का होता है जिसकी वजह से कुछ मुट्ठी भर लोगों के हाथों में ही पूंजी आ जाती है और श्रमजीवियों की

संख्या में लगातार इजाफा होता रहता है। इस तरह पूंजीपति वर्ग अपने ही खात्मे के लिए पहले से ही असंतुष्ट एवं संघर्षरत श्रमिक वर्ग को और अधिक शक्ति प्रदान करता है।

टिप्पणी

3. **अतिरिक्त मूल्य से श्रमिकों को वंचित रखा जाना**– जैसा कि पहले ही बताया गया पूंजीवादी व्यवस्था के मूल में अधिक से अधिक लाभ कमाने की प्रवृत्ति है। इसलिए अतिरिक्त मूल्य को पूंजीपति स्वयं की संपत्ति मानकर श्रमिकों को उसका लाभ न देते हुए उनका शोषण करते हैं। जबकि न्याय सिद्धांत की दृष्टि से इस पर श्रमिक का हक बनता है। किसी भी वस्तु की वास्तविक कीमत और बाजारी कीमत के बीच का अंतर जिसे श्रमिक के श्रम से हासिल किया जाता है वह अतिरिक्त मूल्य होता है एवं पूंजीपति इस अंतर को अपना फायदा बनाकर मजदूर वर्ग को इससे वंचित रखता है।

4. **आर्थिक विषमताओं का जनक पूंजीवाद**– मार्क्स के मत से जब पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली में जब उत्पादन खरीदारों की क्रय शक्ति से अधिक हो जाता है, तब लाभ न मिलता देख पूंजीपति उत्पादित माल को छिपाकर या नष्ट कर कर कृत्रिम अभाव पैदा करते हैं और इस प्रकार अस्थायी आर्थिक संकट को उत्पन्न करते हैं। पूंजीपतियों की इस प्रवृत्ति से श्रमिक वर्ग में घोर असंतोष पनपता है, अतः इस व्यवस्था को उन्होंने आर्थिक संकट पैदा करने वाला माना है।

5. **मानवीय तत्वों के अंत का कारण है पूंजीवाद**– मार्क्स कहते हैं कि पूंजीवाद में श्रमिक का व्यक्तिगत विकास रुक जाता है, वह मात्र मशीनों का गुलाम बन कर रह जाता है। अर्थात मानव श्रमिकों के मशीनीकरण का कारण पूंजीवादी व्यवस्था में निहित है। पूंजीपतियों का श्रमिकों के व्यक्तिगत एवं सृजनात्मक विकास में कोई योगदान नहीं होता बल्कि उन्हें मशीनों का दास बनाने में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इस पतन की प्रथा को जड़ मूल से खत्म करने के लिए श्रमिक वर्ग में चेतना का उदय होने लगता है, वही अंततोगत्वा पूंजीवादी व्यवस्था के विनाश का बीज बनता है।

6. **श्रमिकों की एकजुटता का जरिया है पूंजीवाद**– पूंजीवादी व्यवस्था की विषमताएं मजदूरों के असंतोष का कारण हैं और यहीं से उनके अंदर एकजुट होकर इसका विरोध करने की भावना का जन्म होता है। इसी भावना से प्रेरित होकर वे अपने अनुभव एक–दूसरे से बांटते हैं व इस शोषण से छुटकारा पाने के लिए एकजुट होने के प्रयासों का आरंभ होता है। इस सुदृढ़ होते श्रमिक संगठनों का श्रेय भी पूंजीवादी विकेंद्रीकरण को ही जाता है, जिसके माध्यम से पूंजीवादी व्यवस्था के खिलाफ मजबूत स्वर में विरोध की शुरुआत होती है।

2.5.2 वर्ग–विहीन समाज

अपनी कृति 'कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो' में साम्यवादी समाज पर अति विस्तार से चर्चा करते हुए मार्क्स ने यह माना है कि सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व एक अस्थायी व्यवस्था होगी। क्योंकि कालांतर में यह व्यवस्था असल में साम्यवादी समाज की स्थापना का आधार होगी, जो वर्ग–विहीन एवं राज्य–विहीन है। यह व्यवस्था द्वंद्ववादी अवधारणा का एक निश्चित परिणाम है जो वर्ग–संघर्ष के खत्म हो जाने के बाद राज्य–विहीन

टिप्पणी

एवं वर्ग–विहीन समाज की स्थापना करता है। मार्क्स ने इसे समाज की एक आदर्श व्यवस्था के रूप में देखा है। एंगेल्स व मार्क्स की मान्यता के अनुसार पहले सर्वहारा वर्ग क्रांति के माध्यम से पूंजीवाद का समूल नाश करेगा एवं बाद में समाज से वर्गों के उन्मूलन के बाद सर्वहारा की तानाशाही का भी अपने आप ही लोप हो जाएगा। जब समाज स्वशासन के लिए पूरी तरह से परिपक्व हो जाता है तब राज्य के विलोपन की यह लम्बी और क्रमिक प्रक्रिया पूर्णता को प्राप्त करती है। एंगेल्स के मुताबिक राज्य जब पूरे समाज का सच्चा नेतृत्व बन जाता है तब वह अपने आपको अनावश्यक बनाते हुए विलुप्त हो जाता है। अर्थात जब ऐसा कोई वर्ग नहीं रह जाता है, जिसे गुलाम बनाकर रखा जाए, जब वर्ग–शासन और उत्पादन की व्यवस्था पर आधारित निजी जीवन संघर्ष और उनसे उत्पन्न होने वाली तकरारें एवं शोषण व्यवस्था समाप्त हो जाती हैं, तब ऐसी कोई चीज नहीं बाकी रहती जिसके दमन के लिए एक विशेष दमनकारी शक्ति या राज्य की कोई जरूरत हो। समाजवादी समाज के बारे में स्पष्ट करते हुए मार्क्स ने कहा है कि "नए साम्यवादी समाज की प्रमुख विशेषता वर्गहीनता एवं राज्यहीनता होगी। इसमें समाज एक परिवार की तरह होगा, जहां प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार काम करेगा एवं आवश्यकतानुसार उपभोग करेगा। इस समाज में राज्य की किसी भी रूप में आवश्यकता नहीं रहेगी।" लेनिन ने भी मार्क्स के मत का समर्थन करते हुए कहा है कि "राज्य का उसी समय पूरी तरह से लोप हो जाएगा जब समाज इस नियम को अपना लेगा कि हर एक से उसकी क्षमता के अनुसार और हर एक को उसकी जरूरत के अनुसार अर्थात उस समय जब लोग सामाजिक आदान–प्रदान के मौलिक नियमों की पालना में इतने अभ्यस्त हो जाएंगे और उनका श्रम इतना उत्पादक हो जाएगा कि वे स्वेच्छा से अपनी क्षमता के अनुसार कार्य कर समाज के विकास में अपना योगदान देंगे।" इस तरह इस विवेचन को आधार बनाकर यह कहा जा सकता है कि समाजवादी समाज का निर्माण राज्य के विलुप्त होने की प्रक्रिया में ही ऐसे समाज का निर्माण संभव है, जिसमें समानता का पर्चा बुलंद हो, साथ ही इस तरह के समाज के निर्माण के लिए अनिवार्य शर्त, सम्पूर्ण विश्व में समाजवाद की विजय एवं उसकी मजबूती है। मार्क्स का ऐसा मानना था कि सामाजिक विकास के नियमों के आधार पर धीरे–धीरे दुनिया के सभी पूंजीवादी राज्य समाजवादी राज्यों में तब्दील हो जाएंगे और इस तरह अंततः राज्य के विलोपीकरण का मार्ग प्रशस्त हो जाएगा एवं समाज से शोषण व भय का नाश होगा और विश्व समाज नई दिशा में आगे बढ़ते हुए पूंजीवाद के रूप में मानवता की एक लंबी त्रासदी का उन्मूलन कर देगा।

अपनी प्रगति जांचिए

7. कार्ल मार्क्स का सामाजिक परिवर्तन का सिद्धांत किस नाम से जाना जाता है?

   (क) द्वंद्वात्मक भौतिकवाद (ख) वर्ग–संघर्ष का सिद्धांत

   (ग) अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत (घ) उपरोक्त सभी

8. मार्क्स ने अपनी किस कृति में कहा है कि "अब तक के समाज का इतिहास वर्ग–संघर्ष का इतिहास ही रहा है।"

   (क) दास कैपिटल (ख) कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो

   (ग) जर्मन आइडियोलॉजी (घ) इनमें से कोई नहीं

2.6 पूंजीवादी समाज में अलगाव की अवधारणा एवं विचारधारा का सिद्धांत

टिप्पणी

अलगाव (Alienation) अर्थात विरक्ति या अलग होना। साहित्य के लिए यह कोई नया शब्द नहीं है, परंतु पहली बार इस शब्द को समाजशास्त्र से जोड़ने का श्रेय कार्ल मार्क्स को जाता है। जिस सामाजिक व्यवस्था में उत्पादक स्वयं उत्पादित वस्तुओं से एवं उत्पादन के साधनों से वंचित रहता है वहां अलगाव की स्थिति पैदा होना निश्चित है ऐसा मार्क्स का कहना है। मार्क्स की अलगाव की धारणा कहती है कि पूंजीवादी व्यवस्था में पूंजी का श्रम पर आधिपत्य होता है। विस्तार से इस धारणा को एक उदाहरण की मदद से समझा जा सकता है। खिलौने बनाने के एक कारखाने में एक कारीगर कई प्रकार के खिलौनों का निर्माण करता है लेकिन उन खिलौनों का इस्तेमाल वह अपने परिवार के बच्चों के लिए चाह कर भी नहीं कर सकता। इस प्रकार उसकी बनाई हुई कृति (खिलौने) एक ऐसी वस्तु बन जाती है जो उससे अलग हो जाती है। समय के साथ यह उत्पादन एक ऐसा रूप ले लेता है जो अपने निर्माणकर्ता से ही अलग हो जाता है। अब वह अपनी काम करने तथा सृजन करने की आंतरिक प्रेरणा को संतुष्ट करने के लिए खिलौने नहीं बनाता बल्कि अपनी रोजी–रोटी कमाने के लिए यह काम करता है। इस धारणा को मशीनीकरण से जोड़ते हुए मार्क्स आगे बढ़ते हैं और बताते हैं कि कारीगर के लिए वस्तु का अलग रूप धारण कर लेना तब और भी ज्यादा प्रभाव डालने वाला हो जाता है जब आधुनिक मशीनों से लैस कारखाने में उत्पादन प्रक्रिया अलग–अलग हिस्सों में बांट दी जाती है एवं कारीगर के हिस्से में उस काम का जिसे वह अबतक स्वयं ही पूरा करता आया था, उसका एक छोटा सा हिस्सा ही आता है। इस प्रकार वह खिलौने बनाने के एक कार्य के किसी एक भाग पर काम करने में ही जुटा रहता है। उसका काम अब मानवीय न रहकर मशीन जैसा हो जाता है एवं वह सोच–समझ से काम करने की क्षमता को खोता चला जाता है। गैजो पेत्रोविक ने अलगाव के कई रूपों में से आत्म अलगाव को ही इस धारणा की आधारभूत संरचना माना है। अलगाव की अवधारणा को गैजो विश्व में क्रांतिकारी परिवर्तन लाने के लिए आवश्यक एक चेतना एवं अपील भी कहते हैं। मार्क्स के विचारों में अलगाव एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसकी स्थिति में एक व्यक्ति, एक समूह, एक संस्था या एक समाज अपने काम, प्राकृतिक वातावरण, अन्य व्यक्तियों के प्रति एवं स्वयं के प्रति अलगावित हो जाता है। इस अवधारणा के अंतर्गत मार्क्स ने यह स्पष्ट किया है कि अलगाव की भावना उपरोक्त में से किसी एक के प्रति, एक से अधिक के प्रति या फिर सभी घटकों के प्रति भी हो सकती है। मार्क्स की इस अवधारणा में पूंजीवादी व्यवस्था के सबसे बड़े दोष के रूप में इसे देखा गया, क्योंकि इसमें व्यक्ति केवल अपनी सृजनशीलता, प्रकृति और समाज से ही नहीं बल्कि अपने आप से भी अलगावित हो जाता है। पूंजीवादी व्यवस्था में उत्पाद या उत्पादन प्रक्रिया से जब मजदूर अपना संबंध समाप्त कर लेता है तब उसकी रचनात्मकता अथवा प्रतिभा प्रभावित होती है और यही उसका सबसे पहला अलगाव होता है। उसे किस वस्तु का उत्पादन करना है, कैसे करना और कितना करना है यह पूर्वनिश्चित होने की वजह से वह जुड़ाव की घोर कमी के साथ, फैक्ट्रियों में मशीनों के बीच, मशीनीकृत होकर मात्र व्यवस्था का एक हिस्सा होता है। ज्यादा से ज्यादा उत्पादन की होड़ में बाहरी दुनिया अथवा प्राकृतिक दुनिया से भी उसका

टिप्पणी

अलगाव प्रारंभ हो जाता है। मार्क्स के अनुसार पूंजीवादी व्यवस्था सामाजिक अलगाव और प्रतिस्पर्धा को बढ़ाती है, जो व्यक्ति को समाज से व उसके आसपास के वातावरण से उसे काटती है, यही नहीं अपने साथियों से भी उसका जुड़ाव कम होता जाता है। उदाहरण के तौर पर एक मजदूर कोई काम करने में असमर्थ है तो किसी दूसरे मजदूर को उसका काम मिल जाता है एवं अभाव की स्थिति में दूसरा मजदूर उसे खुशी से स्वीकार भी कर लेता है। पूंजीपति को केवल उत्पादन से लाभ प्राप्त हो मजदूर से उसका उतना ही सरोकार रह जाता है। अंततः इन सभी उलझनों में उलझा हुआ श्रमिक प्रकृति, समाज और सहकार्मिकों से भी कोई लगाव और सहानुभूति महसूस नहीं करते हुए स्वयं से भी अलगावित महसूस करने लगता है। मार्क्स कहते हैं कि खोटयुक्त पूंजीवादी व्यवस्था का यह दुष्प्रभाव यहीं तक सीमित न होकर पूंजीपति को भी अपने प्रभाव में ले लेता है अर्थात अधिक से अधिक उत्पादन से अत्यधिक मुनाफा कमाने की लालसा में आतुर पूंजीपति व्यक्ति भी मानवीय संवेदना जैसे गुणों से रहित हो जाता है।

अलगाव से मुक्ति

मार्क्स का उद्देश्य अलगाव की अवधारणा को उछालना या मात्र उसकी आलोचना का नहीं था वरन् उन्होंने इसे दूर करने के उपायों पर भी बात की है। मार्क्स के मतानुसार उनका सिद्धांत सर्वहारा क्रांति का मार्ग प्रशस्त करने के साथ–साथ एक ऐसे साम्यवादी समाज की स्थापना करना था जिसके साथ ही व्यक्ति का अलगाव भी दूर होकर अपने स्वयं की ओर वापस आने की प्रक्रिया की भी शुरुआत होती है। मार्क्स ने यह स्पष्ट किया कि केवल निजी संपत्ति समाप्त करने से आर्थिक एवं सामाजिक जीवन का अलगाव दूर नहीं किया जा सकता। क्योंकि निजी संपत्ति को राज्य सम्पत्ति में परिवर्तित करने से श्रमिक अथवा उत्पादक की स्थिति में कोई खास परिवर्तन नहीं आता। मार्क्स कहते हैं कि अर्थव्यवस्था के पुनर्गठन द्वारा अलगाव समाप्त नहीं किया जा सकता, भले ही यह परिवर्तन बेहद क्रांतिकारी तरीके से किया गया हो। व्यक्ति का अलगाव तथा समाज में अलगाव होना, दोनों एक ही प्रक्रिया से संबंधित हैं, इसलिए केवल एक स्तर पर अलगाव की समाप्ति से दूसरे में अलगाव को खत्म नहीं किया जा सकता है। इसका मूल कारण मार्क्स ने समाज का एक दूसरे पर निर्भर क्षेत्रों, जैसे अर्थव्यवस्था, राजनीति, विधि, कला, नैतिकता, धर्म आदि के आधार पर विभाजित होना बताया है। इसके साथ ही आर्थिक क्षेत्र का अन्य सभी पर प्रभुत्व होने को भी आत्म–अलगाव का कारण माना गया है। मार्क्स के अनुसार इस प्रकार के अलगाव से मुक्ति का एकमात्र उपाय पूंजीवादी व्यवस्था से पूर्ण मुक्ति ही हो सकता है।

2.6.1 राजनीतिक सत्ता पर विचार

मार्क्स ने हीगेल के राजनीतिक दर्शन की समीक्षा करते हुए राज्य के बारे में अपने विचारों को प्रकट किया। हीगेल ने 'फिलॉसफी ऑफ राइट्स' में परिवार, समाज और राज्य को सामाजिक जीवन के तीन स्तर के रूप में उल्लेखित किया है। परिवार और समाज के बारे में तो मार्क्स हीगेल के विचारों को स्वीकार करते हैं, लेकिन राज्य के बारे में नहीं। मार्क्स का कहना है कि समाज में विभिन्न व्यक्तियों और वर्गों के बीच होने वाली प्रतिस्पर्धा का विस्तार राज्य तक होता है। प्रभुत्वशाली वर्ग अपने हितों को पूरा करने व समाज के अन्य दूसरे वर्गों पर अपना प्रभुत्व बनाए रखने के लिए राज्य व्यवस्था का प्रयोग करते हैं। दूसरे शब्दों में मार्क्स यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि

टिप्पणी

पूंजीवादी व्यवस्था में राज्य पर पूंजीपतियों का आधिपत्य होता है। इस तरह मार्क्स उदारतावादी राज्य के बुनियादी विचार को खारिज करते हैं कि राज्य समाज के सभी लोगों के हितों के बारे में तटस्थ और निष्पक्ष रूप से फैसला करता है। इसका अर्थ यह है कि राज्य समाज पर अपनी इच्छा थोपने में समर्थ है।

राज्य ऐसी स्थिति में अपनी इच्छा थोपने में समर्थ होता है। राज्य आपस में होड़ करने वाले वर्गों के बीच मध्यस्थता का कार्य करता है। इस तरह, यह वर्गों के अस्तित्व को भी कायम रखता है। मार्क्स और एंगेल्स ने इस बात पर जोर दिया है कि पूंजीवाद की समाप्ति के साथ पूंजीवादी राज्य भी खत्म हो जाएगा और सर्वहारा की तानाशाही स्थापित होगी। यहां सर्वहारा के फायदों का मतलब यह है कि क्रांति के फायदों को सुरक्षित रखा जाए और बुर्जुआ वर्ग की प्रतिक्रांति को रोका जा सके। मार्क्स के विचार में क्रांति के बाद सर्वहारा वर्ग की तानाशाही स्थापित होगी जिसमें पूंजीवादी शासन के दौरान मौजूद कुछ खास संस्थाओं को हटाया जाएगा और इनकी जगह ऐसी संस्थाएं स्थापित होंगी जो लोगों को राज्य के उपयोग योग्य बनाएंगे।

2.6.2 सामाजिक वर्गों के संबंध में राज्य

मार्क्स के अध्ययन एवं विश्लेषण के मुताबिक वर्ग संघर्ष के परिणामस्वरूप हर बार या तो समाज की पुनर्रचना हुई है या फिर युद्ध के हालात में दोनों ही वर्गों का पतन हुआ है। कार्ल मार्क्स के सिद्धांत के मुताबिक अबतक के विदित इतिहास में सामाजिक परिवर्तन की जड़ को खोदा जाए तो पाया जाता है कि उनमें पुराने वर्ग का अस्तित्व समाप्त हुआ है एवं नए वर्ग उठ खड़े हुए हैं। परंतु शोषक एवं शोषित वर्ग कायम रहे हैं अर्थात शोषण का मूल ढांचा जस का तस मौजूद रहा है व रूप बदल–बदलकर समाज में सदैव व्याप्त रहा है। इस सिद्धांत के मूल में मार्क्स का अनुमान था कि पूंजी पर आधारित उत्पादन प्रक्रिया के फलस्वरूप सारी पूंजी और जमीन मुट्ठी भर लोगों के हाथों में चली जाएगी, खुली एवं परस्पर प्रतियोगिता की वजह से मध्यवर्ग स्थापित नहीं हो पाएगा एवं श्रमिक वर्ग से मिलना उनकी मजबूरी बन जाएगी। परिणामस्वरूप पूंजीपति वर्ग सिमटता चला जाएगा एवं सर्वहारा वर्ग विशाल व ताकतवर होकर उभरेगा। यह तब संभव होगा जब संपूर्ण विश्व के श्रमिक अपने देश, भाषा, संस्कृति आदि के भेद एवं मतभेद को किनारे कर एक आर्थिक हित के लिए, एक वर्ग के रूप में अपने आपको संगठित कर पाएंगे। इस स्थिति में पहुंचने पर उनमें वर्ग चेतना का उदय होगा और वे एकजुट होकर अपने प्रत्यक्ष शत्रु का मुकाबला करने के लिए तैयार होंगे। परिवहन एवं संचार साधनों के विस्तार के साथ ही वर्ग चेतना का प्रसार भी विश्वव्यापी स्तर पर होगा अतः सर्वहारा आंदोलन भी एक विस्तृत रूप लेकर पूंजीवादी समाज की विषमताओं को मिटाने के लिए सर्वहारा एवं पूंजीपति सीधे संघर्ष की अवस्था में पहुंच जाएंगे। अंततः सर्वहारा वर्ग अपने विशाल संगठन के बल पर सिमटे हुए पूंजीपतियों को हरा कर उत्पादन के साधनों पर अपना आधिपत्य कर लेगा। मार्क्स ने अपनी वर्ग–संघर्ष की धारणा आंगिस्टन थोरे के दर्शन से ली है अर्थात उसकी यह धारणा मौलिक नहीं है। लेकिन मार्क्स ने उसे एक व्यवस्थित व प्रामाणिक आधार प्रदान करके उसे विश्व की राजनीति का प्रमुख तत्व बनाया है। मार्क्स का यह सिद्धांत तत्कालीन इंग्लैण्ड की तत्कालीन सामाजिक–आर्थिक परिस्थितियों पर आधारित है क्योंकि पूंजीपति वर्ग अमीर होता जा रहा था एवं श्रमिक वर्ग लगातार निर्धनता की ओर ढकेला जा रहा था।

2.6.3 सर्वहारा का उदय और राज्य का भविष्य

टिप्पणी

मार्क्स ने पूंजीवाद की कमियों को उजागर करते हुए इसके समूल अंत की परिकल्पना की थी। उनका विश्वास था कि श्रमिक वर्ग संगठित होकर एक विशाल क्रांति को अवश्य जन्म देंगे व पूंजीवाद की जड़ें उखाड़ दी जाएंगी और उसके स्थान पर सर्वहारा का एकाधिपत्य स्थापित हो जाएगा। इस प्रकार पूंजीवाद का नामो–निशान मिटने से एक वर्ग–विहीन समाज की स्थापना होगी। जहां हर व्यक्ति अपनी काबिलियत के अनुसार काम करेगा एवं उत्पादन के साधनों पर किसी का एकाधिकार न होकर सबका समान अधिकार होगा। धीरे–धीरे वर्ग–संघर्ष का अस्तित्व भी समाप्त होता चला जाएगा। यह वर्ग–विहीन समाज ही साम्यवादी समाज होगा जहां केवल श्रमिक वर्ग ही शेष बचेगा। साम्यवादी समाज की कल्पना स्वयं मार्क्स के शब्दों में कुछ इस प्रकार अंकित है कि "साम्यवादी समाज की उच्चतम स्थिति में जबकि व्यक्ति श्रम विभाजन की पतनकारी गुलामी से आजाद हो जाएगा और उसके साथ श्रम का विरोध भी समाप्त हो जाएगा, जब श्रम जीवन का साधन नहीं बल्कि स्वयं जीव की सबसे बड़ी जरूरत बन जाएगी, इस स्थिति में व्यक्ति की उत्पादन की शक्ति भी उतनी ही बढ़ेगी एवं सामाजिक साधनों के स्रोत प्रचुरता से उपलब्ध होने लगेंगे तभी पूंजीवादी औचित्य का सीमित आसमान पार किया जा सकेगा और समाज में इस भावना का प्रचार प्रसार होगा कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार कार्य करे और प्रत्येक अपनी आवश्यकतानुसार प्राप्त करे।" मार्क्स के अनुसार पूंजीवादी व्यवस्था असमानता, शोषण एवं वर्ग संघर्ष के सबसे क्रूर स्वरूप का प्रतीक है। यह कारण मिलकर ही सर्वहारा क्रांति का मार्ग प्रशस्त करते हैं जिसके परिणामस्वरूप एक नई अवस्था का जन्म होता है, जिसे साम्यवाद कहा गया है।

2.6.4 विचारधारा का सिद्धांत

विचारधारा उन विचारों का समुच्च्य है जिसे एक वर्ग या समूह अपनी आस्था और विश्वास प्रकट करते हुए शासन की वैधता प्राप्त करने में सहायक मानता है। विचारधारा का सामान्य अर्थ राजनीतिक सिद्धांत के रूप में किसी समाज या समूह में प्रचलित उन विचारों का योग है जिनके आधार पर वह किसी सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक संगठन विशेष को उचित या अनुचित ठहराता है। इस प्रकार वह उन विचारों पर आधारित कानून और राजनैतिक सामाजिक ढांचे को मान्यता देता है। विचारधारा के आलोचक अक्सर इसे एक ऐसे विश्वास के विषय के रूप में व्यक्त करते हैं जिसका कोई वैज्ञानिक आधार नहीं होता। ऐसी मान्यता है कि किसी विचारधारा के अनुगामी उसे ही अंतिम सत्य मानकर उसका पालन करते हैं, साथ ही उसके सच को साबित करने या उसकी जांच की आवश्यकता नहीं समझी जाती। मार्क्स के मुताबिक विचारधारा एक मिथ्या चेतना की अभिव्यक्ति है। मार्क्स ने अपनी किताब 'जर्मन आइडियोलॅजी' एवं 'अ कॉन्ट्रीब्यूशन टू द क्रिटिक ऑफ पॉलिटिकल इकोनॉमी' में विचारधारा के स्वरूप को विस्तारित किया है। मार्क्स एवं एंगेल्स के मुताबिक, विचारधारा प्रभावशाली वर्ग के निजी स्वार्थों की रक्षा का साधन है, जिसके लिए पूंजीपति वर्ग को भी एक विचारधारा की आवश्यकता पड़ती है। मार्क्स के अनुसार सर्वहारा के अधिनायकत्व में कोई स्वार्थ निहित नहीं होगा, अतः उसे तब किसी विचारधारा की आवश्यकता नहीं होती है। मार्क्स का मत इस ओर स्पष्ट है कि विचारधारा के द्वारा प्रभुत्वशाली वर्ग समाज को वर्गों में

टिप्पणी

विभाजित करके अपनी सत्ता को कायम रखता है। इसलिए वे सर्वहारा वर्ग को किसी विचारधारा से न जोड़ते हुए कहते हैं कि उन्हें केवल एक आवश्यक चेतना की जरूरत है न कि विचारधारा जैसी किसी मिथ्या चेतना की। मार्क्स की इस अवधारणा को खारिज करते हुए लेनिन ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'व्हाट इज टू बी डन' (1902) में यह उल्लेखित किया है कि किसी भी वर्ग को अपने संभावित लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए एक कार्यक्रम एवं नीतियों की जरूरत होती है, जिसकी पूर्ति विचारधारा द्वारा की जा सकती है। मार्क्स ने सदा ही अलग–अलग प्रकार से विचारधारा एवं उसके ढर्रे पर चलने वाली व्यवस्था को नकारने की बात कही है। उनका मानना है कि साम्यवाद का अर्थ है निजी संपत्ति और मानवीय अलगाव को जड़ से मिटाना और मानवीय प्रकृति को मानव के लिए यथार्थ से जोड़ना। मार्क्स ने साम्यवाद की पैरवी में कहा है कि साम्यवाद पूरी तरह से विकसित प्रकृतिवाद के रूप में मानववाद है और पूरी तरह से विकसित मानववाद के रूप में प्रकृतिवाद है। मार्क्स ने इस बात पर जोर दिया है कि पूंजीवाद के तहत मनुष्य एक मशीन बनकर रह जाता है, उसका मानवीय स्वरूप कहीं लुप्त हो जाता है और वह स्वाभाविक रूप से प्रकृति से दूर हो जाता है। साम्यवाद उस खोए हुए मनुष्य को ढूंढकर वापस लाता है और प्रकृति के साथ उसके टूटे हुए संबंध को फिर से जोड़ देता है। सामाजिक उत्पादन की प्रक्रिया में मानव ऐसे संबंधों के जाल में कैद हो जाता है, जो उनकी अपनी इच्छा पर आधारित नहीं होते। ये संबंध समाज के आर्थिक ढांचे का निर्माण करते हैं और इसी आधार पर समाज की कानूनी और राजनीतिक अधिरचनाएं खड़ी हो जाती हैं। मार्क्स का मानना है कि सामाजिक विकास की प्रक्रिया में मनुष्य की भौतिक जरूरतें तो आगे बढ़ती हैं, लेकिन उसकी सामाजिक चेतना पिछड़ कर रह जाती है। यही पिछड़ी हुई चेतना, जिसे मार्क्स ने मिथ्या चेतना का नाम दिया उसकी विचारधारा का रूप लेकर व्यक्त होती है। विचारधारा के रूप में जिसका प्रयोग पूंजीपति भी अपना शोषण कायम रखने के लिए करते हैं।

2.6.5 विचारधारा अधिरचना का अंग

साम्यवाद में विचारधारा को अधिरचना (super structure) का हिस्सा माना जाता है। सामान्य रूप से मार्क्स ने विचारधारा को स्पष्ट करते हुए यही कहा है अधिकतर विचार, मूल रूप से समाज की संरचना से संबंध रखने वाले विचार, वर्ग विचार होते हैं और यह उस वर्ग के ही विचार होते हैं जिसका उस काल में समाज पर आधिपत्य होता है। इन विचारों को यह वर्ग बाकी समाज पर भी थोप कर रखता है, क्योंकि प्रचार व दमनकारी साधनों का स्वामी भी यही वर्ग होता है।

2.6.6 विचारधारा के संबंध में तीन विचार

विचारधारा के संबंध में तीनों विचारों को इस प्रकार समझा जा सकता है–

1. **मार्क्स के विचार**– जैसा कि पहले ही बताया गया मार्क्स के अनुसार विचारधारा एक मिथ्या चेतना है एवं पूंजीपति व्यवस्था को खत्म करने के बाद सर्वहारा वर्ग के उदय के साथ ही विचारधारा के अनुरूप चलने की परंपरा भी खत्म हो जाएगी। क्योंकि विचारधारा की जरूरत समाज के केवल प्रभुत्वशाली वर्ग को होती है, जिनका उद्देश्य दूसरे वर्ग पर उसे थोपकर अपनी सत्ता कायम रखे रहने का होता है। जबकि समाजवाद और फिर साम्यवाद की स्थापना के

लिए ऐसी किसी विचारधारा की नहीं बल्कि एक आवश्यक चेतना की जरूरत होगी, जो सर्वहारा वर्ग के पास पहले से ही वर्ग चेतना के रूप में मौजूद होगी।

टिप्पणी

2. **लेनिन का विचार**– विचारधारा के संबंध में लेनिन का विचार मार्क्स के विपरीत है। उनके मत में किसी भी वर्ग को अपने निर्धारित लक्ष्य तक बिना भटकाव एवं अटकाव के पहुंच पाने के लिए नीतियों और योजनाओं की आवश्यकता होती है, जिसकी पूर्ति के लिए विचारधारा का होना उन्होंने आवश्यक माना। लेनिन के विचार में यदि सर्वहारा के पास अपनी कोई मजबूत विचारधारा नहीं होगी तो उनके पूंजीवादी विचारधारा के प्रभाव में आ कर अपने पूर्वनियोजित लक्ष्य से अलग हो जाने का भय बना रहेगा। एक व्यावहारिक राजनीतिज्ञ होने के नाते लेनिन की यह मान्यता थी कि संख्या एवं प्रसार के लिहाज से क्योंकि सर्वहारा वर्ग बहुत बड़ा है, जिससे उसे सचेत होकर संगठित होने में ज्यादा समय लग सकता है। अतः क्रांति की शक्तियों को सचेत बनाने के लिए सर्वहारा वर्ग के अधिक जागरूक, अधिक समर्थ और अधिक समझदारी से कार्य करने वाले सदस्यों का एक समूह बने और वह क्रांति की बागडोर संभाले। लेनिन ने इसी विचार को प्रमाणित करते हुए रूस में एक ऐसे संगठन की नींव रखी जिसे उसने साम्यवादी दल का नाम दिया।

3. **माओ त्से तुंग के विचार**– माओ ने चीन की परिस्थितियों के अनुरूप मार्क्सवादी विचारधारा में बदलाव किए और 1949 में क्रांति के सफल प्रयास के बाद समाजवादी राज्य की स्थापना की। मार्क्स एवं एंगेल्स का मानना था कि सर्वहारा क्रांति के बाद उसका अधिनायकतंत्र एक अस्थायी व्यवस्था होगी और इसके बाद राज्य के विलोप होने में ज्यादा समय नहीं लगेगा, परंतु माओ की मान्यता है कि समाजवाद के दौर में भी वर्ग संघर्ष का अंत नहीं होगा, केवल उसका रूप बदलेगा। माओ इस ओर स्पष्ट करते हैं कि केवल आर्थिक रूप से समाजवादी क्रांति हो जाने के बाद समाजवादी व्यवस्था अपने आप मजबूत स्थिति में नहीं पहुंच जाएगी, बल्कि इसके लिए राजनीतिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक और विचारधारात्मक मोर्चों पर समाजवाद को बढ़ावा देना पड़ेगा, जिसमें लम्बा समय लगेगा। इस प्रकार विचारधारा की जरूरत पर माओ का भी सकारात्मक मत ही है।

अपनी प्रगति जांचिए

9. 'अलगाव' शब्द को समाजशास्त्र से जोड़ने का श्रेय किसको दिया जाता है?

(क) एंगेल्स (ख) वेबर

(ग) कार्ल मार्क्स (घ) एडम स्मिथ

10. विचारधारा के सिद्धांत के अंतर्गत किसके विचारों को प्रमुखता दी गई है?

(क) लेनिन (ख) मार्क्स

(ग) माओत्से तुंग (घ) ये सभी

टिप्पणी

2.7 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ख)
2. (क)
3. (ग)
4. (क)
5. (घ)
6. (क)
7. (ख)
8. (ख)
9. (ग)
10. (घ)

2.8 सारांश

मार्क्स ने सामाजिक परिवर्तन के इतिहास को भी वर्ग–संघर्ष के इतिहास के रूप में प्रस्तुत किया है। मार्क्स ने वर्ग को समाज की वर्ग चेतना और उत्पादन के साधनों के संबंध में परिभाषित किया है। वर्ग संघर्ष और उत्पादन के तरीकों में परिवर्तन के कारण समाज के इतिहास में विभिन्न अवस्थाएं बदलाव के दौर से गुजरी हैं, जिसमें प्रमुख रूप से दास प्रथा से सामंतवादी प्रथा और सामंतवादी प्रथा से पूंजीवादी प्रथा और फिर समाजवाद से साम्यवाद की स्थापना है। मार्क्स ने पूंजीवादी व्यवस्था के अंत के साथ समाजवादी व्यवस्था की स्थापना को ही अंतिम सामाजिक क्रांति के रूप में उल्लेखित किया है, जिसमें न तो सामाजिक असमानता होगी और न वर्ग तथा वर्ग संघर्ष होगा। वर्गविहीन तथा राज्यविहीन समाज की स्थापना होगी व पूंजीवादी व्यवस्था की देन 'अलगाव' का उन्मूलन होगा।

मार्क्स की विचारधारा में सामाजिक परिवर्तन के लिए द्वंद्व को अनिवार्य माना गया है। मार्क्स के अनुसार सामाजिक परिवर्तन को केवल विचारों से नहीं पाया जा सकता। समाज का भौतिकवादी विकास एक सतत प्रक्रिया है परंतु उसे द्वंद्व के रूप में ही हासिल किया जा सकता है। मार्क्स व हेगेल इस एक बिन्दु पर सहमत हुए कि विरोधी धाराओं के संघर्ष से ही समाज में परिवर्तन लाया जा सकेगा। मार्क्स के विचार में हर काल और समय में केवल संघर्ष मात्र से ही समाज का विकास एवं परिवर्तन हुआ है। मार्क्स संसार में घटित होने वाली प्रत्येक छोटी–बड़ी घटना के केंद्र में अर्थ यानी पूंजी को ही पाते हैं। मार्क्स का सिद्धांत स्पष्ट करता है कि संघर्ष से ही विकास होता आया है और भविष्य में भी होगा। मार्क्स का द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धांत भी आर्थिक संघर्ष की गुंजाइश को सामने लाता है। आसान शब्दों में इसे विरोध से विकास का सिद्धांत भी समझा जा सकता है। इस सिद्धांत का मूल मंत्र पूंजीवादी समाज को खत्म कर साम्यवादी समाज की स्थापना से जुड़ा हुआ है। इस सिद्धांत के तहत मार्क्स ने एक वर्गविहीन सामाजिक संरचना की परिकल्पना की। मार्क्स ने आर्थिक क्रियाओं को

प्रमुखता से लेते हुए इस सिद्धांत के अपने तर्कों को पुष्ट किया। ग्रीक विचारकों ने सबसे पहले द्वंद्ववाद की परिकल्पना की थी।

टिप्पणी

मार्क्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद को अगर आसान शब्दों में समझा जाए तो पूंजीवादी समाज की व्यवस्था में पूंजीपति और मजदूर वर्ग प्रतिवादी की भूमिका में नजर आता है और इन दोनों के संघर्ष या द्वंद्व से नया समाजवादी समाज व संवाद का निर्माण होता है। वाद, प्रतिवाद, संवाद की यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है जब तक आदर्शवादी समाज की रचना न हो।

मार्क्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की वैज्ञानिकता को कई विचारकों एवं समाजशास्त्रियों ने पूरी तरह से कभी नहीं अपनाया। हैलोवल ने अनुसार– मार्क्स खुद एक गंभीर दार्शनिक नहीं थे, बल्कि उनकी दिखने वाली यह गंभीरता हेगेल से उधार ली गई है। इसके साथ ही सेबाइन व वेबर भी मार्क्स को राजनीति, कानून एवं अर्थशास्त्र के ज्ञाता के रूप में जानते हैं न कि एक बेहतरीन दार्शनिक के तौर पर। प्रो. हंट के मुताबिक वैज्ञानिकता के नाम से मशहूर असल में मार्क्स का द्वंद्वात्मक भौतिकवाद एक अवैज्ञानिक सिद्धांत है। इन तमाम आलोचनाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मार्क्स का यह सिद्धांत तमाम विसंगतियों के साथ–साथ अस्पष्ट एवं अमौलिक है।

समाज, अर्थशास्त्र एवं इतिहास का अध्ययन करने के लिए मार्क्स ने इतिहास की भौतिकवादी अवधारणाओं का एक खाका प्रस्तुत किया। ऐतिहासिक भौतिकवाद का नाम मार्क्स के उसी दृष्टिकोण को दिया गया। सरल शब्दों में कहा जा सकता है कि ऐतिहासिक भौतिकवाद का सिद्धांत यह बताता है कि भौतिक परिस्थितियों में बदलाव समाज व अर्थव्यवस्था को सुव्यवस्थित रखने में अपनी निर्णायक भूमिका निभाता है। ऐतिहासिक भौतिकवाद की व्याख्या में मार्क्स ने जिन पांच चरणों की बात की है उसमें पहली अवस्था आदिम साम्यवाद की बताई गई है जिसे संपत्ति के बराबर बंटवारे से जोड़ा गया है। इस अवस्था में किसी मालिक या नेता की अवधारणा का अस्तित्व में न होने की बात स्वीकार की गई है। दूसरी अवस्था में मार्क्स दासता की शुरुआत होने के संकेत देते हैं। दास–स्वामी समाज के रूप में पहली अवस्था से बात आगे बढ़ते हुए वर्ग एव राज्य की अवधारणा तक जा पहुंची थी। तीसरी अवस्था में मार्क्स सामन्तवाद के जन्म की बात करते हैं जिसमें अभिजात्य वर्ग या साधनों पर प्रभुत्व वाले वर्ग ने निम्न वर्ग का दोहन किया। इस युग को मार्क्स भू–स्वामियों एवं कृषि दासों वाला काल मानते हैं। चौथी अवस्था में पूंजीवादी युग के प्रारंभ होने का कारण मध्यवर्गीय क्रांति को मानते हुए मार्क्स यह स्पष्ट करते हैं कि पूंजीपतियों ने सामन्ती व्यवस्था को दरकिनार कर निजी संपत्ति व लोकतंत्र के साथ एक भौतिक अर्थव्यवस्था की स्थापना की। इस काल को स्वामी व श्रमिक का युग बताया गया है। पांचवीं अवस्था के बारे में मार्क्स का पूर्वानुमान था कि सर्वहारा वर्ग द्वारा एक क्रांति की शुरुआत होगी जिसके परिणाम स्वरूप समाजवाद की प्राप्ति के साथ साम्यवाद की स्थापना का लक्ष्य पूरा होगा।

आर्थिक नियतिवाद मूल रूप से इसी बात पर जोर देता है कि ऐतिहासिक विकास का निर्णायक तत्व उत्पादन शक्तियां हैं। आर्थिक नियतिवाद यह स्पष्ट करता है कि मनुष्य जो कुछ भी करता है उसका निर्णय आर्थिक या भौतिक आधार पर ही होता है। साफ शब्दों में मार्क्स ने मानव को आर्थिक ताकतों का दास मान कर इस सिद्धांत में बताया है कि इतिहास का निर्धारण अंतिम रूप में आर्थिक परिस्थितियों के

टिप्पणी

अनुसार होता है। कई विद्वानों ने यहां तक माना कि मार्क्स के सिद्धांत का नाम इतिहास की आर्थिक व्याख्या ही होना चाहिए लेकिन मार्क्स ने भौतिकवादी शब्द का प्रयोग किया। आर्थिक नियतिवाद का सिद्धांत यह कहता है कि किसी भी समाज की राजनैतिक संस्थाएं, उसके व्यापार और उद्योग, कला, दर्शन, रीतियां, आचरण, परम्पराएं, नियम, धर्म तथा नैतिकता सभी भौतिक जरूरतों द्वारा ही प्रभावित होकर अपने स्वरूप को पाती हैं।

आम भाषा में अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत के नाम से प्रचलित यह सिद्धांत कार्ल मार्क्स की राजनैतिक सिद्धांतों की सूची में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यह सिद्धांत मूलतः पूंजीपति वर्ग द्वारा श्रमिक वर्ग के शोषण करने के तरीकों को उजागर करता है। विचारकों ने मार्क्स के इस सिद्धांत को रिकार्डों एवं एडम स्मिथ अर्थशास्त्रियों द्वारा रचित मूल्य के श्रमिक सिद्धांत का ही प्रसार माना है। अतः कहा जा सकता है कि अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत श्रम सिद्धांत का ही उत्तराधिकारी है।

अतिरिक्त मूल्य का यह सिद्धांत मार्क्स का मौलिक सिद्धांत न होने के कारण एवं उत्पादन के विभिन्न पहलुओं की अनदेखी करने के कारण अनेक भ्रांतियों का पुतला बन गया और आलोचना का शिकार हुआ। कई आलोचकों ने मार्क्स के इस सिद्धांत को पूंजीपतियों का चरित्र चित्रण करने वाला एवं सर्वहारा वर्ग के शोषण को दिखाने एवं समाजवाद द्वारा उसे दूर करने के उपायों का एक सिद्धांत बताया एवं इसके नामकरण पर ही सवाल उठाए। तमाम आलोचनाओं के बावजूद मार्क्स के इस सिद्धांत को पूंजीवादी व्यवस्था में श्रमिकों पर होने वाले अत्याचारों की विवेचना का एक प्रमुख आलेख माना जाता है।

कार्ल मार्क्स का सामाजिक परिवर्तन का सिद्धांत वर्ग संघर्ष के सिद्धांत के नाम से ही जाना जाता है। उनके अनुसार उत्पादन प्रणाली ही सामाजिक परिवर्तन का मूल कारण है एवं यही समाज की आर्थिक संरचना को निर्धारित करता है, जिसके फलस्वरूप समाज में आर्थिक विषमता के कारण सदैव से ही दो वर्ग रहे हैं। पहला पूंजीधारी वर्ग एवं दूसरा श्रमिक वर्ग। मार्क्स ने इन्हें सम्पन्न एवं विपन्न के रूप में भी विभाजित किया है। मार्क्स के मतानुसार आदिकाल से समाज में जितने भी परिवर्तन हुए हैं वे इन्हीं दोनों वर्गों के भेद मतभेद के कारण हुए हैं, अर्थात इन दोनों वर्गों की प्रमुखताएं एवं हित एक दूसरे के परस्पर विरोधी रहे हैं।

अलगाव (Alienation) अर्थात विरक्ति या अलग होना। साहित्य के लिए यह कोई नया शब्द नहीं है, परंतु पहली बार इस शब्द को समाजशास्त्र से जोड़ने का श्रेय कार्ल मार्क्स को जाता है। जिस सामाजिक व्यवस्था में उत्पादक स्वयं उत्पादित वस्तुओं से एवं उत्पादन के साधनों से वंचित रहता है वहां अलगाव की स्थिति पैदा होना निश्चित है ऐसा मार्क्स का कहना है। मार्क्स की अलगाव की धारणा कहती है कि पूंजीवादी व्यवस्था में पूंजी का श्रम पर आधिपत्य होता है।

विचारधारा उन विचारों का समुच्च्य है जिसे एक वर्ग या समूह अपनी आस्था और विश्वास प्रकट करते हुए शासन की वैधता प्राप्त करने में सहायक मानता है। विचारधारा का सामान्य अर्थ राजनीतिक सिद्धांत के रूप में किसी समाज या समूह में प्रचलित उन विचारों का योग है जिनके आधार पर वह किसी सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक संगठन विशेष को उचित या अनुचित ठहराता है। इस प्रकार वह उन विचारों पर आधारित कानून और राजनैतिक सामाजिक ढांचे को मान्यता देता है।

विचारधारा के आलोचक अक्सर इसे एक ऐसे विश्वास के विषय के रूप में व्यक्त करते हैं जिसका कोई वैज्ञानिक आधार नहीं होता। ऐसी मान्यता है कि किसी विचारधारा के अनुगामी उसे ही अंतिम सत्य मानकर उसका पालन करते हैं, साथ ही उसके सच को साबित करने या उसकी जांच की आवश्यकता नहीं समझी जाती। मार्क्स के मुताबिक विचारधारा एक मिथ्या चेतना की अभिव्यक्ति है।

टिप्पणी

2.9 मुख्य शब्दावली

- **वर्ग** : अपने समान हितों के प्रति समान रूप से जागरूक लोगों का समूह।
- **वर्ग चेतना** : अपने वर्ग के हितों के बारे में जागरूकता का भाव।
- **सर्वहारा** : श्रमिक, श्रम शक्ति से अपना जीवन यापन करने वाले।
- **बुर्जुआ** : उत्पादन के साधनों के मालिक, पूंजी के स्वामी।
- **वर्ग संघर्ष** : दो विपरीत विचार एवं हितों वाले समूह जब आपस में टकराते हैं, क्योंकि वे अपने हितों की सुरक्षा चाहते हैं।
- **क्रांति** : किसी संघर्ष के परिणामस्वरूप समाज में लाया गया बड़ा परिवर्तन।
- **वर्ग–विहीन** : जिस समाज में सभी के हित समान हो एवं उसके निवासी समानता में विश्वास रखते हो।
- **पूंजीवाद** : उत्पादन की वह व्यवस्था जिसमें मुख्यतः पूंजी, श्रम और मशीनरी को साधन रूप में प्रयोग किया जाता हो।
- **अलगाव** : अपने आस–पास के वातावरण से विरक्ति एवं उदासीनता, सृजनात्मकता का अभाव।
- **विचारधारा** : एक व्यक्ति के मूल्यों, विश्वासों, मान्यताओं, और अपेक्षाओं का समुच्च्य।

2.10 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. मार्क्स के सामाजिक परिवर्तन का सिद्धांत किस परिकल्पना पर आधारित है?
2. द्वंद्वात्मक भौतिकवाद को परिभाषित कीजिए।
3. ऐतिहासिक भौतिकवाद की व्याख्या में किन अवस्थाओं को शामिल किया गया है, उल्लेखित कीजिए।
4. आर्थिक नियतिवाद से आप क्या समझते हैं? स्पष्ट कीजिए।
5. वर्गविहीन समाज किसे कहते हैं? परिभाषित कीजिए।

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. मार्क्स के सामाजिक परिवर्तन एवं द्वंद्वात्मक भौतिकवाद सिद्धांत का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कीजिए।

टिप्पणी

2. मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद की विभिन्न चरणों के माध्यम से व्याख्या कीजिए।
3. अतिरिक्त मूल्य सिद्धांत एवं शोषण की अवधारणा का विश्लेषण कीजिए।
4. पूंजीवादी समाज में अलगाव की क्या अवधारणा है? विस्तार से समझाइए।
5. निम्न पर टिप्पणी लिखिए–
   (क) वर्ग संघर्ष का सिद्धांत
   (ख) सर्वहारा क्रांति
   (ग) वर्गविहीन समाज
   (घ) विचारधारा का सिद्धांत

2.11 सहायक पाठ्य सामग्री

1. गुप्ता, एम. एल. तथा शर्मा, डी.डी., 'समाजशास्त्र', साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, 2010
2. शर्मा, वीरेन्द्र प्रकाश, 'समाजशास्त्रीय चिन्तन के आधार', पंचशील प्रकाशन, 2005
3. दुबे, एस.सी, 'इंडियन सोसाइटी', नेशनल बुक ट्रस्ट, 2010
4. अग्रवाल, जी.के, 'समाजशास्त्र के सिद्धांत', साहित्य भवन आगरा, 2000
5. अब्राहम एवं मार्गन, 'सोशियोलॉजिकल थ्योरी'।
6. टी. बी. बोटामोर, 'सोशियोलॉजी'।
7. डॉ डी. एस. बघेल, 'महान समाजशास्त्रीय विचारक'।
8. शर्मा एवं गुप्ता, 'समकालीन समाजशास्त्रीय सिद्धांत', साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा, 2002
9. शर्मा एवं गुप्ता, 'समाजशास्त्र के सिद्धांत', साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा, 2007
10. वीरेन्द्र प्रकाश शर्मा, 'समाजशास्त्र के सिद्धांत', पंचशील प्रकाशन, जयपुर, 2007
11. रवीन्द्र नाथ मुकर्जी, 'समाजशास्त्र का सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य', विवेक प्रकाशन, दिल्ली, 2007
12. ब्लैक, मैक्स 1961, 'द सोशल थ्योरीज ऑफ टॉलकॉट पारसंस : ए क्रिटिकल ऐक्जामिनेशन', प्रेंटिस हॉल, इंको : ईगलवुड क्लिप्स न्यूज
13. पारसंस, टॉलकॉट 1951, 'द सोशल सिस्टम द फ्री प्रेस', ग्लेनको इलिनॉय

इकाई 3 इमाइल दुर्खीम

टिप्पणी

3.0 परिचय
3.1 उद्देश्य
3.2 दुर्खीम का समाज संबंधी चिंतन
- 3.2.1 बौद्धिक पृष्ठभूमि
- 3.2.2 दुर्खीम की दृष्टि में समाज व्यवस्था और उसका विघटन
- 3.2.3 औद्योगिक क्रांति की देन सामाजिक विभाजन
- 3.2.4 पूंजीवादी समाज में बढ़ता श्रम विभाजन
- 3.2.5 यांत्रिक एवं जैविक एकजुटता
- 3.2.6 श्रम विभाजन का विस्तार
- 3.2.7 सामाजिक रोग (पैथोलॉजिकल) के स्तर पर श्रम विभाजन

3.3 आत्महत्या संबंधी सिद्धांत का विशद अध्ययन
- 3.3.1 आत्महत्या के विषय में पूर्व सिद्धांत और विचार
- 3.3.2 आत्महत्या दर
- 3.3.3 दुर्खीम का आत्महत्या पर विशिष्ट समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण
- 3.3.4 आत्महत्या के प्रकार
- 3.3.5 समाज के साथ व्यक्ति के एकीकरण की समस्या

3.4 धर्म संबंधी सामाजिक सिद्धांत
- 3.4.1 धर्म के उद्‌भव और भूमिका के पूर्व सिद्धांत
- 3.4.2 धर्म संरचना : पवित्र और अपवित्र
- 3.4.3 पवित्रता की अवधारणा का आधार
- 3.4.4 एक सर्वोच्च ईश्वर के रूप में समाज
- 3.4.5 धार्मिक रीति–रिवाज
- 3.4.6 धार्मिक प्रतीकों की सामाजिक भूमिका
- 3.4.7 दुर्खीम का समाजशास्त्रीय पद्धतियों में योगदान : एक विज्ञान के रूप में समाजशास्त्र

3.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
3.6 सारांश
3.7 मुख्य शब्दावली
3.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
3.9 सहायक पाठ्य सामग्री

3.0 परिचय

समाजशास्त्र को व्यवस्थित रूप और अकादमिक प्रतिष्ठा देने वाले पश्चिमी विद्वानों में इमाइल दुर्खीम का नाम अत्यंत महत्वपूर्ण है। उन्होंने मार्क्सवाद के वर्ग संघर्ष संबंधी चिंतन पर कुठाराघात किया। उनका चिंतन संघर्ष की बजाय समन्वय के मार्ग की वकालत करता है। यह चिंतन बदलाव के लिए रक्त बहाने की बात नहीं करता। दुर्खीम कतई यथास्थितिवादी नहीं हैं। वे सामाजिक परिवर्तनों का पक्ष लेते हैं लेकिन बताते हैं कि कैसे समाज इसके लिए स्वयं ही मार्ग तैयार करता है। वे व्यक्ति और समाज के बीच एक अभिनव रिश्ते की बात करते हैं परंतु समाज को व्यक्तियों के जोड़ से कहीं अधिक मानते हैं।

धर्म को अफीम के रूप में प्रतिपादित करने वाली मार्क्स की विचारधारा के विरुद्ध दुर्खीम ने कड़ा वैचारिक प्रतिरोध किया और वैज्ञानिक पद्धति के सहारे धर्म के

सामाजिक महत्व को आधुनिक विश्व के सामने प्रस्तुत किया। इसके साथ ही वे औद्योगीकरण की चुनौतियों पर परंपरागत जीवन मूल्यों की भी वकालत करते नजर आते हैं।

टिप्पणी

वे आत्महत्या के वैज्ञानिक अध्ययन के जरिये उन तकलीफों की बात भी करते हैं, जो समाज के जरिये एक मानव मन पर पड़ती है। वैचारिक और भावनात्मक पहलुओं को स्पर्श करने के बावजूद दुर्खीम की पद्धति इतनी वैज्ञानिक है, कि उनके तमाम आलोचक भी इनकी सराहना करते हैं।

प्रस्तुत इकाई में दुर्खीम के विविध विषयों पर विचारों का वर्णन और उन पर विचार मंथन किया गया है।

3.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- दुर्खीम के विशिष्ट समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण को समझ पाएंगे;
- समाजशास्त्र की कार्यप्रणाली में उनके योगदान को जान पाएंगे;
- दुर्खीम की समाज संबंधी मूल अवधारणा को समझ पाएंगे;
- आत्महत्या के संबंध में दुर्खीम के विशद अध्ययन को समझ पाएंगे;
- धर्म के महत्व के बारे में दुर्खीम के तर्कों को जान पाएंगे।

3.2 दुर्खीम का समाज संबंधी चिंतन

दुर्खीम के समाज संबंधी चिंतन को विस्तार से निम्न तथ्यों के अंतर्गत समझा जा सकता है–

3.2.1 बौद्धिक पृष्ठभूमि

फ्रांस के एक यहूदी परिवार में जन्मे दुर्खीम की मान्यता एक ऐसे राजनीतिक उदारवादी विचारक के रूप में है, जिन्होंने व्यक्तिगत स्वतंत्रता का पक्ष लिया। आज के परिप्रेक्ष्य में उन्हें सोशल डेमोक्रेट्स के निकट समझा जा सकता है जिन्होंने वर्ग संघर्ष पर आधारित समाजवादी विचारधारा का तो विरोध किया लेकिन सामाजिक सुधारों का पक्ष लिया।

डेविड इमाइल दुर्खीम आधुनिक समाजशास्त्र के प्रमुख शिल्पियों में से एक माने जाते हैं। दुर्खीम का परिवार रब्बी अर्थात यहूदी पुजारी था। दुर्खीम व्यक्तिगत जीवन में धर्मनिरपेक्ष रहे लेकिन उन्होंने धर्म के सामाजिक प्रभाव को माना ही नहीं बल्कि इसे प्रतिष्ठा भी प्रदान की।

दुर्खीम प्रारंभ से मेधावी विद्यार्थी थे और उनके सहपाठियों में बर्गसन और ज्यां जौरेस जैसे विद्यार्थी थे जिन्होंने अपने–अपने क्षेत्रों में कीर्तिमान बनाए। दुर्खीम ने ऑगस्ट कॉम्टे और हरबर्ट स्पेंसर जैसे विद्वानों के साहित्य का विशद अध्ययन किया। दुर्खीम ने इसके लिए मनोविज्ञान, दर्शन और नीतिशास्त्र आदि विषयों में ज्ञानार्जन

टिप्पणी

किया। धीरे–धीरे से समाज का वैज्ञानिक विश्लेषण करना उनका प्रिय कार्यक्षेत्र बन गया। हालांकि उस दौर में फ्रांस में उस दौर में समाजशास्त्र की विषय के रूप में मान्यता नहीं थी और इस नजरिये से उनके लिए समाज के अध्ययन को अकादमिक प्रतिष्ठा देना पहली चुनौती थी। समाजशास्त्र को कोई गंभीरता से लेने को उन दिनों तैयार नहीं था। अपने अध्ययन के लिए आधार जुटाना दुर्खीम के लिए चुनौती थी मगर इसके बावजूद समाज अध्ययन के प्रति प्रेम उन्हें आगे बढ़ाता चला गया।

समाजशास्त्र के बेहतर अध्ययन के लिए वे जर्मनी गए और मारबर्ग, बर्लिन और लैपजिग विश्वविद्यालय में उन्होंने इसका अध्ययन किया। जर्मनी में ही समाज के प्रति वैज्ञानिक शोध के प्रति उनका जुड़ाव और बढ़ा। अपने पीएचडी शोध के दौरान उन्होंने समाज में श्रम विभाजन पर विस्तार से कार्य किया जो आगे चलकर उनके विविध अकादमिक कार्यों का आधार बना। इस कार्य से उन्हें प्रतिष्ठा और अकादमिक विश्वास दोनों की प्राप्ति हुई और धीरे–धीरे वे बुद्धिजीवी वर्ग में स्थान बनाने लगे। बीच–बीच में उन्होंने कई प्रांतीय विद्यालयों में दर्शनशास्त्र पढ़ाया।

जर्मनी में अध्ययन के दौरान दुर्खीम ने कई शोधपरक आलेख लिखे, जिनका विषय समाजशास्त्र या दर्शन होता था। विलियम वुंड के विचारों के प्रति रुझान इन आलेखों में देखा जा सकता है। उनकी ख्याति उनके देश फ्रांस तक पहुंची और 1887 में उन्हें बोर्डेआस्क विश्वविद्यालय में पढ़ाने का न्योता मिला, जहां विश्ववविद्यालय में पहली बार उनके जरिये समाजशास्त्र का अध्यापन किया जाने का प्रस्ताव था। दो वर्षों के विशद अध्ययन के बाद वे वापस फ्रांस लौट आए। समाजशास्त्र के साथ ही उन्होंने अध्यापन प्रविधि का अध्यापन किया। फ्रांस के शिक्षा जगत में यह एक महत्वपूर्ण मोड़ था क्योंकि इसके बाद समाज के अध्ययन को धीरे–धीरे एक मान्यता मिलने लगी और समाजशास्त्र के अध्यापन के क्षेत्र में फ्रांस ने दुनिया को महत्वपूर्ण योगदान भी दिया। दुर्खीम ने फ्रांस की स्कूल व्यवस्था में बदलाव लाने का प्रयास किया और अब समाज विज्ञान का अध्ययन उनके पाठ्यक्रम का हिस्सा बन गया। हालांकि दुर्खीम का रास्ता इतना आसान नहीं था। धार्मिक कट्टरतावादियों ने धर्म के सामाजिक पक्ष को महत्व देने का भी विरोध किया लेकिन साथ ही दुर्खीम को धर्म के उदारवादी स्वरूप के समर्थकों सहित बुद्धिजीवी वर्ग और आम जनता का व्यापक समर्थन भी प्राप्त हुआ।

1890 का दशक उनके बौद्धिक और सृजनात्मक जीवन में प्रमुख स्थान रखता है। 1893 में समाज में श्रम विभाजन शीर्षक से उनका शोध प्रकाशित हुआ। इस बीच फ्रांस का राजनीतिक और सामाजिक जीवन उथल–पुथल से भर गया। फ्रैंको–प्रशन वार के बाद नेपोलियन तृतीय का सिंहासन छिन गया और थर्ड रिपब्लिक ने सत्ता संभाली। लेकिन थर्ड रिपब्लिक की स्वीकार्यता आसान नहीं थी। थर्ड रिपब्लिक के प्रति सहानुभूति रखने वाले दुर्खीम की यहूदी पृष्ठभूमि और समाज के प्रति विशिष्ट सोच उनके देश में ही संकट से घिर गई पर दुर्खीम वैचारिक चुनौती देते रहे।

1895 में दुर्खीम की कृति 'रूल्स ऑफ सोशयोलॉजिकल मैथड' प्रकाशित हुई, जिसे समाजशास्त्र के अध्ययन का घोषणापत्र या मैनिफेस्टो माना गया। इस कृति में समाजशास्त्र क्या है और इसका अध्ययन कैसे संभव है, विषय पर विस्तार से चर्चा की गई। इसी के साथ यूनिवर्सिटी ऑफ बोर्डेआक्स में समाजशास्त्र विभाग की स्थापना हुई, जो यूरोप में समाजशास्त्र का प्रथम विभाग था।

टिप्पणी

1898 में उन्होंने 'सुसाइड : अ केस स्टडी' प्रकाशित की, जिसने समाजशास्त्र के क्षेत्र में मानक मोनोग्राफ के तौर पर कार्य किया। दुर्खीम क्रिमिनोलॉजी के क्षेत्र में क्वांटिटेटिव स्टडी आरंभ करने वाले लोगों में प्रमुख थे। इस पद्धति का प्रयोग उन्होंने आत्महत्या के अध्ययन में भी किया।

1992 में दुर्खीम ने अकादमिक क्षेत्र में एक बड़ा मुकाम हासिल कर लिया। वे सोरबौन में एजुकेशन चेयर नियुक्त हो गए। इस पद को हासिल करने में उनके सामने कई चुनौतियां आई थीं और उन्हें रोकने के लिए कई कुटिल राजनीति भी खेली गई पर आखिरकार उनकी मेधा की जीत हुई। 1906 में वे शिक्षाविज्ञान के प्रोफेसर भी बने और 1913 में उन्हें एजुकेशन एवं सोशियोलाजी के चेयर पद से नवाजा गया। उनके व्याख्यान सभी विषयों के विद्यार्थियों के लिए अनिवार्य होते थे। इसी दौरान शिक्षा मंत्रालय में उन्हें सलाहकार का दायित्व प्राप्त हुआ। 1912 में उन्होंने अपना अंतिम प्रमुख कार्य 'एलिमेंटी फॉर्म्स ऑफ रिलीजियस लाइफ' प्रकाशित किया।

3.2.2 दुर्खीम की दृष्टि में समाज व्यवस्था और उसका विघटन

दुर्खीम की समाज के प्रति दृष्टि विकासवादी रही। उनकी दृष्टि में समाज संरचना और कार्य एक जीवित इकाई के समान है। वे यह तो मानते हैं कि समाज की मूल इकाई व्यक्ति है परन्तु वे समाज को मात्र व्यक्तियों के जोड़ से कहीं अधिक मानते हैं। अर्थात समाज का अपना अस्तित्व व्यक्तियों के समुच्चय से कहीं ज्यादा है। इसके अलावा समाज अपने मानकों, यथार्थ, भावनाओं और सामाजिक अंतर्धारा से व्यक्तियों को प्रभावित करता है। समाज के कार्य व्यक्तियों के कार्यों से आरंभ होते हैं लेकिन उससे इतर अस्तित्व भी रखते हैं और साथ ही व्यक्तियों को प्रभावित करते हैं।

दुर्खीम सामाजिक व्यवस्था के प्रश्न को बहुत महत्व देते थे। उनका जोर इस बात पर विशेष था कि किस तरह व्यक्ति और उसकी स्वतंत्रता को महत्व देते हुए आधुनिक समाज को संगठित किया जाए। स्वतंत्रता और नैतिकता के संगम और व्यक्ति और समाज के समायोजन पर उनका विशेष जोर था। सामूहिक चेतना, सामाजिकता और कानून व्यवस्था पर उनका खास ध्यान था।

हडसन का मानना है कि दुर्खीम ने समाजशास्त्र को मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र और दर्शन के बरअक्स खड़ा किया। समाजशास्त्र को परिभाषित करते हुए दुर्खीम का विचार था कि समाजशास्त्र सामूहिकता या सामूहिक जीवन का अध्ययन है और इसका अनुभव व्यक्ति के अध्ययन से प्राप्त नहीं हो सकता है। धर्म, शहरी तंत्र, न्याय व्यवस्था और पारिवारिक मूल्य, इनके अध्ययन पर उन्होंने जोर दिया। दुर्खीम का मानना था कि सामूहिक विश्वास, परंपराएं और सामूहिक चेतना में एक विशेष बल होता है जो व्यक्तियों से अपने अनुसार कार्य करा लेते हैं। अधिकांश व्यक्ति उनके निर्देशन पर अभिनेता के समान अभिनय करते हैं। इस दृष्टि से दुर्खीम एक संरचनावादी विचारक सिद्ध होते हैं। दुर्खीम के अनुसार यह सत्य है कि कार्य व्यक्ति ही करते हैं लेकिन वे इसका निर्णय वास्तव में स्वयं नहीं लेते। उनकी प्रतिबद्धताएं और कर्तव्य होते हैं और वास्तव में वे वैसे कार्य करते हैं जैसा कि सामाजिक ढांचा होता है। मनोविज्ञान व्यक्ति के व्यवहार और उसकी मानसिक प्रक्रिया का अध्ययन करता है जबकि समाजशास्त्र उस सामाजिक संरचना का अध्ययन करता है जो कि समाज के कार्य को प्रभावित करता है।

टिप्पणी

दुर्खीम वस्तुतः संरचनात्मक प्रकार्यवादी समाजशास्त्री थे। इस सिद्धांत का मानना है कि समाज अपने आप में एक सिस्टम या व्यवस्था है इसलिए इसकी कियाएं वस्तुतः व्यवस्थित होती हैं। समाज के विभिन्न तत्वों की अपनी विशिष्टता होती है और वे एक–दूसरे से सम्बद्ध भी होते हैं।

भारतीय परिदृश्य में इसे देखें तो इसे इस बात से समझा जा सकता है कि सदियों से यहां समाज व्यवस्था जीवित और सक्रिय है। परिवार, शिक्षण व्यवस्था से लेकर धर्म तक के अपने विशिष्ट कार्य हैं। प्रत्येक एक–दूसरे को मान्यता देता है और वास्तव में दूसरे के विकास में सहायक है। शिक्षण व्यवस्था तभी बेहतर संभव है जब परिवार उसे अच्छे और अनुशासित बच्चे उपलब्ध कराए और इसी तरह से आदर्श विद्यार्थी उत्पन्न करके शिक्षण तंत्र परिवार को एक महत्वपूर्ण भेंट दिया करता है। ऐसा नहीं है कि इस समाज व्यवस्था में कोई कमी नहीं आ सकती। वास्तव में ऐसी कमियां समय–समय पर अनुभव की गई हैं लेकिन सामाजिक व्यवस्था अपनी कमियों को अपने ही आप दूर करती है। जब ऐसा लगता है कि समाज में जड़ता आ गई है या पुरानी व्यवस्था कारगर नहीं रह गई है, बदलाव की प्रक्रिया यकीनन शुरू होती है।

3.2.3 औद्योगिक क्रांति की देन सामाजिक विभाजन

दुर्खीम सामाजिक विभाजन का मूल औद्योगिक क्रांति को मानते थे। उनका विचार था कि विकास के क्रम में समाज में औद्योगीकरण बढ़ा। शहर बने। पर गांव में जहां व्यक्ति एक सम्पूर्ण कार्य के लिए उत्तरदायी रहता था, शहर में उसके कार्य का दायरा सिकुड़ता चला गया, इससे कार्य में विशिष्टता तो आई लेकिन समग्रता समाप्त हो गई। कार्य का दायरा छोटा होने से उन्हें समाज के दूसरे वर्गों पर निर्भर होना पड़ा और वास्तव में यही शहरी वर्गों के एक–दूसरे पर निर्भरता का कारण था, हालांकि इसका आधार सामूहिक नैतिकता या धर्म जैसे कारक नहीं थे। इन वर्गों की आर्थिक आय का स्रोत कहीं न कहीं एक ही था। इसके कारण व्यवस्था बनाए रहने के लिए इनका एक–दूसरे को सहयोग आवश्यक था। ऐसे में धर्म का स्थान कानून ने ले लिया जो लोगों को भय के बल पर सामाजिकता का पाठ पढ़ाता था।

दुर्खीम के विचार को भारतीय परिदृश्य में भी समझा जा सकता है। उदाहरण के लिए एक गांव में सब्जियों की पैदावार करने वाला कृषक रामप्रसाद का परिवार अपना जीवन बसर कर रहा है। कृषि पैदावार की प्रक्रियाओं को निभाते हुए वह उपज गांव की मंडी तक ले जाता है, खुद ही बेचता है और अर्जित धन से परिवार की व्यवस्था करता है। परन्तु धीरे–धीरे उसका परिवार बढ़ता जाता है, बेटे बड़े होते हैं, जमीन बंटने लगती है और धीरे–धीरे आर्थिक संसाधन कम होने लगते हैं। इस बीच शहर में एक औद्योगिक कपड़ा मिल लगती है, कृषक परिवार का एक बेटा राधेश्याम शहर जाकर रोजी कमाने का फैसला करता है। शहर की भव्यता भी उसके लिए आकर्षण है। शहर में उस मिल में उसे कपड़े की पैकिंग का काम मिलता है। अब वह उत्पादन की सम्पूर्ण प्रक्रिया से वाकिफ नहीं रह गया और उसकी विशेषज्ञता सिर्फ पैकिंग जैसे कार्य तक सिमट कर रह गई है। जब वह गांव में था, तो अधिकांश सफर पैदल या साइकिल पर पूरा कर लेता था, शहर बड़ा है, मिल दूर है, उसे यातायात के साधनों की आवश्यकता है। किसी दूसरे गांव से आया कोई व्यक्ति टैंपो चलाता है। उसके जरिये वह मिल तक पहुंचता है। शहर में आवास की समस्या है। वह एक झुग्गी–झोंपड़ी में रहता है। गांव

टिप्पणी

के उसके अन्य साथी जो रोजगार के लिए उसके साथ आए थे, अब शहर में दूर दराज बस गए हैं। पूरे गांव की खबर उसे चौबारे पर मिल जाती थी, अब शहर की जानकारी के लिए वह चाय की दुकान पर एक अखबार पलटता है। एक दिन पानी के विवाद पर उसका झुग्गी के पड़ोसी से विवाद हो जाता है। मामला मारपीट तक पहुंच जाता है। जो मुद्दा गांव में पंचायत हल कर देती थी, वह अब पुलिस तक पहुंच जाता है। उसका अपना साथी जो परिवार छोड़कर शहर आया था, रेडलाइट एरिया जाने लगा है। गांव में उसका परिवार विघटन की कगार पर है। हालात से भय खाकर राधेश्याम का परिवार उसकी पत्नी और पांच बरस के बेटे को शहर भेजने का फैसला कर लेते हैं।

दुर्खीम शहरी कार्यों को एक क्षेत्र में सिमटा होने के कारण नीरस मानते हैं। क्योंकि व्यक्ति कार्य का समग्र स्वरूप न समझने के कारण उसके साथ जुड़ नहीं पाता और मजदूरी की मानसिकता के साथ काम में बस संलग्न रहता है। परन्तु शहर में उससे बड़ी समस्या नैतिक मूल्यों की शून्यप्राय स्थिति है जिसे दुर्खीम 'एनामी' नाम देते हैं। गांव में एक–दूसरे से जुड़े रहने का भाव, धर्म, कुल अथवा परिवार की प्रतिष्ठा जैसे कारक व्यक्ति को गलत व्यवहार करने से रोकते थे, शहर में धीरे–धीरे यह स्थिति सामाजिक अराजकता की ओर ले जाती है।

3.2.4 पूंजीवादी समाज में बढ़ता श्रम विभाजन

दुर्खीम से पूर्व कार्ल मार्क्स ने पूंजीवाद को श्रम विभाजन का कारण और उससे उपजी समस्याओं की जड़ बताया था लेकिन उनके विश्लेषण का आधार अर्थ केन्द्रित था। दुर्खीम ने समाज का विश्लेषण अधिकतर सामाजिक प्रवृत्तियों के आधार पर करने का प्रयास किया है।

दुर्खीम पूंजीवाद की आलोचना करते हुए कहते हैं कि शहरों में धर्म जैसे नैतिक नियंत्रणों का अभाव व्यक्ति को आत्मकेन्द्रित बनाता है। दुर्खीम के अनुसार औद्योगीकरण के पूर्व समाज में एकता थी क्योंकि लोग एक–दूसरे से वाकिफ थे। लोगों के काम से लेकर वस्त्र तक एक जैसे थे। उन्हें देखकर लोगों को अपने जैसे का अहसास होता था। उनमें सहज ही सामुदायिकता की भावना पैदा हो जाती थी, जो उस समाज में खुशी का कारण थी। व्यवसाय में समानता के अतिरिक्त उनके धार्मिक विश्वास भी एक जैसे थे। औद्योगीकरण के बाद समाज में विशेषज्ञता का आना जरूरी बन गया। विशेषज्ञता का सीधा अर्थ था दूसरों से अलग होना। लेकिन औद्योगीकरण में समाज के विभिन्न वर्गों के बीच निर्भरता कहीं ज्यादा हो गई, पर कारण सामाजिक की बजाय आर्थिक हो गए।

3.2.5 यांत्रिक एवं जैविक एकजुटता

दुर्खीम ने दो प्रकार के समाजों की अवधारणा प्रस्तुत की–मैकेनिकल अर्थात यांत्रिक और आर्गेनिक अर्थात जैविक। मैकेनिकल समाज प्रारंभिक समाज था और आर्गेनिक समाज आधुनिक। इन दोनों समाजों में न केवल संरचना का अंतर था बल्कि इनमें नैतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियां भी भिन्न थीं। मैकेनिकल समाज को यह नाम इसलिए प्राप्त हुआ कि यहां संबंध फेस टू फेस थे। वर्ग विभाजन काफी सरल था और लोगों के विश्वास और परंपराएं सब एक जैसे थे। इस समाज में लोग दूसरों को प्रायः अपने जैसा ही समझते हैं।

टिप्पणी

दूसरी तरफ आर्गेनिक समाज में वर्ग विभाजन जटिल है। व्यक्ति काफी छोटे से क्षेत्र में कार्य करता है और उसमें विशेषज्ञता हासिल करता है। उन्हें अपने जीवन के लिए एक–दूसरे पर निर्भर रहना होता है। इस तरह एक प्रकार की कृत्रिम एकता सामने आती है। उदाहरण के तौर पर सम्पन्न वर्ग के लोगों को अपने वाहन चलाने के लिए ड्राइवर की आवश्यकता होती है। उपभोक्ता वस्तुएं खरीदने के लिए भी उन्हें ऑनलाइन या ऑफ लाइन बाजार चाहिए। वास्तव में शहर के भीतर एक उद्योगपति का कार्य भी समाज के कमजोर वर्ग के बिना चल नहीं सकता, और समाज के कमजोर वर्ग के लोगों के पास आर्थिक लाभ हासिल करते रहने के लिए उपभोक्ता वर्ग के लोगों को प्रसन्न बनाए रखना जरूरी है। पर यह परस्पर निर्भरता आर्थिक है। शहरी समाज में व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सामाजिक व्यवस्था के बीच एक प्रकार का संघर्ष चलता रहता है। यह सामाजिक व्यवस्था भी किसी जीवन मूल्य पर आश्रित नहीं रहती और धर्म की भूमिका कृत्रिम रूप से कानून निभाने लगता है, जिसके विषय में कम ही लोग जानते हैं।

3.2.6 श्रम विभाजन का विस्तार

दुर्खीम के अनुसार समाज बनाने वाले मनुष्य ने ही वर्ग भी बनाए। वास्तव में हर प्रकार का विभाजन एक विनाशकारी विचार नहीं है। वह कार्य को सुविधाजनक स्वरूप देने का प्रयास भी है। उदाहरण के तौर पर समय को ही लें। आदिम मनुष्य के पास समय एक इकाई या सत्ता के रूप में था। उसने ही इसे अपने अनुभव से दिन और रात का स्वरूप दिया और फिर धीरे–धीरे सप्ताह, महीनों और वर्ष का स्वरूप सामने लाने वाले पंचांग या कलेंडर सामने आ गए। समय का सूक्ष्मता और व्यापकता के आधार पर विभाजन करते–करते हम एक तरफ नैनो सेकेंड से नीचे पहुंच गए दूसरी तरफ हमने सहस्राब्दी यानी एक हजार वर्ष की अवधारणा व्यवहार में ला दी है।

3.2.7 सामाजिक रोग (पैथोलॉजिकल) के स्तर पर श्रम विभाजन

सामाजिक समस्याओं को दुर्खीम पैथोलॉजी नाम देते हैं, जो सामाजिक एकता को तोड़ कर समाज को विभाजित कर सकती हैं। इनमें सबसे प्रमुख एनामी है।

दुर्खीम एनामी को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि ऐसी स्थिति जहां सामाजिक मानकों की कमी हो। जहां जनसंख्या की वृद्धि इस प्रकार से हो कि सामाजिक समूहों के बीच संचार की स्थिति ही न हो। आधुनिक समाज के संबंध में इसे बेहतर तरीके से समझा जा सकता है जहां संवादहीनता की स्थिति निरंतर बढ़ती जा रही है। वास्तव में संवाद न होने से एक पक्ष दूसरे पक्ष को समझ पाने में असमर्थ रहता है। दूसरे पक्ष के विषय में पहले पक्ष के मन में पूर्वाग्रह पनपते हैं। दूसरे वर्गों को वह अपने वर्गों या व्यक्तिगत हित के खिलाफ समझता है। धीरे–धीरे यह तनाव बढ़ता जाता है और आखिरकार सामाजिक विघटन का कारण बनता है। दूसरी तरफ संचार होने से दोनों वर्गों या व्यक्तियों के बीच भावनात्मक संबंध बनते हैं, दोनों पक्ष एक–दूसरे के भीतर मानवीय पक्ष को देख पाते हैं, उनके बीच साझा मूल्य विकसित होते हैं। वास्तव में यह साझा मूल्य ही सामाजिकता का आधार है अर्थात ऐसे मूल्य जिन पर सभी पक्ष सहमत हों। पर विविध कारणों से समाज में साझा मूल्यों के स्थान पर व्यक्तिगत विचारों का आधिपत्य होता जा रहा है। देखा जाए, तो इस संवादहीनता के अनेक कारण हैं। अधिक आर्थिक लाभ की आकांक्षा या आर्थिक असुरक्षा के कारण व्यक्ति आत्म केन्द्रित

टिप्पणी

होता जा रहा है। उसके पास सामाजिक होने का समय नहीं है। सामाजिक ढांचा भी काफी हद तक इसके लिए जिम्मेदार है। शहरों में फ्लोटिंग पापुलेशन की परिस्थिति है। यानी कि निवासी तो हैं, पर स्थायी नहीं। जो व्यक्ति स्वयं स्थायी नहीं है, वह दूसरे पक्ष से स्थायी संबंध कैसे रखे। तीसरे आधुनिक तकनीक या सोशल मीडिया भी इस समस्या के लिए जिम्मेदार माना जा रहा है। सोशल मीडिया वर्चुअल रूप से तो लोगों को निकट ला रहा है लेकिन वास्तविकता में एक परिवार के बीच ही लोगों के बीच ऐसी अदृश्य दीवार बन गई है, जिसे पार कर संवाद करना इतना आसान नहीं रह गया है।

दूसरी स्थिति 'बलात् श्रम विभाजन' है। इसका अर्थ ऐसी परिस्थिति से लिया जा सकता है जिसमें शक्ति को हथियाए हुए लोग अपने लोभ के लिए लोगों को ऐसा काम करने के लिए विवश करते हैं, जो उनके मनमाफिक नहीं है। ऐसे लोग नाखुश रहते हैं और धीरे–धीरे या अचानक सामाजिक व्यवस्था के टूटने का कारण बनते हैं।

दुर्खीम का यह विचार भी आधुनिक समाज को परिभाषित करने में काफी हद तक सक्षम है। आधुनिक समाज के विभिन्न वर्गों के बीच आर्थिक खाई बढ़ती जा रही है। उपयुक्त कार्य के अभाव के कारण बेरोजगार युवा अपनी योग्यता से कम स्तर के कार्य मजबूरन स्वीकार कर रहे हैं। जिसके कारण उनमें मानसिक कुंठाएं पैदा हो रही है और सामाजिक विद्वेष को जन्म दिया जा रहा है। रोचक तथ्य यह है कि युवाओं का ध्यान रोजगारों के कम होने पर नहीं है बल्कि वह हर वर्ग अपना शत्रु उस वर्ग को समझ रहा है, जो नौकरियों के लिए उसका प्रतियोगी है। समाज में विभिन्न वर्गों में बढ़ता तनाव जातीय अथवा धार्मिक तनाव का स्वरूप भी अक्सर ले लेता है। जिसके कारण अक्सर स्थिति नियंत्रण से बाहर भी हो जाती है।

दुर्खीम अपराध को भी सामाजिक परिस्थितिजन्य मानते हैं। कई मामलों में अपराध सामाजिक परिस्थिति के प्रति असंतोष होता है। यह बात अवश्य है कि असंतोष व्यक्त करने का तरीका उचित नहीं होता है। कुछ परिस्थितियों में तो वे अपराध होते भी नहीं हैं। ट्रायल ऑफ साक्रेटीज की विवेचना करते हुए दुर्खीम लिखते हैं, 'सुकरात का अपराध उसके विचारों की स्वतंत्रता बताया गया लेकिन आखिरकार उसके विचारों से मानवता और उसके देश का भला हुआ। इसने एक नई नैतिकता को जन्म दिया जिसकी एथेंसवासियों को जरूरत थी।'

दुर्खीम दंड देने वाली व्यवस्था को भी चेताते हुए कहते हैं कि हर अपराध के प्रति दंड की अति घातक हो सकती है। इससे ऐसी प्रतिक्रिया उत्पन्न हो सकती है, जिसका नियंत्रण असंभव हो। प्रगति करने के लिए व्यक्ति को स्वयं को अभिव्यक्त करना आवश्यक है।

इस दृष्टि से देखें तो वास्तव में दुर्खीम वस्तुतः अपराध के नहीं बल्कि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के बड़े पैरोकार के रूप में उभर कर आते हैं। वे नैतिकता को तात्कालिक संदर्भों की बजाय बड़े और व्यापक रूप में देखते हैं। क्योंकि सुकरात से पहले और बाद में भी ऐसे अनेक व्यक्ति हुए जिन्हें अपने युग में अपराधी समझा गया और बाद में उन्हें महापुरुष माना गया। ईसा मसीह को अपने युग में चोरों के साथ सलीब पर टांगा गया। महात्मा गांधी और श्री अरविंद, भगत सिंह आदि को अपने विचारों के कारण जेल में डाला गया पर बाद में इन्हीं व्यक्तियों को समाज का पथ प्रदर्शक माना गया।

टिप्पणी

इस विचार का विश्लेषण इस रूप से भी किया जा सकता है कि समाज की परिस्थितियां कई बार जड़त्व की शिकार हो जाती हैं। तत्कालीन व्यवस्था उन्हें जबरन स्थायित्व देना चाहती है। समाज का एक बड़ा वर्ग उन्हें बदलना चाहता है परन्तु उनमें व्यक्तिगत रूप से ऐसा करने का साहस नहीं होता है। ऐसे में यदि एक व्यक्ति सामने आकर व्यवस्था परिवर्तन की मांग या प्रयास करता है, तो पहले पहल उसे अपराधी ही ठहराया जाता है। परंतु धीरे–धीरे उस व्यक्ति के पक्ष में जन भावनाएं जुड़ती जाती हैं और परिवर्तन संभव हो जाता है।

समाज के प्रति विचलन पैदा करने वाले कारकों को दुर्खीम तीन हिस्सों में बांटते हैं। ये निम्नवत हैं–

(क) ऐसा कारक जो आम दृष्टिकोण को चुनौती दे रहा हो। यह समाज की गलतियों को सामने लाकर सामाजिक परिवर्तन का कारण बनता है।

(ख) विचलन करने वाले तत्व स्थापित सामाजिक मूल्यों का समर्थन कर सकते हैं, और वे जनता को पुनः अनुशासन स्थापित करने के लिए प्रेरित कर सकते हैं।

(ग) विचलन करने वाले लोगों के प्रति प्रतिक्रिया उनके प्रति सामाजिक समर्थन को बढ़ावा दे सकती है।

वास्तव में हर समाज की परिस्थितियां अलग–अलग हो सकती हैं और इसके अनुसार ही समाज में विभिन्न कारक सक्रिय या निष्क्रिय हो सकते हैं। दुर्खीम हर अपराध को वितृष्णा की दृष्टि से देखने की बजाय सामाजिक रूप से सजग होने का पक्ष लेते हैं क्योंकि कुछ घटनाएं जो अपराध जैसी लग रही हों, वास्तव में वे सामाजिक परिवर्तन की आकांक्षा का संकेत भी हो सकती हैं। दुर्खीम का दृष्टिकोण सामाजिक स्थायित्व के नाम पर समाज में जड़ता लाने का नहीं था। यथास्थितिवाद लाने की जबरन कोशिश पूरी सामाजिक व्यवस्था के लिए ही खतरा बन सकती है। दुर्खीम सामाजिक व्यवस्था को मानवीय मूल्यों से सम्बद्ध मानते थे। समाज के तात्कालिक रूप में परिवर्तन आना उनके अनुसार एक सहज प्रक्रिया है, दुर्खीम की दृष्टि से देखें तो समाज एक सतत प्रवाहमान नदी के समान है, जिसमें परिवर्तन अवश्यंभावी है मगर जनहित जैसे कुछ मानवीय मूल्यों में सातत्य निरंतर बना रहता है।

अपनी प्रगति जांचिए

1. दुर्खीम की पुस्तक 'रूल्स ऑफ सोशियोलॉजिकल मैथड' कब प्रकाशित हुई थी?

   (क) 1885 (ख) 1895

   (ग) 1892 (घ) 1898

2. समाज के प्रति विचलन पैदा करने वाले कारकों को दुर्खीम कितने हिस्सों में बांटते हैं?

   (क) तीन (ख) चार

   (ग) पांच (घ) छह

टिप्पणी

3.3 आत्महत्या संबंधी सिद्धांत का विशद अध्ययन

विश्व स्वास्थ्य संगठन ने वर्ष 2002 में आत्महत्या पर टिप्पणी करते हुए कहा था कि पूरी दुनिया में धार्मिक या सांस्कृतिक कारणों से आत्महत्या को एक सामाजिक दाग की तरह से देखकर इसकी आलोचना की जाती है। कुछ देशों में तो आत्महत्या एक अपराध है जिसकी कोशिश करने पर सजा हो सकती है। आत्महत्या वास्तव में एक गोपनीय कृत्य है जिसके चारों तरफ अनेक टैबू हैं। संभव है आज भी न इन्हें कायदे से जाना गया, न वर्गीकृत किया गया और जानबूझ कर मृत्यु के आधिकारिक दस्तावेजों से बाहर कर दिया जाता है।

3.3.1 आत्महत्या के विषय में पूर्व सिद्धांत और विचार

आत्महत्या के संबंध में अनेक धर्मों में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष विचार प्रकट किए गए हैं और प्रायः सभी धर्मों में इसकी आलोचना की गई है। हिन्दू धर्म में आत्मा को शाश्वत माना जाता है। कर्म सिद्धांत के अनुसार हर कर्म का फल नियत है और उसे इस जन्म या अगले जन्म में स्वीकार करना ही होता है। अतः जीवन के कष्टों से हार कर आत्महत्या करने जैसे विचारों को बिल्कुल भी स्वीकार नहीं किया गया है। हां, सती प्रथा और जौहर जैसी प्रथाओं को आत्महत्या से जोड़कर देखा जाता है परन्तु यहां भी यह स्वीकार करना होगा कि यह विशिष्ट स्थितियों या विशिष्ट समाजों में ही सक्रिय थी। राजा दशरथ के देहांत के बाद उनकी कोई भी पत्नी सती नहीं हुई। राक्षस कुल के मेघनाद के बाद उनकी पत्नी अवश्य सती हुई। पांडु की दूसरी पत्नी माद्री उनके साथ सती हुई परन्तु प्रायश्चित रूप में, कुंती अपने बच्चों का पालन–पोषण कर उन्हें जीवन पथ के लिए तैयार करती रहीं। विशिष्ट परिस्थितियों में समाज हित के लिए प्राण उत्सर्ग करने के प्रमाण अवश्य मिलते हैं। असुरों को हराने के लिए दधीचि ने अपनी अस्थियों का दान कर दिया था। जौहर की प्रथा वास्तव में आत्महत्या को मान्यता देने के लिए नहीं बल्कि आतताइयों से अपने आत्मसम्मान को बचाने की परंपरा थी।

जैन मत में सलेखना पद्धति के तहत जीवन त्याग करने की परंपरा है, जो भोजन पानी त्यागकर मृत्यु का वरण करने की एक धार्मिक विधि है। कन्फ्यूशियस आत्महत्या को सामाजिक उत्तरदायित्वों के वहन करने की दिशा में बाधक मानते हैं।

ईसाई मत में भी आत्महत्या को ईश्वरीय आदेश का विरोध बताया गया है। सेंट आगस्टीन ने पांचवें कमांडेंड 'दाउ शैल नाट किल' को ईश्वर का आत्महत्या के विरुद्ध आदेश बताया। और इसे ऐसा पाप कहा जिसके लिए बाद में पछतावा भी नहीं किया जा सकता। बाद में सेंट थॉमस एक्वीनास ने तीन आधारों पर आत्महत्या को गलत ठहराया। पहला यह प्रकृति प्रदत्त उस आत्म प्रेम के प्रतिकूल है, जिसका उद्देश्य हमें संरक्षित रखना है। दूसरा आत्महत्या उस समाज को आघात पहुंचाती है, जिसका व्यक्ति हिस्सा है। तीसरा आत्महत्या ईश्वर के प्रति विश्वासघात है क्योंकि ईश्वर ने हमें जीवन का उपहार दिया और अपना जीवन लेकर हम जीवन वापस लेने के ईश्वर के अधिकार की अवहेलना करते हैं। इन तीन आधारों के चलते मध्यकाल में सिद्धांत बन गया कि आत्महत्या ईश्वर से हमारे रिश्ते को नकारने की कोशिश है। यहां तक कि मध्यकाल में आत्महत्या करने वाले की संपत्ति तक जब्त कर ली जाती थी और मृतक का धर्मसम्मत अंतिम संस्कार तक नहीं किया जाता था। हालांकि ईसाई मत में

आत्महत्या के संबंध में कुछ अपवाद भी मिलते हैं। ईसा मसीह से विश्वासघात के बाद जूडास आत्महत्या कर लेता है। सेंट आगस्टाइन लिखते हैं, उसके पास दया प्राप्ति का कोई अधिकार नहीं बचा था। इसलिए उसके दिल में जीसस से क्षमा मांगने का विचार तक नहीं आया।

टिप्पणी

जहर पीकर अपने प्राण देने को विवश किए गए सुकरात आत्महत्या से पूर्व कहते हैं कि व्यक्ति स्वयं ईश्वर के अधीन है, उसे तब तक अपने जीवन को लेने का अधिकार नहीं जब तक कि ईश्वर उसे ऐसा करने के लिए विवश न कर दे। प्लेटो राज्य और ईश्वर को एक–दूसरे से सम्बद्ध मानते थे। इसलिए उनका मानना था आत्महत्या राज्य के प्रति अपराध होने के साथ ईश्वर के प्रति भी अपराध है। यूटोपिया में लाइलाज रोग और असहनीय दर्द की परिस्थिति में थॉमस मूर आत्महत्या की वकालत करते हैं।

3.3.2 आत्महत्या दर

विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार हर 40 सेकेंड में एक व्यक्ति आत्महत्या कर अपनी जान दे देता है। पूरी दुनिया में 8 से 10 लाख लोग खुदकुशी कर लेते हैं। आत्महत्या का आंकड़ा दुनिया भर में होने वाली हत्याओं की तुलना में दोगुना है। एक अनुमान के मुताबिक आत्महत्या का प्रयास करने वालों की संख्या मरने वालों के आंकड़े से 20 गुनी ज्यादा है। हर आत्महत्या या उसका प्रयास निकटवर्ती लोगों के लिए भी एक बहुत बड़ा मानसिक, सामाजिक या आर्थिक आघात होता है। सड़क दुर्घटनाओं के बाद आत्महत्या ही वह वह कारण है, जिससे सर्वाधिक युवाओं की जान जा रही है।

विकसित देशों में आत्महत्या करने वालों की संख्या विकासशील देशों की तुलना में कहीं ज्यादा है। इन देशों में पुरुषों की आत्महत्या की दर महिलाओं की तुलना में तीन गुनी है। अधिकांश युवा फांसी, जहर या बंदूक के जरिये बड़े निर्मम तरीके से अपनी जान ले लेते हैं, जो बड़ी पीड़ाजनक होती है। अमेरिका में बंदूक से जान लेने वालों की संख्या कुल आत्महत्या के आंकड़ों का साठ फीसदी है। विकासशील देशों में ग्रामीण इलाकों में खासकर कीटनाशकों के जरिये खुदकुशी एक बड़ी समस्या है। विश्व स्वास्थ्य संगठन की रिपोर्ट प्रिवेंटिंग सुसाइड : ए रिसोर्स फॉर पेस्टीसाइड रजिस्टर्स एंड रिपोर्टर्स के अनुसार सही नीतियों, सही समय पर भावनात्मक संबल देकर आत्महत्या का आंकड़ा कम किया जा सकता है। रिपोर्ट के अनसार सही सरकारी नीति के प्रयोग का श्रीलंका एक अच्छा उदाहरण है जहां कीटनाशकों में जहरीले तत्व की मात्रा का नियंत्रण कर 70 फीसदी जानें बच गईं। 1995 से 2012 के बीच वहां करीब 93000 जिन्दगियां बचीं। अवसाद या डिप्रेशन आत्महत्या की प्रमुख वजह है। श्वेत पुरुषों में आत्महत्या की दर अन्य की तुलना में काफी ज्यादा है।

भारत में गृहमंत्रालय के अधीन काम करने वाले नेशनल क्राइम रिकार्ड ब्यूरो के मुताबिक 2019 में हर दिन औसतन 381 आत्महत्याएं हुईं और इस तरह 1,39,123 जिन्दगियां छिन गईं। यह पिछले वर्ष के आंकड़े की तुलना में 3.4 फीसदी ज्यादा है। ब्यूरो के मुताबिक शहरों में आत्महत्या का आंकड़ा पूरे देश में आत्महत्या करने वालों की दर से भी 3.5 फीसदी से ज्यादा है। 2019 में आत्महत्या करने वालों में सबसे बड़ा कारण विवाह के अलावा किसी अन्य कारण से पारिवारिक कलह (32.4), दूसरा स्वास्थ्य संबंधी समस्या (17.1) तीसरा विवाह संबंधी वजह (5.5) और है।

टिप्पणी

ब्यूरो के मुताबिक पुलिस रिकार्ड के अनुसार 2019 में भारत में आत्महत्या करने वालों में 70.2 फीसदी पुरुष और शेष महिलाएं थीं। सर्वाधिक आत्महत्याएं महाराष्ट्र और उसके बाद तमिलनाडु और पश्चिम बंगाल, मध्य प्रदेश और कर्नाटक में हुईं। इन पांच राज्यों में देश की करीबन पचास फीसदी आत्महत्याएं हुईं। दूसरी तरफ सर्वाधिक जनसंख्या वाले राज्य उत्तर प्रदेश में मात्र 3.9 फीसदी खुदकुशी के मामले सामने आए।

आंकड़ों के अनुसार खुदकुशी करने वाले 12.6 फीसदी निरक्षर, 16.3 प्रतिशत प्राइमरी तक शिक्षित थे। 19.6 फीसदी ने मिडिल तक शिक्षा अर्जित की थी जबकि 23.3 प्रतिशत मैट्रिक परीक्षा पास थे। सिर्फ 3.7 प्रतिशत लोग स्नातक या उससे ज्यादा शिक्षित थे।

2018 के आंकड़ों की तुलना में 2019 में आत्महत्या करने वाले युवाओं में 4 फीसदी की वृद्धि थी। आत्महत्या करने वालों का कुल आंकड़ा 3.4 प्रतिशत बढ़ा। आत्महत्या करने वाले आधे से अधिक लोगों ने फांसी लगाकर अपनी जान दी।

3.3.3 दुर्खीम का आत्महत्या पर विशिष्ट समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण

1897 में अपनी लिखी पुस्तक 'सुसाइड : अ स्टडी इन सोशियोलॉजी' में दुर्खीम ने आत्महत्या का गहन विश्लेषण किया है। यह आत्महत्या पर पहला विधिवत समाजशास्त्रीय अध्ययन था। इस अध्ययन को मोनोग्राफ लिखने की प्रामाणिक विधि के रूप में भी मान्यता मिली।

आत्महत्या को परिभाषित करते हुए दुर्खीम कहते हैं कि इसके अंतर्गत मृत्यु के वह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष पाजिटिव या निगेटिव सभी मामले आते हैं जिसमें व्यक्ति यह जानते हुए अपने आपको नतीजा जानते हुए नुकसान पहुंचाता है। दुर्खीम के अनुसार बड़े स्तर पर एनामी होने के कारण आत्महत्या की दर भी ज्यादा है। पाजिटिव एक्ट का मतलब आत्महत्या को सकारात्मक बताना नहीं है, इसमें कृत्य को परिभाषित किया गया है। उदाहरण के लिए स्वयं को गोली मारना पाजिटिव सुसाइड है और भोजन न करना निगेटिव। पहले में व्यक्ति सीधे आत्महत्या को चुनता है और दूसरे में ऐसे माध्यम को जिसकी प्रतिक्रिया व्यक्ति की जीवन हानि होती है। आत्महत्या दोनों ही रूप में एक बीमारी है, निंदनीय है।

आत्महत्या के मामले में सामाजिक करेंट आत्महत्या दर के रूप में व्यक्त की गई है। ये आत्महत्या दर हर समाज में अलग होती है और समाज के विभिन्न वर्गों में अलग होती है। इसलिए इस आत्महत्या दर को सोशल फैक्ट माना जा सकता है क्योंकि वह व्यक्तिगत न होकर सामाजिक प्रवृत्ति को अभिव्यक्त करती है।

इस विषय में दुर्खीम का कहना है कि इतिहास के अलग–अलग क्षणों में आत्महत्या को लेकर अलग–अलग समाज की अलग–अलग प्रवृत्ति रही है। आत्महत्या दर एक वास्तविक और निश्चित संख्या है जो इसके स्थायित्व और परिवर्तन दोनों में नजर आती है।

दुर्खीम ने आत्महत्या का अध्ययन बड़े ही संख्यात्मक और सांख्यिकीय विधि से किया। हालांकि आत्महत्या संबंधी उनके पास समग्र आंकड़े उपलब्ध नहीं थे और न ही उनके पास उन्नत सांख्यिकीय तकनीकें थीं लेकिन परिकल्पनाओं को जांचने, निरस्त करने, अथवा उनकी व्याख्या करने वाली विधियां खासी वैज्ञानिक थीं।

दुर्खीम के अनुसार निम्न वर्गों में आत्महत्या की दर ज्यादा रहती है–

1. महिलाओं की तुलना में पुरुषों में।
2. वैवाहिक या विपरीत लिंग के साथ संबंध रखने वालों की तुलना में एकाकी जीवन जीने वालों में।
3. संतान वालों की तुलना में संतानहीन लोगों में।
4. कैथोलिक और यहूदियों की तुलना में प्रोटेस्टेंट लोगों में।
5. आम नागरिकों की तुलना में सैनिकों में।
6. युद्ध की तुलना में शांतिकाल में।
7. स्कैंडिनेवियन देशों में।

टिप्पणी

महिलाओं की तुलना में पुरुषों में आत्महत्या की दर ज्यादा होना आज के आंकड़ों के अनुसार भी पुष्ट होता है। संभवतया इसका कारण पुरुषों का अंतर्मुखी होना एवं अपने कष्टों को किसी अन्य के सामने व्यक्त न करना है। अनेक सामाजिक मान्यताएं भी इसके पीछे जिम्मेदार बताई जाती हैं। मिसाल के तौर पर महिलाएं मानसिक कष्ट के समय रो सकती हैं, पर पुरुष के लिए ऐसा करना सामाजिक रूप से गलत बताया जाता है। यही स्थिति अविवाहित लोगों में है, अविवाहित लोगों में एक तरफ तो एक तरफ जीवनसाथी से बात करने की स्थिति नहीं बन पाती है। दूसरे सामाजिक मान्यताओं के चलते उनका समाजीकरण उस प्रकार नहीं हो पाता जितना कि विवाहित लोगों का। प्रायः यही कारण संतानहीन लोगों में आत्महत्या की दर ज्यादा रहने का है। धार्मिक मान्यताएं भी किसी न किसी हद तक आत्महत्या के मामलों को नियंत्रित करती हैं। प्रोटेस्टेंट कैथोलिकों की तुलना में आत्मकेन्द्रित ज्यादा होते हैं। दुर्खीम ने प्रोटेस्टेंट बाजारीकरण का पक्षधर सिद्ध किया है। परन्तु इसके विपरीत असर भी देखने को मिले। हर परिस्थिति पर स्वयं को नियंता बनाने की जिद विपरीत परिस्थितियों के आने पर आत्महत्या का दुष्परिणाम भी दे सकती है। इसी तरह युद्ध जीवन उत्सर्ग करने का एक दूसरा और सामाजिक रूप से स्वीकृत माध्यम प्रस्तुत करता है। युद्ध के समय देश को लेकर भावनात्मक उफान इतना जोरों पर होता है, कि वैयक्तिक समस्याएं बेमानी सी लगती हैं। दुर्खीम ने स्वयं भी युद्ध और आत्महत्या के संबंध में आंकड़े प्रस्तुत किए थे जिसके अनुसार आस्ट्रेलिया और इटली में युद्ध के समय दोनों देशों में आत्महत्या की दर में 14 प्रतिशत कमी दर्ज की गई।

3.3.4 आत्महत्या के प्रकार

आत्महत्या के निम्न प्रकार होते हैं–

1. **आत्मकेन्द्रित आत्महत्या (Egoistic Suicide):** दुर्खीम के अनुसार ऐसी आत्महत्या के शिकार व्यक्ति समाज से कटे रहते हैं। इसके कारण वे आत्मकेन्द्रित हो जाते हैं। समाज के साथ सुख–दुख का नाता न होने के कारण ऐसी आत्महत्याएं आज भी समस्या का कारण बनी हुई हैं।
2. **परहितवादी आत्महत्या (Altruistic Suicide):** दुर्खीम के अनुसार ऐसी आत्महत्या करने वाले व्यक्ति ऐसे व्यक्ति होते है जो किसी व्यक्ति अथवा समूह के साथ इस स्तर तक जुड़ गए होते हैं, जिसके कारण उन्हें न अपना हित समझ

आता है और न शेष परिवार अथवा समाज का। ऐसी आत्महत्याओं में सती प्रथा और डैनिश सेनानियों द्वारा की जाने वाली आत्महत्याएं आती हैं।

टिप्पणी

3. **सामाजिक असंतुलनजन्य आत्महत्याएं (Anomic Suicide):** आत्मकेन्द्रित या परहितवादी आत्महत्याएं क्रमशः समाज के साथ अत्यन्त अल्प या अत्यधिक संवाद से उत्पन्न होती हैं लेकिन समाज का दायित्व सिर्फ व्यक्ति को जोड़ने तक केन्द्रित नहीं है। एक समाज को अपने लोगों के विश्वास और व्यवहार को नियंत्रित करना होता है। दुर्खीम का मानना है कि समाज में होने वाली आत्महत्याओं का समाज की नियंत्रण स्थिति से सीधा रिश्ता है। यह सत्य है कि व्यापार घाटा या वित्तीय हानि की स्थिति में आत्महत्याएं समाज में देखी जाती हैं पर दुर्खीम ने यह भी पाया कि समाज में अचानक सम्पन्नता की स्थिति के आ जाने के बाद भी आत्महत्याओं की दर बढ़ जाती है। दुर्खीम ने इस कारण इसे सामाजिक असंतुलन से जन्म लेने वाली आत्महत्याओं की संज्ञा दी। दुर्खीम के अनुसार आवश्यकताओं और आपूर्ति में संतुलन होना बहुत जरूरी है।

4. **भाग्यवादी आत्महत्याएं (Fatalistic Suicide):** दुर्खीम के अनुसार ऐसी आत्महत्याएं तब होती हैं जब समाज की प्रवृत्ति अत्यधिक नियंत्रणकारी हो जाती है। उदाहरण के तौर पर गुलामों द्वारा की जाने वाली आत्महत्याएं, अथवा तथाकथित बांझ महिलाओं द्वारा की जाने वाली खुदकुशी।

3.3.5 समाज के साथ व्यक्ति के एकीकरण की समस्या

'द रूल्स ऑफ सोशयोलॉजिकल मैथड' लिखने के बाद दुर्खीम ने आत्महत्या को अपने प्रमुख विषय के रूप में चुना। संभवतया वे यह बताना चाहते थे कि नितांत निजी समझे जाने वाले विषय को समाजशास्त्र कैसे देखता है। वह भी ऐसा विषय जिसे असामाजिक माना जाता हो। दुर्खीम का लक्ष्य आत्महत्या की प्रवृत्ति की भविष्यवाणी करना नहीं था बल्कि उस अभौतिक सोशल फैक्ट यानी सोशल करंट की व्याख्या करना था। सोशल करंट भी समाज की एक विशिष्टता होती है, फर्क बस यह होता है कि इसकी प्रवृत्ति अस्थायी नहीं होती और जरूरी नहीं कि यह सम्पूर्ण समाज में सार्वजनिक अभिव्यक्ति पाए। हेडन के मुताबिक दुर्खीम की यह इच्छा थी कि यह समाजशास्त्रीय कारकों के जरिये असाामाजिक कृत्यों की भी व्याख्या कर पाएं।

दुर्खीम की आत्महत्या की व्याख्या कितनी गहन और कितनी विशिष्ट थी इसका आकलन एक उदाहरण से मिलता है। दुर्खीम ने अपने अध्ययन में पाया कि गर्मियों के दिनों में अनेक देशों में आत्महत्या दर में वृद्धि हो जाती है। कुछ विश्लेषकों ने इसका कारण बताया कि गर्मियों के चलते तंत्रिका तंत्र अति सक्रिय हो जाता है। दुर्खीम ने पाया कि तापमान के शीर्ष पर पहुंचने से पहले आत्महत्याओं का आंकड़ा शिखर पर पहुंच चुका होता है। इसका अर्थ यह था कि तापमान से आत्महत्याओं की दर में वृद्धि का सीधा संबंध नहीं था। दूसरे यदि ऐसा है तो गरम देशों में आत्महत्या की दर गर्मी के मौसम में ज्यादा होनी चाहिए जबकि ऐसा नहीं था। बाद में अपने अध्ययन के जरिये दुर्खीम न पाया कि गर्मियों में सामाजिक गतिविधियां तुलनात्मक रूप से अधिक होती हैं। दुर्खीम ने तर्क दिया सामूहिक जीवन में आत्महत्या की दर में अंतर डिग्री ऑफ इन्ट्रीगेशन या रेगुलेशन से लगाया जा सकता है। इन्टीग्रेशन की व्याख्या करते हुए

दुर्खीम कहते हैं कि यह सामूहिक भावनाओं को साझा करने का स्तर है। और नियंत्रण स्तर से अभिप्राय लोगों पर लगे सामाजिक अवरोध से है। कैथोलिक प्रोटेस्टेंट की तुलना में सामूहिक भावनाओं को ज्यादा साझा करते हैं अतः आत्महत्या की दर उनमें कम है। दुर्खीम ने यह भी सिद्ध किया कि जिन वर्षों में आंदोलन आदि हुए उनमें आत्महत्या की दर कम रही। इनका भी सामाजिक संवाद से सीधा नाता था।

सार यह है कि समाज में आत्महत्या दर की व्याख्या साामजिक ही हो सकती है। किसी भी समय आत्महत्या की दर को समाज का नैतिक संविधान ही तय करता है। इसे यूं भी कह सकते हैं कि हर समय हर व्यक्ति पर आत्म विनाश के लिए एक प्रकार का सामूहिक बल कार्य करता है। इसका प्रभावी, निष्प्रभावी या कम प्रभावी होना व्यक्ति की निजी प्रवृत्ति और उसे उपलब्ध सहयोग पर निर्भर करता है।

हर एक सामाजिक समूह पर आत्महत्या कृत्य के लिए कम या ज्यादा झुकाव होता है। जरूरी नहीं कि यह परिणाम में परिवर्तित हो। समाज की प्रवृत्ति अहं और एनामी आदि से संचालित होती है। वास्तव में कोई भी आत्महत्या मानसिक स्थिति की प्रतिध्वनि है।

अपनी प्रगति जांचिए

3. आत्महत्या सिद्धांत का विश्लेषण दुर्खीम ने अपनी किस कृति में किया था?
   (क) एलिमेंट्री फार्म्स ऑफ रिलीजियस लाइफ
   (ख) रूल्स ऑफ सोशियोलॉजिकल मैथड
   (ग) सुसाइड : अ स्टडी इन सोशियोलॉजी
   (घ) इनमें से कोई नहीं
4. किस धर्म में आत्मा को शाश्वत माना जाता है?
   (क) जैन धर्म (ख) मुस्लिम धर्म
   (ग) ईसाई धर्म (घ) हिंदू धर्म

3.4 धर्म संबंधी सामाजिक सिद्धांत

धर्म संबंधी सामाजिक सिद्धांत का अध्ययन करने से पूर्व धर्म के विषय में दुर्खीम से पूर्व कुछ विचारकों के विचारों को समझना समीचीन होगा।

धर्म के विषय में दुर्खीम से पूर्व अन्य चिंतकों के विचार

दुर्खीम जब वयस्क हुए, कार्ल मार्क्स (1818–1883) का देहांत हो चुका था। उन्होंने मार्क्स के विपरीत समाज में व्यवस्था, सहमति और एकता पर बल दिया। मार्क्स को दुर्खीम ने विवादास्पद और बीते दौर का सिद्धांत बताकर खारिज किया। दुर्खीम से पहले मार्क्स (1818–1883) के विचारों का एक बड़े वर्ग में आधिपत्य था। धर्म के संबंध में मार्क्स लिखते हैं, धर्म पीड़ित की आह है, यह हृदयहीन विश्व का हृदय और आत्मारहित परिस्थितियों की आत्मा है। वास्तव में यह लोगों के लिए अफीम है। वास्तविक खुशी के लिए धर्म का अंत अनिवार्य है।

टिप्पणी

धर्म की आलोचना करते हुए मार्क्स लिखते हैं कि धर्म का मुख्य कार्य लोगों की पीड़ा का अहसास कम करके उन्हें सामाजिक परिवर्तन से रोकना है। मार्क्स के अनुसार मृत्यु के बाद के जीवन की मान्यता उन्हें इस जीवन के कष्ट सहने के लिए तैयार कर देती है।

यह अलग बात है कि मार्क्स का अध्ययन सिर्फ कुछ धर्मों के विशद अध्ययन तक सीमित था। इनमें उन धर्मों का उल्लेख नहीं था, वर्तमान समाज जीवन को बेहतर करने के लिए हर प्रकार के मानसिक और व्यक्तिगत संघर्ष के लिए व्यक्ति को तैयार करते हैं।

मार्क्स का यह भी आरोप था कि धर्म गरीबों को ईश्वर के निकट बताकर षड्यंत्र करते हैं। वे इस तरह कष्ट सहने को महिमामंडित करते हैं। परन्तु यह आरोप मार्क्स पर भी लगाया जा सकता है कि उन्होंने मजदूरों व किसानों को महिमामंडित ही नहीं किया क्रांति के लिए जीवन उत्सर्ग करने तक को प्रेरित किया। दूसरा दृष्टिकोण यह है, गरीबों को ईश्वर के निकट बताना धर्म द्वारा उन्हें गरिमा देना है, धनी वर्ग में उनके लिए संवेदना पैदा करना है, षड्यंत्र रचना नहीं।

मार्क्स का यह भी कहना था कि धर्म अन्याय के समय ईश्वर या ईश्वर की संतान के आने की बात कहकर लोगों को अन्याय के खिलाफ अक्रिय करते हैं। पर विरोधी चिंतकों की राय में ईश्वर का हस्तक्षेप अन्याय की वैधता को पूरी तरह खारिज और दानवीय सिद्ध करता है। दूसरा, ईश्वर का अवतार लोगों को अन्याय के खिलाफ उठ खड़ा होने की प्रेरणा देता है। मार्क्स का यह कहना था कि धर्म यथास्थिति स्वीकार करते हैं। सामाजिक ढांचा वैसा ही बना रह जाता है। मार्क्स का कहना था कि बुर्जुआ अथवा साधनसम्पन्न व्यक्ति सर्वहारा अथवा गरीबों का शोषण करते हैं। लेकिन धर्म इसे ईश्वर की इच्छा बताते हैं।

मार्क्स के आलोचकों का यह भी कहना है कि यह सत्य है कि कुछ धर्म विचारकों ने समाज में गैर बराबरी को ईश्वरीय इच्छा से जोड़ा है पर साथ ही यह भी सत्य है कि मूल रूप से अनेक धर्मों ने समाज में गैर बराबरी पर ही आघात किया है। किसी भी धर्म की मूल पुस्तक प्रायः गैरबराबरी को स्वीकार कर अक्रिय बने रहने की प्रेरणा नहीं देती। हां यह अवश्य है कि वे धैर्य की प्रेरणा देकर विपरीत परिस्थिति में भी हताश नहीं होने देतीं।

मार्क्स और एंगेल्स ने धर्म को सामाजिक नियंत्रण का जरिया माना। पश्चिम में मार्क्स और एंगेल्स का ऐसा अनुभव रहा भी जहां चर्च ने अपने अनेक निर्णयों के जरिये सामंतों के पक्ष में धर्मादेश कराए जो गरीबों अथवा भूमिहीनों के खिलाफ जाते हैं। वास्तव में वहां चर्च और बुर्जुआ वर्ग का गठजोड़ हुआ। ऐसी स्थितियां दुनिया के अनेक देशों में रहीं। परंतु यह आचरण किसी काल विशेष में धर्म के तथाकथित संरक्षकों का था जिन्होंने अपने ही धर्म का दुरुपयोग किया। धर्म के आधारभूत मूल्यों अथवा शिक्षाओं को इसका दोष नहीं दिया जा सकता।

मार्क्सवाद लागू करने वाले प्रमुख देषों ने प्रायः धर्म विरोधी रुख अपनाया या धर्म को हतोत्साहित किया। परन्तु दोष धर्म पर देना भविष्य में सम्पूर्ण मार्क्सवाद के लिए घातक रहा, जो सोवियत संघ जैसे अपने आधारभूत देश से भी मार्क्सवाद की विदाई का कारण रहा।

धर्म के संबंध में वेबर (1864–1920) के विचार

टिप्पणी

वेबर दुर्खीम के समकालीन थे, हालांकि दोनों में कभी भेंट नहीं हुई। वेबर ने धर्म के आर्थिक प्रभाव का विशद अध्ययन किया। उन्होंने प्रोटेस्टेंट ईसाई धर्म और आर्थिक प्रभाव पर महत्वपूर्ण कार्य करते हुए नीदरलैंड, इंग्लैंड, स्काटलैंड और जर्मनी को अपना कार्यक्षेत्र बनाया। उन्होंने पाया कि यहां के अधिकांश सफल व्यावसायिक लीडर प्रोटेस्टेंट रहे, जिन्होंने ईसाई धर्म के उदारवादी स्वरूप को अपनाया। अपनी कृति 'द प्रोटेस्टेंट वर्क एथिक एंड स्पिरिट आफ कैपिटिलिज्म' (1905) में वेबर लिखते हैं कि प्रोटेस्टेंट पंथ ने पूंजीवाद का प्रसार किया। वेबर ने दर्ज किया कि यह पंथ अधिक श्रम करने, सफल होने और अपना धन तुच्छ चीजों पर खर्च न करने को महत्व देता है।

वेबर ने अपने अनुभव में पाया कि कैथोलिकों की तुलना में प्रोटेस्टेंट अधिक श्रम करने और बचत करने को महत्व देते थे जिसके कारण उनके पास व्यवसाय करने के लिए अधिक पूंजी और उन्नति के लिए श्रम शक्ति उपलब्ध थी। वेबर का मानना था कि पूंजीवाद की इस प्रकार की उन्नति से औद्योगीकरण को बढ़ावा मिला और यहां तक कि मौजूदा विश्वव्यवस्था को लागू करने में प्रोटेस्टेंट पंथ का खास योगदान है।

हालांकि प्रोटेस्टेंट पंथ से जुड़े वेबर के विचार खासे विवादास्पद रहे। धन संग्रह किसी एक पंथ या धर्म की नहीं अनेक धर्मों की सीख है। प्रायः सभी धर्मों अथवा पंथों ने अपव्यय करने की आलोचना की है। दूसरा पूंजीवाद का प्रारंभिक स्वरूप भले ही पूंजी के एकत्र करने के लिए धन संग्रह को महत्व देता हो इसका अगला चरण बाजारवाद से संबद्ध है और बाजारवाद निश्चित रूप से उपभोग बढ़ाने से संबद्ध है। पूंजीवाद घोषित रूप से जरूरतें बढ़ाने हीं नहीं यूज एंड थ्रो जैसी संस्कृति को विकसित करने के लिए उत्तरदायी ठहराया जाता है। और ऐसे में यह नहीं कहा जा सकता है कि मात्र प्रोटेस्टेंट पंथ के चलते पूंजीवाद पनपा और विकसित हुआ। यह अवश्य है कि कैथोलिकों की तुलना में प्रोटेस्टेंट ज्यादा वैचारिक रूप से खुले थे। उनका दृष्टिकोण ज्यादा दुनियावी था और वे व्यावहारिक सफलता को ज्यादा महत्व देते थे। सोच के नजरिये से ज्यादा लचीला होने का निश्चित रूप से कुछ लाभ प्रोटेस्टेंट मत को प्राप्त हुआ। भारत के दृष्टिकोण से भी देखा जाए तो गुप्त और मौर्य काल में धर्म के वैभव के साथ आर्थिक वैभव भी संबद्ध था। अर्थशास्त्र के रचयिता आचार्य चाणक्य एक तरफ धर्म के मूल्यों की प्रतिष्ठा देने की बात करते हैं, साथ ही राज्य के आर्थिक वैभव से इसे संबद्ध भी करते हैं। श्रम को महत्व देने के साथ अपव्यय रोकने के निर्देश अर्थशास्त्र गहराई से देता है। भारत के स्वर्णकाल कहे जाने वाले गुप्तवंश के शासनकाल में भी एक तरफ मंदिरों के निर्माण और पुराणों की रचना हो रही थी, तो साथ ही देश आर्थिक वैभव के शिखर पर था।

3.4.1 धर्म के उद्‌भव और भूमिका के पूर्व सिद्धांत

दुर्खीम के शब्दों में धर्म पवित्र वस्तुओं से संबंधित विश्वास एवं कार्य है, जो लोगों को एक करता है। अर्थात पवित्र वस्तुओं या विचारों के समुच्चय के प्रति आस्था लोगों को जोड़ती है। यह एक नहीं हर धर्म का सत्य है।

दुर्खीम का सिद्धांत धर्म के सामाजिक महत्व को सिद्ध करता है। मानवशास्त्रियों और सामाजिक शास्त्रियों में यह मूल कार्य प्रविधि रही है कि किसी भी सामाजिक

स्थिति को समझने के लिए वे आदिम जाति अर्थात जनजातियों का अध्ययन करते हैं क्योंकि माना यह जाता है कि उनके बीच उक्त सामाजिक या अन्य स्थिति बाकी वर्गों की तुलना में अपने मूल स्वरूप के निकट मौजूद होती है।

टिप्पणी

दुर्खीम का चिंतन फ्रायड की तुलना में कहीं अधिक व्यापक नजर आता है क्योंकि दुर्खीम आदि मानव के चिंतन को उस समय से जोड़ कर देखते हैं। फ्रायड अपनी कृति 'टोटम एंड टैबू' में आदि मानव के चिंतन की तुलना मानसिक रोगियों से कर बैठे। दूसरी तरफ दुर्खीम अपनी कृति 'द एलिमेंटरी फार्म्स ऑफ रिलीजियस लाइफ' में लिखते हैं कि पवित्रता का सामाजिक अनुभव सामाजिक अंतःसंबंधों को जन्म देता है। वास्तव में पवित्रता की अवधारणा के बिना आदर्श की अवधारणा मुश्किल है। दुर्खीम एक महत्वपूर्ण अवधारणा प्रस्तुत करते हैं कि धर्म के जरिये ही मनुष्य ने प्रारंभ में तर्क की ओर कदम रखना सीखा क्योंकि 'तर्कबुद्धि की बुनियाद समय, स्थान, वर्गीकरण, शक्ति और कार्य कारण के सिद्धांत में हैं और जिनकी आरंभिक सीख धर्म में मिलती है।'

उदाहरण के लिए काल या समय का बोध धर्म का एक महत्वपूर्ण तत्व है। अवधारणाओं में परिवर्तन अलग बात है, वह धार्मिक धारणाओं में भी समय के साथ आता है और वैज्ञानिक अवधारणाओं में भी। दुर्खीम तो यहां तक कहते हैं कि आदिम मनुष्य की सामाजिक संरचना और विश्वास आज के विश्वासों से कमतर नहीं ठहराए जा सकते।

यह उचित प्रतीत होता है क्योंकि आदिम मनुष्य की संरचना अपने उस काल में अनुभव और आवश्यकताओं के आधार पर की थी। समय के साथ आवश्यकताएं बदलीं, और उनमें परिवर्तन आया। यह नहीं कहा जा सकता कि आज की व्यवस्था भी अनंत काल तक स्थायी रहेगी। हमने आज की व्यवस्था आज के अपने अनुभव पर की है, उसी तरह आदिम मनुष्य ने अपने दौर की सामाजिक व्यवस्था में अपने उस दौर के सामाजिक अनुभवों का प्रयोग किया। दोनों ही अनुभवजन्य और तार्किक सत्य पर आधारित थे।

वास्तव में दुर्खीम अपने इस विचार के जरिये मानवीय प्रगति को कमतर नहीं आंक रहे बल्कि किसी भी दौर के मानव को कमतर आंकने की कोशिश को नकार रहे हैं। वस्तुतः अनेक पाश्चात्य विचारकों ने तर्क को आधुनिक विश्व की नायाब सोच के तौर पर पेश करने की कोशिश की है। दुर्खीम के विचार इस प्रकार की सोच पर सीधा प्रहार करते हैं। क्योंकि वे तर्कबुद्धि को किसी एक दौर की देन की बजाय सामाजिक उत्पाद मानते हैं। यानी तर्करचना का सामाजिक संदर्भों से सीधा संबंध है। वस्तुतः तर्क किसी निर्वात में तैयार नहीं होते। उन्हें भी आधार की आवश्यकता होती है।

धर्मनिरपेक्ष होते हुए भी दुर्खीम इस बात की वकालत करते हैं कि समाज में धर्म की प्रतिष्ठा होनी ही चाहिए। वे तर्क देते हैं कि कथित धर्मनिरपेक्ष समाज के जो मूल्य हैं, वे धर्म से ही आए हैं।

दुर्खीम की यह व्याख्या अत्यंत महत्वपूर्ण है क्योंकि मूल्यों की स्थापना धर्म के बिना अत्यंत कठिन है। सदियों से धर्म ने समाज में मूल्यों की स्थापना की। कानून संचालित राज्य में भय का महत्व ज्यादा है जब कि धर्म में भय का तत्व होते हुए भी नैतिक जीवन जीने के लिए सकारात्मक प्रेरणाएं भी सम्मिलित हैं। इसके अतिरिक्त

टिप्पणी

कानून या विज्ञान व्यक्ति के निजी आचरण पर नियंत्रण रखने में सक्षम नहीं है। मिसाल के तौर पर सच बोलने के लिए या जरूरतमंदों की मदद करने के लिए कानून आपको बाध्य नहीं कर सकता लेकिन धर्म यह कार्य सदियों से करता रहा है। पश्चिमी समाज ने धर्मनिरपेक्ष समाज की अवधारणा प्रस्तुत करते हुए समता, स्वतंत्रता और भाईचारे की अवधारणा प्रस्तुत की है, उसे बहुत पहले धर्म ने अभिव्यक्त कर दिया था।

दुर्खीम धर्म के पक्ष में अंधभक्त विचारक भी नहीं थे। वे कहते थे कि संगठित धर्मों को केवल विश्वास के आधार पर भी नहीं समझा जा सकता, क्योंकि इस तरह के धर्म समाज के पारंपरिक रूप को अक्षुण्ण रखने के लिए व्यक्तिगत आस्था का दमन करते हुए पाए जाते हैं।

दुर्खीम धर्म का उद्‌भव भी सामूहिकता अथवा सामाजिकता की भावना से जोड़ते हैं। वे कहते हैं कि धर्म को सामाजिक स्वीकृति तभी मिलती है जब लोग सामूहिकता की भावना से जुड़ते हैं, साथ आकर धर्म से जुड़ी किसी मान्यता या कर्मकांड को सम्पादित करते हैं। ऐसे समय लोगों का साथ आना और एक ही विचार संचारित करना विशेष महत्व रखता है। लोगों का सामूहिक रूप से साथ आने में एक प्रकार का विद्युत प्रवाह होता है। यह अवैयक्तिक शक्ति धर्म का एक प्रमुख आधार है। इससे नए लोग धर्म से संबंधित होते हैं, यह उन्हें निजी जीवन से ऊपर उठाता है और उन्हें यह अहसास देता है कि वे किसी अद्‌भुत ऊर्जा के अधीन कार्य कर रहे हैं।

भारत के सन्दर्भ में इसे कुंभ के उदाहरण से समझा जाता है। लाखों–करोड़ों लोग देश के विभिन्न कोनों से साथ आते हैं। नदियों के प्रति आस्था उन्हें जोड़ती है। पवित्र होने का भाव उन्हें साथ लाता है। उनकी सामूहिकता के साथ ही उनमें एकता का भाव और मजबूत होता है और आने वाली पीढ़ियां भी इस विशाल संगम को देखकर इससे जुड़ती हैं।

धर्म के सम्बन्ध में दुर्खीम प्रतीकों को विशेष महत्व देते हैं। उनका विचार है कि इन प्रतीकों के साथ सामाजिक विश्वास की ऊर्जा जुड़ी होती है। समाज इन प्रतीकों को मान्यता देता है। धर्म निश्चित रूप से कुछ विचारों या भावनाओं से जुड़ा है, पर ये भावनाएं अमूर्त हैं। इन भावनाओं को समझने के लिए ऐसे प्रतीक की आवश्यकता है जिनसे ये भावनाएं स्पष्ट हों। समाज के सभी लोग उन प्रतीकों को सम्मान दें। यह सम्मान ही इन प्रतीकों को पवित्र बनाता है। वास्तव में इन्हीं प्रतीकों के जरिये समाज के लोग किसी विचार या भाव को स्वीकार कर पाते हैं और अक्सर ये प्रतीक ही किसी समाज विशेष को एक विशेष पहचान देते हैं।

इसे मूर्तिपूजा या अन्य पवित्र प्रतीकों की अवधारणा से समझा जा सकता है। मूर्ति शब्द मूर्त से उपजा है जो अमूर्त से उलट है। अर्थात विचार या भाव जो अब तक अमूर्त थे मूर्तियों के जरिये उन्हें लोगों के सामने साकार रूप में प्रस्तुत किया जा सकता हैं। यहां पर बौद्ध धर्म का उदाहरण समीचीन होगा। प्रारंभ में बुद्ध का अपना स्वरूप इतना सम्मोहक था, कि उस युग में उनके किसी अन्य प्रतीक की आवश्यकता नहीं हुई। परन्तु बुद्ध के बाद उनके प्रतीक गढ़े गए। प्रारंभ में उन्हें हाथी, अश्व आदि रूपों से चित्रित किया गया। उदाहरण के लिए अश्व उनके समाज हित में गृहत्याग का प्रतीक था। बाद में बुद्धत्व की शांति मूर्ति के रूप में मुखर हुई। स्वास्तिक आदि अनेक ऐसे प्रतीक हैं जो भारत में हिन्दुओं, बौद्धों और जैनों सब में पवित्र दृष्टि से देखे जाते

टिप्पणी

हैं। भारत में मूर्ति सिंधु सभ्यता से लेकर आज तक जीवित है। वास्तव में हर मूर्ति अपने आपमें किसी विचार को सम्प्रेषित करती है। दुर्गा के अनेक हाथों का होना सामूहिकता की शक्ति का प्रतीक है। गणपति अपने आपमें प्रकृति और पुरुष के संगम के प्रतीक हैं, जो भारत में जन्मे प्रायः हर पंथ बौद्ध, जैन आदि में पूजित हैं। इस प्रकार अनेक प्रतीकों का सामाजिक महत्व दुर्खीम के विचारों के आधार पर समझा जा सकता है। इस्लाम में मूर्ति पूजा वर्जित है लेकिन चांद तारे जैसे प्रतीकों का सम्मान वे भी करते हैं। इसी प्रकार ईसाइयों में जीसस और मरियम की मूर्तियों या क्रास जैसे प्रतीकों को सम्मान दिया जाता है। इसी प्रकार हर देश द्वारा अपने ध्वज को सम्मान देना वास्तव में एक प्रकार से प्रतीक पूजन है। भौतिक दृष्टि से देखा जाए तो ध्वज अपने आपमें एक कपड़ा है, जिस पर कुछ रंग या आकार चित्रित हैं। लेकिन हर देश के ध्वज के साथ उसके नागरिकों की जुड़ी हुई सामूहिक भावना उसे विशेष स्थाान देती है। इन भावनाओं के साथ ध्वज के प्रतीक से जुड़ा इतिहास, संघर्ष या अन्य स्मृतियां भी सम्मिलित होती हैं। दुर्खीम के विचारों से समझा जा सकता है कि राष्ट्र ध्वज, राष्ट्रीय गीत या राष्ट्रीय गान को सम्पूर्ण समाज द्वारा सम्मान देना वास्तव में समाज को आपस में भी जोड़ता है।

दुर्खीम इन प्रतीकों के जरिये सामाजिक ज्ञान और अनुभव को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में स्थानांतरित होने की बात भी कहते हैं, क्योंकि प्रतीकों के प्रति सम्मान यदि सतत बना रहता है, तो समाज का अस्तित्व भी सतत अथवा निरंतर कहा जा सकता है। इस दृष्टि से अतीत के ज्ञान से आज को जोड़े रखने के लिए अतीत के प्रतीकों का सम्मान अनिवार्य प्रतीत होता है।

दुर्खीम का धर्म के प्रति दृष्टिकोण मार्क्स के विचारों से कहीं अलग है। मार्क्स धर्म को अफीम कहते हैं, इस दृष्टिकोण को न ही धर्म की मूल भावना से जोड़ा जा सकता है, न ही साधारणीकृत किया जा सकता अर्थात सभी धर्मों पर लागू नहीं किया जा सकता। यह महत्वपूर्ण है कि मार्क्स और दुर्खीम दोनों समाज के महत्व को स्वीकार करते हैं। किंतु जहां मार्क्स धर्म के प्रति नकारात्मक अथवा उपेक्षात्मक रूख रखते हैं, दुर्खीम धर्म के प्रति सकारात्मक रुख रखते हैं। गौरतलब है कि दुर्खीम एक यहूदी धार्मिक परिवार में जन्म लेने के बावजूद धर्मनिरपेक्ष विचारों के थे और उन्होंने परिवार की परंपरा के अनुसार रब्बी अर्थात पुजारी बनने की अपेक्षा शिक्षक बनने को अपना लक्ष्य तय किया। इसके बावजूद धर्म के सामाजिक महत्व को उन्होंने शीर्ष स्थान दिया। मार्क्स के विचारों का खंडन करते हुए दुर्खीम उनको 'अप्रासंगिक' कहते हैं। गौरतलब है धर्म के सामाजिक महत्व पर दुर्खीम के विचार वेबर से कुछ मिलते हैं। वेबर के अनुसार धर्म से व्यक्ति का अपने आस–पास की दुनिया के प्रति विचार निर्धारित होता है और इसी से उसकी रुचियां और उसके भावी कार्य निर्धारित होते हैं। वेबर के अनुसार धर्म ने प्राकृतिक रहस्यों को स्वीकार करने में मदद की, पीड़ाओं को कम किया और यहां तक कि आधुनिक अर्थव्यवस्था को लागू करने में मदद की।

संभवतया मार्क्स द्वारा धर्म को अफीम कहा जाना इस ओर इशारा करता है कि इतिहास के अनुसार कई धर्म प्रमुखों ने व्यक्ति के विवेक का अतिक्रमण कर उन्हें हिंसा के लिए उकसाया। परंतु इसका दोष धर्म को न देकर उसे परिभाषित करने वाले लोगों को भी दिया जा सकता है। इसके अलावा जहां तक हिंसा का प्रश्न है, स्वयं मार्क्स

की अवधारणा का प्रयोग या दुष्प्रयोग कर रक्तरंजित हिंसा एक सदी से ज्यादा समय से दुनिया के विभिन्न कोनों में हो रही है।

3.4.2 धर्म संरचना : पवित्र और अपवित्र

टिप्पणी

दुर्खीम धर्म के दो पक्ष बताते थे भाव या विश्वास पक्ष और दूसरा धार्मिक व्यवहार पक्ष। विश्वास पक्ष सामूहिक प्रतीकों से जाना जा सकता है और धार्मिक नियमों की अभिव्यक्ति धार्मिक या अन्य कृत्यों से होती है। दुर्खीम ने विश्वास पक्ष को ज्यादा महत्व देते हुए सिद्ध किया कि धर्म हर वास्तविक, आभासी या आदर्श चीज को दो भागों में विभक्त करता है–पवित्र और अपवित्र। हर धर्म के सम्पूर्ण इतिहास में इन दो चीजों को एक–दूसरे से बिल्कुल अलग रखा जाता है। दुर्खीम पवित्र वस्तुओं को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि पवित्र वस्तु वह है जो सशक्त पाबंदियों के चलते अपवित्र से अलग और सुरक्षित रखी जाती है। अपवित्र को परिभाषित करते हुए वे कहते हैं, वे पवित्रता से बहुत दूर होती हैं। धार्मिक विश्वास पवित्र वस्तुओं के मध्य आपसी संबंध और अपवित्र वस्तुओं के प्रति उनकी प्रतिक्रिया पर टिके होते हैं। धार्मिक नियम मुख्यतया पवित्र वस्तुओं के प्रति व्यक्ति के व्यवहार पर टिके हुए होते हैं। चूंकि पवित्र वस्तुएं अनेक हो सकती हैं अतः ये नियम जटिल होते चले जाते हैं। इस प्रकार विश्वास और व्यवहार पक्ष मिलकर धर्म की सृष्टि करते हैं। दुर्खीम लिखते हैं कि धर्म पवित्र वस्तुओं के प्रति विश्वास और व्यवहार का समेकित रूप है।

3.4.3 पवित्रता की अवधारणा का आधार

वास्तव में दुर्खीम ने अपने दौर में आस्ट्रेलिया की अरुंटा जनजाति का अध्ययन किया और पाया कि वे संसार में पाई जाने वाली हर वस्तु को दो भागों में बांटते हैं–पवित्र और अपवित्र। पवित्र को सामान्य जीवन से अलग रखा जाता है, इसे टोटम कहा जाता है। टोटम नदी, वृक्ष या जानवर कुछ भी हो सकते हैं।

टोटम की मान्यता के आधार पर ही एक जनजाति दूसरी जनजाति से अलग बंटी दिखती है। दुर्खीम टोटम को ही धर्म का प्रारंभिक स्वरूप मानते हैं।

वास्तव में पवित्रता अर्थात अवगुणों से दूरी या सर्वश्रेष्ठता के रूप में ईश्वर को जोड़ने की प्रवृत्ति धर्म का एक प्रमुख आधार है। गुफाओं के भित्ति चित्रों में एक ही विशालकाय व्यक्ति द्वारा विभिन्न पशुओं पर नियंत्रण हो, या देवता को अनेक हाथों से युक्त दिखाना हो, दोनों ही प्रतीक शक्ति पूजन की प्रवृत्ति के परिचायक हैं। वेदों के भाष्य लेखक आचार्य श्रीराम शर्मा ईश्वर की एक व्याख्या सभी सद्गुणों के समुच्चय के रूप में करते हैं। प्राचीन संस्कृति अध्येता वासुदेव शरण अग्रवाल अपनी पुस्तक 'भूमि को देवत्व प्रदान' में लिखते हैं कि हर एक सर्वश्रेष्ठ वस्तु को हिन्दू धर्म में ईश्वर से जोड़ दिया गया। सर्वाधिक शुद्ध नदी गंगा देवी कही गई और सबसे बड़ा पर्वत हिमालय। पर्वतों के शिखर और नदी का उद्गम भी अति पवित्र माने गए। यहां तक कि गीता में श्रीकृष्ण हर सर्वश्रेष्ठ वस्तु से ईश्वरत्व का संबंध स्थापित करते हैं।

वस्तुतः पवित्र और अपवित्र आगे चलकर सही और गलत के रूप में निरूपित होते हैं और समाज के सामने उनके जरिये नैतिकता का मानदंड स्थापित होता है। दुनिया के हर धर्म में सही और गलत के प्रति संघर्ष को अत्यधिक महत्व दिया गया

टिप्पणी

है। यह संघर्ष बाह्य भी हो सकता है और आंतरिक भी। भारतीय महाकाव्यों के संदर्भ में राम और रावण का युद्ध इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। परन्तु यह संघर्ष महाभारत में बाह्य के साथ आंतरिक भी है। अर्थात अधिकांश पात्र अपने भीतर भी सही और गलत के बीच एक संघर्ष की स्थिति पाते हैं। आधुनिक समाज में नैतिकता और अनैतिकता, या सही और गलत की यह छवि धीरे–धीरे विधिक अर्थात कानूनी रूप से सही और गलत के बीच में बंट गई है।

दुर्खीम धर्म को मानवजाति के लिए सबसे मूलभूत सामाजिक संस्था मानते हैं। वास्तव में इसने अन्य संस्थाओं को विकसित होने में मदद ही नहीं की बल्कि इसने स्वयं समाज की संरचना में भी आधारभूत योगदान दिया। धर्म के जरिये ही समाज को सामूहिक चेतना मिली और इसी ने उसे शिकार की खोज में भटकने वाले आदिम मनुष्य से सामाजिक प्राणी बनाया। जीवित रहने के लिए और प्रकृति एवं पशुओं का मुकाबला करने के लिए लोगों का साथ पहले भी जरूरी था, लेकिन धर्म के जरिये वे वैचारिक और भावनात्मक रूप से साथ आए और मनुष्यों के समूह को एक सामाजिक स्वरूप प्रदान हुआ। वास्तव में भावनाओं के प्रतीक में बदलने और व्यवहार के कर्मकांड में परिवर्तित होने के साथ धर्म आकार लेने लगा।

दुर्खीम यह अवश्य मानते हैं कि आधुनिक समाज में धर्म का महत्व अकेली प्रमुख शक्ति के रूप में नहीं रह गया है और अब कानून का भी नियंत्रणकारी स्थान है। लेकिन धर्म के प्रति कतिपय उपेक्षा प्रकट करने वाले विचारों को अस्थायी मानते हुए वे यह भी कहते हैं कि आदर्श समाज के रूप में जो भी सिद्धांत हैं उनका मूल आधार धर्म ही है। साथ ही उनके अनुसार आधुनिक समाज में धर्म के विकल्प में खड़ी होने वाली कोई सत्ता नहीं है। दुर्खीम यह भी कहते हैं कि दुनिया के मौजूदा स्वरूप को समझने के लिए धर्म के विविध रूपों को समझना पड़ेगा।

3.4.4 एक सर्वोच्च ईश्वर के रूप में समाज

दुर्खीम के अनुसार समाज और ईश्वर एक ही सिक्के के पहलू हैं। समुदाय का देवता वास्तव में समाज ही होता है जो भौतिक रूप में एक पवित्र पौधे या पशु के रूप में भी नजर आ सकता है।

दुर्खीम के अनुसार धर्म समाज से जुड़े कुछ कारणों से जन्म लेता है। धर्म व्यक्ति की सामूहिकता की भावना से धर्म का सीधा जुड़ाव है। इसका अर्थ है जब तक यह सामूहिकता की भावना है धर्म का अस्तित्व रहेगा। समय के साथ इसकी प्रवृत्ति में अंतर आ सकता है, किसी भी समाज की मूल प्रवृत्ति उसकी धार्मिक भावनाएं हैं इसलिए धर्म को नकारा नहीं जा सकता।

धर्म का संबंध ईश्वर की अवधारणा के होने या न होने से नहीं है। दुर्खीम इस संबंध में बौद्ध धर्म का उदाहरण देते हैं जहां ईश्वर की अवधारणा नहीं है फिर भी यह धर्म पूरे विश्व में पुष्पित पल्लवित हुआ। धर्म का सीधा संबंध व्यक्ति और उसके जीवन से है और इसमें नैतिकता, संस्कृति, राजनीति, अर्थ सभी कुछ आ जाता है।

समाज या राष्ट्र राज्य के लिए भी सामूहिक प्रतीकों को स्वीकार करना आवश्यक है। अलग–अलग समाजों में धर्म के स्वरूप अलग–अलग हो सकते हैं लेकिन उनका महत्व हर समाज में होना अनिवार्य है।

टिप्पणी

समाज को धर्म से जोड़ने की बात अनेक धार्मिक विचारकों ने भी कही है। हिन्दू धर्म में आमजन को ईश्वरत्व का रूप देने की मान्यता है। वेदमूर्ति श्रीराम शर्मा आचार्य कहते हैं कि विराट समाज अपने आप में ईश्वरत्व की अभिव्यक्ति है। वास्तव में देश को दैवीय स्वरूप देना इसी अवधारणा का स्वरूप है। फ्रांस में देश को महिला स्वरूप में अभिव्यक्त किया गया। अमेरिका अपने आपको स्टैच्यू ऑफ लिबर्टी से जोड़ता है और भारत में भारत माता की अवधारणा है। यह अवधारणा किसी अमूर्त की उपासना ही नहीं है। विवेकानंद हर भारतवासी की सेवा के जरिये भारत माता की सेवा का संदेश देते हैं। डिस्कवरी ऑफ इंडिया में जवाहरलाल नेहरू भी लिखते हैं कि भारत माता कौन है, ये पहाड़, नदी, जंगल, पर्वत पर इनसे भी ज्यादा हर एक व्यक्ति।

वास्तव में वैदिक ऋचाएं 'नमो स्वनन्ताय सहस्र मूर्तये' कहकर जन–जन में व्याप्त ईश्वर की उपासना की बात कहती आई हैं। दुर्खीम के विचार उसी शाश्वत सत्य को अभिव्यक्त करते हैं जिसमें वे समाज को ईश्वर मानते हैं। यहां मार्क्स और दुर्खीम के विचारों में भेद करना फिर समीचीन होगा क्योंकि मार्क्स और दुर्खीम दोनों ही समाज को प्रमुखता देते हैं। लेकिन मार्क्स धर्म को नकारकर आर्थिक प्रवृत्तियों के सहारे समाज को परिभाषित करना चाहते हैं, वहीं दुर्खीम धर्म को समाज का मूल भाव मानकर कहते हैं कि धर्म के जरिये ही सदियों से मानव ने सामाजिकता और नैतिकता का पाठ पढ़ा है, उसे नई पीढ़ी को सौंपा है। भले ही वर्तमान पीढ़ी धर्म को आज उतना महत्व देती नजर न आ रही हो पर जिन मानवतापरक मूल्यों को नई पीढ़ी महत्व देती है, वे धर्म से ही उत्पन्न हुए हैं।

राष्ट्र राज्य के लिए भी सामूहिक प्रतीकों को स्वीकार करना आवश्यक है। अलग–अलग समाजों में धर्म के स्वरूप अलग–अलग हो सकते हैं लेकिन उनका महत्व हर समाज में होना अनिवार्य है।

3.4.5 धार्मिक रीति–रिवाज

'इन द एलिमेंटरी फार्म्स ऑफ रिलीजियस लाइफ' में दुर्खीम पवित्र कार्यों को रिचुअल या धार्मिक रीति–रिवाजों की संज्ञा देते हैं। दुर्खीम इन्हें दो भागों में बांटते हैं–सकारात्मक और नकारात्मक। सकारात्मक रीति–रिवाजों का अर्थ उन रीति–रिवाजों से लिया जाता है जिनमें पवित्र वस्तु की अनुभूति या आनंद लिया जाता है जबकि नकारात्मक रीति–रिवाजों से आशय ऐसे धार्मिक कृत्यों से है जिसमें पवित्र वस्तु की अपवित्र वस्तुओं से रक्षा की जाती है। दुर्खीम के अनुसार किसी एक पवित्र स्थान पर सामूहिक रूप से लोगों का जाकर सामूहिक रूप से एक विशिष्ट कृत्य करना, सामूहिकता और नैतिक रूप से श्रेष्ठता की भावना का संचार करता है और इसके साथ ही उनमें दुनिया और अपने आपको देखने का एक खास नजरिया विकसित होता है।

हालांकि मेरी डी के अनुसार यह आवश्यक नहीं कि सभी व्यक्ति उन प्रतीकों के असली अर्थ को समान रूप से समझे। कुछ के लिए रीति–रिवाज सारहीन कृत्य लग सकता है। यह भावना समय के बढ़ने के साथ आचार्य श्रीराम शर्मा इसलिए प्रतीकों के वास्तव अर्थ और भाव समझने पर जोर देते हैं और उनको एक ऐसे कोड के रूप में देखते हैं जिनके भीतर अनेक सूक्ष्म लेकिन सशक्त भावनाएं और विचार कुशलतापूर्वक निरूपित होते हैं।

टिप्पणी

3.4.6 धार्मिक प्रतीकों की सामाजिक भूमिका

दुर्खीम लिखते हैं कि सभी धार्मिक विचार और भावनाएं एक ही चीज साझा करती हैं और वह यह कि ये विचार और भावनाएं एक व्यक्ति की नहीं होकर सामूहिक हैं जो आमतौर पर काफी गहरी हैं। जब भी मनुष्य सामूहिकता में रहेंगे, वे सामूहिक प्रतीकों पर बात करेंगे, और ये सामूहिक प्रतीक ही उन्हें और पास लेकर आएंगे। जब भी कभी एक सार्वभौमिक सत्य समुदाय अनुभव करता है, उसका चरित्र धार्मिक हो जाता है। इस तरह दुर्खीम के लिए धर्म का सारतत्व सामूहिक विश्वास है। इसका महत्व सर्वोच्च होता है और कोई इससे इनकार नहीं कर सकता है।

हर सुव्यवस्थित समाज के पास प्रारंभ से सामूहिक विश्वास रहे हैं, जिन्होंने धर्म का चरित्र ग्रहण किया। ये विश्वास समाज के ताने–बाने में इस प्रकार शामिल होते हैं कि धर्म का सामान्य भाव बन जाते हैं, संस्थाओं में शामिल हो जाते हैं। दुर्खीम कहते हैं कि धर्म वह समाज है जो अपनी उपासना करता है।

दुर्खीम की दृष्टि से देखें तो धार्मिक प्रतीकों का अपार सामाजिक महत्व है। राज्याभिषेक से लेकर दाहसंस्कार से जुड़ी सामूहिक धार्मिक प्रक्रियाओं का एक अलग अर्थ प्राप्त हो सकता है। उदारण के तौर पर राज्याभिषेक में राजा का पद धार्मिक रूप से श्रेष्ठ व्यक्ति द्वारा प्रदान किया जाता है। यह धर्म की राजतंत्र पर श्रेष्ठता और धर्म प्रमुख द्वारा राजा पर विश्वास किए जाने का प्रतीक है। पवित्रीकरण से जुड़ी सारी प्रक्रियाएं इस बात का संकेत देती हैं कि राजा के लिए किसी भी व्यक्ति के प्रति पूर्वाग्रह रखना अनुचित है। सामूहिक रूप से जनता की उपस्थिति उसकी स्वीकार्यता का संकेत देती है। सम्पूर्ण प्रक्रिया इस बात की भावना का संचार करती है कि राजा के लिए निजी कुछ भी नहीं, उसके लिए जनकल्याण ही आदर्श है। प्राचीन भारत समेत दुनिया की विभिन्न संस्कृतियों में राजा को दैवीय अनुग्रह प्राप्त व्यक्ति या ईश्वर पुत्र के रूप में प्रतिष्ठित किया गया। यह उसके प्रति जनसम्मान में वृद्धि करता है, जिससे उसके निर्णयों के प्रति सामाजिक स्वीकृति का संचार हो।

इसी प्रकार अंतिम संस्कार के समय धार्मिक संस्कार जीवन की नश्वरता के साथ मृत्यु पश्चात जीवन की ओर संकेत करते हैं। सामूहिक रूप से उपस्थित व्यक्ति एक तरफ तो मृतक के परिजनों को भावनात्मक रूप से सहारा देते हैं, दूसरी तरफ धार्मिक संस्कार समूह को अपना जीवन नैतिक बनाने की प्रेरणा देते हैं। जीवन की नश्वरता के साथ जीवन को सही तरह से जीने की प्रेरणा अंतिम संस्कार की धार्मिक प्रक्रियाओं में सहजता और सूक्ष्मता के साथ संबद्ध की गई होती है।

यहां पवित्र का अर्थ पुनः इस रूप में समझने की भी आवश्यकता है कि पवित्रता के साथ लोगों का विश्वास और सामूहिक स्वीकृति जुड़ी होती है। उस पर आमतौर पर प्रश्न नहीं किया जा सकता है क्योंकि इसी के माध्यम से सामाजिक व्यवस्था संचालित होती है। जब तक कि आवश्यकता पड़ने पर वैकल्पिक सामाजिक व्यवस्था का नया आधार न तैयार हो। हालांकि नई सामाजिक व्यवस्था में भी पुनः पवित्रता और सामूहिक स्वीकृति आदि की आवश्यकता होती है।

इस दृष्टि से देखें तो धार्मिक कृत्य समय–समय पर होने वाले मात्र सामाजिक उत्सव नहीं हैं बल्कि वे बहुत कुछ संचारित करते हैं। वे नैतिक भावनाओं से संतृप्त होते

हैं। यहां तक कि सोशल मीडिया के दौर में किसी एक सामूहिक धार्मिक कृत्य से लाखों लोगों का जुड़ना कुछ हद तक इसी प्रकार की भावनाओं का संचार करता है। यहां तक कि इनके माध्यम से देश प्रेम और समाज निष्ठा जैसी भावनाओं का संचार भी साथ–साथ किया जा सकता है। आधुनिक भारत में लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक सार्वजनिक गणेश पूजन इस बात का सशक्त उदाहरण है कि किस प्रकार एक धार्मिक उत्सव के आयोजन के माध्यम से सामूहिकता की भावना के साथ देशप्रेम की भावना निरूपित की जा सकती है।

टिप्पणी

3.4.7 दुर्खीम का समाजशास्त्रीय पद्धतियों में योगदान : एक विज्ञान के रूप में समाजशास्त्र

दुर्खीम के अनुसार समाजशास्त्र सामाजिक तथ्यों या सोशल फैक्ट्स का विज्ञान है। समाजशास्त्र को ऐसे विज्ञान के रूप में परिभाषित किया जाता है जो कि सामाजिक जीवन के अंतर्गत आने वाले संबंधों, प्रक्रियाओं और संस्थाओं का विश्लेषण करने और समझने की कोशिश करता है। इसके अंतर्गत मानवीय संबंधों का औपचारिक समाजशास्त्र, सामाजिक प्रक्रियाओं और संस्थाओं का विश्लेषण और व्याख्या, ऐतिहासिक समाजशास्त्र और अधिगम समाजशास्त्र आदि आते हैं।

सामाजिक तथ्य : दुर्खीम ने सोशल फैक्ट शब्द का प्रयोग सामाजिक ढांचे या ऐसे सामाजिक मानकों को व्यक्त करने के लिए किया है जिनका व्यक्ति से इतर अस्तित्व होता है और वे सोशल एक्शन को प्रभावित करते हैं।

दुर्खीम ने दो तरह के सोशल फैक्ट की चर्चा की। भौतिक और अभौतिक सामाजिक तथ्य। भौतिक सामाजिक तथ्यों के अंतर्गत समाज के संरचनात्मक घटक जैसे चर्च, राज्य आदि और रूपात्मक घटक जैसे जनसंख्या वितरण, संचार के साधन और आवास व्यवस्था आदि आते हैं जबकि अभौतिक तथ्यों के अंतर्गत समाज के नैतिक और सांस्कृतिक घटक आते हैं जिनमें नैतिकता, सामूहिक चेतना, सामूहिक प्रतिनिधित्व, सोशल करंट या सामाजिक अंतर्धारा जैसे तथ्य आते हैं।

दुर्खीम ने इन सामाजिक यथार्थों का रिश्ता विभिन्न सामाजिक परिवर्तनों से सिद्ध किया। दुर्खीम ने एक सैद्धांतिक मॉडल या आइडियल टाइम की अवधारणा के सहारे हर प्रकार के समाज के प्रारंभिक स्वरूप से उसके आधुनिक रूप में तब्दील होने की प्रक्रिया को अभिव्यक्त किया। साथ ही दुर्खीम ने समाज में बदलाव की इस प्रक्रिया के दौरान परिर्तन का भी अध्ययन किया। दुर्खीम ने अपना अध्ययन समाज के संरचनात्मक घटकों जैसे कार्य पद्धति, कार्य संबंध और आर्थिक घटक आदि तक सीमित नहीं रखा बल्कि नैतिक और सांस्कृतिक रूप से हो रहे बदलावों का अध्ययन करने की भी कोशिश की।

दुर्खीम धर्म के सोशल फैक्ट को खास महत्व देते हैं क्योंकि उनके अनुसार यह अतिविशिष्ट अभौतिक सामाजिक तथ्य है। सदियों से समाज में इसने सामूहिक नैतिकता की अवधारणा को विकसित किया और साथ ही समाज को अनुशासित किया। हालांकि आधुनिकता के आने के साथ समाज की संरचना जटिल होती गई और अब समाज व्यक्ति के व्यवहार को नियंत्रित करने वाली अकेली ताकत नहीं रह गया। अन्य सोशल फैक्ट्स में कानून से लेकर विज्ञान तक सभी शामिल हैं। हालांकि समाज में उनकी धर्म जैसी स्वीकार्यता आज भी नहीं है।

सोशियोलॉजिज्म पश्चिमी दुनिया के लिए नया था। इसका पहला प्रयोग समाजशास्त्र के समानार्थी के रूप में किया गया और दूसरा इसका प्रयोग समाजशास्त्र की मान्य अवधारणा के विपरीत उपस्थित संघर्षरत अवधारणा के लिए किया जाता है।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

5. निम्न में से धर्म को सामाजिक नियंत्रण का जरिया किसने माना?
   (क) दुर्खीम (ख) वेबर
   (ग) मार्क्स व एंगेल्स (घ) उपरोक्त सभी
6. दुर्खीम के अनुसार धर्म के कितने पक्ष होते हैं?
   (क) दो (ख) तीन
   (ग) चार (घ) पांच
7. "समाजशास्त्र सामाजिक तथ्यों या सोशल फैक्ट्स का विज्ञान है।" यह किसका कथन है?
   (क) वेबर (ख) दुर्खीम
   (ग) मार्क्स (घ) एंगेल्स
8. सामाजिक ढांचे या सामाजिक मानकों को व्यक्त करने के लिए दुर्खीम ने किस शब्द का प्रयोग किया?
   (क) नैतिकता (ख) सामूहिक चेतना
   (ग) सोशल फैक्ट (घ) सोशल करंट

3.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ख)
2. (क)
3. (ग)
4. (घ)
5. (ग)
6. (क)
7. (ख)
8. (ग)

3.6 सारांश

दुर्खीम समाज की वैज्ञानिक व्याख्या करते हुए इसे व्यक्तियों के जोड़ से कहीं अधिक सिद्ध करते हैं। समाज में परिवर्तन के लिए वे हिंसा की बजाय संवाद को महत्व देते हैं। आत्महत्या के अध्ययन के जरिये वे समाजशास्त्र की वैज्ञानिक पद्धति विकसित

करते हैं। और धर्म के प्रतीकों का अर्थ समझने पर जोर देते हुए वे धर्म को ज्ञान प्राप्ति के साथ सामाजिक स्थायित्व से जोड़ते हैं।

टिप्पणी

डेविड इमाइल दुर्खीम आधुनिक समाजशास्त्र के प्रमुख शिल्पियों में से एक माने जाते हैं। दुर्खीम का परिवार रब्बी अर्थात यहूदी पुजारी था। दुर्खीम व्यक्तिगत जीवन में धर्मनिरपेक्ष रहे लेकिन उन्होंने धर्म के सामाजिक प्रभाव को माना ही नहीं बल्कि इसे प्रतिष्ठा भी प्रदान की।

दुर्खीम की समाज के प्रति दृष्टि विकासवादी रही। उनकी दृष्टि में समाज संरचना और कार्य एक जीवित इकाई के समान है। वे यह तो मानते हैं कि समाज की मूल इकाई व्यक्ति है परन्तु वे समाज को मात्र व्यक्तियों के जोड़ से कहीं अधिक मानते हैं।

दुर्खीम सामाजिक विभाजन का मूल औद्योगिक क्रांति को मानते थे। उनका विचार था कि विकास के क्रम में समाज में औद्योगीकरण बढ़ा। शहर बने। पर गांव में जहां व्यक्ति एक सम्पूर्ण कार्य के लिए उत्तरदायी रहता था, शहर में उसके कार्य का दायरा सिकुड़ता चला गया, इससे कार्य में विशिष्टता तो आई लेकिन समग्रता समाप्त हो गई। कार्य का दायरा छोटा होने से उन्हें समाज के दूसरे वर्गों पर निर्भर होना पड़ा और वास्तव में यही शहरी वर्गों के एक–दूसरे पर निर्भरता का कारण था, हालांकि इसका आधार सामूहिक नैतिकता या धर्म जैसे कारक नहीं थे। इन वर्गों की आर्थिक आय का स्रोत कहीं न कहीं एक ही था। इसके कारण व्यवस्था बनाए रहने के लिए इनका एक–दूसरे को सहयोग आवश्यक था। ऐसे में धर्म का स्थान कानून ने ले लिया जो लोगों को भय के बल पर सामाजिकता का पाठ पढ़ाता था।

दुर्खीम पूंजीवाद की आलोचना करते हुए कहते हैं कि शहरों में धर्म जैसे नैतिक नियंत्रणों का अभाव व्यक्ति को आत्मकेन्द्रित बनाता है। दुर्खीम के अनुसार औद्योगीकरण के पूर्व समाज में एकता थी क्योंकि लोग एक–दूसरे से वाकिफ थे। लोगों के काम से लेकर वस्त्र तक एक जैसे थे। उन्हें देखकर लोगों को अपने जैसे का अहसास होता था। उनमें सहज ही सामुदायिकता की भावना पैदा हो जाती थी, जो उस समाज में खुशी का कारण थी। व्यवसाय में समानता के अतिरिक्त उनके धार्मिक विश्वास भी एक जैसे थे। औद्योगीकरण के बाद समाज में विशेषज्ञता का आना जरूरी बन गया। विशेषज्ञता का सीधा अर्थ था दूसरों से अलग होना। लेकिन औद्योगीकरण में समाज के विभिन्न वर्गों के बीच निर्भरता कहीं ज्यादा हो गई, पर कारण सामाजिक की बजाय आर्थिक हो गए।

दुर्खीम ने दो प्रकार के समाजों की अवधारणा प्रस्तुत की–मैकेनिकल अर्थात यांत्रिक और आर्गेनिक अर्थात जैविक। मैकेनिकल समाज प्रारंभिक समाज था और आर्गेनिक समाज आधुनिक। इन दोनों समाजों में न केवल संरचना का अंतर था बल्कि इनमें नैतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियां भी भिन्न थीं। मैकेनिकल समाज को यह नाम इसलिए प्राप्त हुआ कि यहां संबंध फेस टू फेस थे। वर्ग विभाजन काफी सरल था और लोगों के विश्वास और परंपराएं सब एक जैसे थे। इस समाज में लोग दूसरों को प्रायः अपने जैसा ही समझते हैं।

दुर्खीम का यह विचार भी आधुनिक समाज को परिभाषित करने में काफी हद तक सक्षम है। आधुनिक समाज के विभिन्न वर्गों के बीच आर्थिक खाई बढ़ती जा रही

टिप्पणी

है। उपयुक्त कार्य के अभाव के कारण बेरोजगार युवा अपनी योग्यता से कम स्तर के कार्य मजबूरन स्वीकार कर रहे हैं। जिसके कारण उनमें मानसिक कुंठाएं पैदा हो रही है और सामाजिक विद्वेष को जन्म दिया जा रहा है। रोचक तथ्य यह है कि युवाओं का ध्यान रोजगारों के कम होने पर नहीं है बल्कि वह हर वर्ग अपना शत्रु उस वर्ग को समझ रहा है, जो नौकरियों के लिए उसका प्रतियोगी है। समाज में विभिन्न वर्गों में बढ़ता तनाव जातीय अथवा धार्मिक तनाव का स्वरूप भी अक्सर ले लेता है। जिसके कारण अक्सर स्थिति नियंत्रण से बाहर भी हो जाती है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन ने वर्ष 2002 में आत्महत्या पर टिप्पणी करते हुए कहा था कि पूरी दुनिया में धार्मिक या सांस्कृतिक कारणों से आत्महत्या को एक सामाजिक दाग की तरह से देखकर इसकी आलोचना की जाती है। कुछ देशों में तो आत्महत्या एक अपराध है जिसकी कोशिश करने पर सजा हो सकती है। आत्महत्या वास्तव में एक गोपनीय कृत्य है जिसके चारों तरफ अनेक टैबू हैं। संभव है आज भी न इन्हें कायदे से जाना गया, न वर्गीकृत किया गया और जानबूझ कर मृत्यु के आधिकारिक दस्तावेजों से बाहर कर दिया जाता है।

आत्महत्या को परिभाषित करते हुए दुर्खीम कहते हैं कि इसके अंतर्गत मृत्यु के वह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष पाजिटिव या निगेटिव सभी मामले आते हैं जिसमें व्यक्ति यह जानते हुए अपने आपको नतीजा जानते हुए नुकसान पहुंचाता है। दुर्खीम के अनुसार बड़े स्तर पर एनामी होने के कारण आत्महत्या की दर भी ज्यादा है। पाजिटिव एक्ट का मतलब आत्महत्या को सकारात्मक बताना नहीं है, इसमें कृत्य को परिभाषित किया गया है। उदाहरण के लिए स्वयं को गोली मारना पाजिटिव सुसाइड है और भोजन न करना निगेटिव। पहले में व्यक्ति सीधे आत्महत्या को चुनता है और दूसरे में ऐसे माध्यम को जिसकी प्रतिक्रिया व्यक्ति की जीवन हानि होती है। आत्महत्या दोनों ही रूप में एक बीमारी है, निंदनीय है।

धर्म की आलोचना करते हुए मार्क्स लिखते हैं कि धर्म का मुख्य कार्य लोगों की पीड़ा का अहसास कम करके उन्हें सामाजिक परिवर्तन से रोकना है। मार्क्स के अनुसार मृत्यु के बाद के जीवन की मान्यता उन्हें इस जीवन के कष्ट सहने के लिए तैयार कर देती है।

यह अलग बात है कि मार्क्स का अध्ययन सिर्फ कुछ धर्मों के विशद अध्ययन तक सीमित था। इनमें उन धर्मों का उल्लेख नहीं था, वर्तमान समाज जीवन को बेहतर करने के लिए हर प्रकार के मानसिक और व्यक्तिगत संघर्ष के लिए व्यक्ति को तैयार करते हैं।

दुर्खीम का चिंतन फ्रायड की तुलना में कहीं अधिक व्यापक नजर आता है क्योंकि दुर्खीम आदि मानव के चिंतन को उस समय से जोड़ कर देखते हैं। फ्रायड अपनी कृति 'टोटम एंड टैबू' में आदि मानव के चिंतन की तुलना मानसिक रोगियों से कर बैठे। दूसरी तरफ दुर्खीम अपनी कृति 'द एलिमेंटरी फार्म्स ऑफ रिलीजियस लाइफ' में लिखते हैं कि पवित्रता का सामाजिक अनुभव सामाजिक अंतःसंबंधों को जन्म देता है। वास्तव में पवित्रता की अवधारणा के बिना आदर्श की अवधारणा मुश्किल है। दुर्खीम एक महत्वपूर्ण अवधारणा प्रस्तुत करते हैं कि धर्म के जरिये ही मनुष्य ने प्रारंभ में तर्क की ओर कदम रखना सीखा क्योंकि 'तर्कबुद्धि की बुनियाद समय, स्थान,

वर्गीकरण, शक्ति और कार्य कारण के सिद्धांत में हैं और जिनकी आरंभिक सीख धर्म में मिलती है।'

टिप्पणी

धर्म के सम्बन्ध में दुर्खीम प्रतीकों को विशेष महत्व देते हैं। उनका विचार है कि इन प्रतीकों के साथ सामाजिक विश्वास की ऊर्जा जुड़ी होती है। समाज इन प्रतीकों को मान्यता देता है। धर्म निश्चित रूप से कुछ विचारों या भावनाओं से जुड़ा है, पर ये भावनाएं अमूर्त हैं। इन भावनाओं को समझने के लिए ऐसे प्रतीक की आवश्यकता है जिनसे ये भावनाएं स्पष्ट हों। समाज के सभी लोग उन प्रतीकों को सम्मान दें। यह सम्मान ही इन प्रतीकों को पवित्र बनाता है। वास्तव में इन्हीं प्रतीकों के जरिये समाज के लोग किसी विचार या भाव को स्वीकार कर पाते हैं और अक्सर ये प्रतीक ही किसी समाज विशेष को एक विशेष पहचान देते हैं।

दुर्खीम धर्म के दो पक्ष बताते थे भाव या विश्वास पक्ष और दूसरा धार्मिक व्यवहार पक्ष। विश्वास पक्ष सामूहिक प्रतीकों से जाना जा सकता है और धार्मिक नियमों की अभिव्यक्ति धार्मिक या अन्य कृत्यों से होती है। दुर्खीम ने विश्वास पक्ष को ज्यादा महत्व देते हुए सिद्ध किया कि धर्म हर वास्तविक, आभासी या आदर्श चीज को दो भागों में विभक्त करता है–पवित्र और अपवित्र। हर धर्म के सम्पूर्ण इतिहास में इन दो चीजों को एक–दूसरे से बिल्कुल अलग रखा जाता है। दुर्खीम पवित्र वस्तुओं को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि पवित्र वस्तु वह है जो सशक्त पाबंदियों के चलते अपवित्र से अलग और सुरक्षित रखी जाती है। अपवित्र को परिभाषित करते हुए वे कहते हैं, वे पवित्रता से बहुत दूर होती हैं। धार्मिक विश्वास पवित्र वस्तुओं के मध्य आपसी संबंध और अपवित्र वस्तुओं के प्रति उनकी प्रतिक्रिया पर टिके होते हैं। धार्मिक नियम मुख्यतया पवित्र वस्तुओं के प्रति व्यक्ति के व्यवहार पर टिके हुए होते हैं। चूंकि पवित्र वस्तुएं अनेक हो सकती हैं अतः ये नियम जटिल होते चले जाते हैं। इस प्रकार विश्वास और व्यवहार पक्ष मिलकर धर्म की सृष्टि करते हैं। दुर्खीम लिखते हैं कि धर्म पवित्र वस्तुओं के प्रति विश्वास और व्यवहार का समेकित रूप है।

दुर्खीम की दृष्टि से देखें तो धार्मिक प्रतीकों का अपार सामाजिक महत्व है। राज्याभिषेक से लेकर दाहसंस्कार से जुड़ी सामूहिक धार्मिक प्रक्रियाओं का एक अलग अर्थ प्राप्त हो सकता है। उदारण के तौर पर राज्याभिषेक में राजा का पद धार्मिक रूप से श्रेष्ठ व्यक्ति द्वारा प्रदान किया जाता है। यह धर्म की राजतंत्र पर श्रेष्ठता और धर्म प्रमुख द्वारा राजा पर विश्वास किए जाने का प्रतीक है। पवित्रीकरण से जुड़ी सारी प्रक्रियाएं इस बात का संकेत देती हैं कि राजा के लिए किसी भी व्यक्ति के प्रति पूर्वाग्रह रखना अनुचित है। सामूहिक रूप से जनता की उपस्थिति उसकी स्वीकार्यता का संकेत देती है। सम्पूर्ण प्रक्रिया इस बात की भावना का संचार करती है कि राजा के लिए निजी कुछ भी नहीं, उसके लिए जनकल्याण ही आदर्श है। प्राचीन भारत समेत दुनिया की विभिन्न संस्कृतियों में राजा को दैवीय अनुग्रह प्राप्त व्यक्ति या ईश्वर पुत्र के रूप में प्रतिष्ठित किया गया। यह उसके प्रति जनसम्मान में वृद्धि करता है, जिससे उसके निर्णयों के प्रति सामाजिक स्वीकृति का संचार हो।

दुर्खीम ने इन सामाजिक यथार्थों का रिश्ता विभिन्न सामाजिक परिवर्तनों से सिद्ध किया। दुर्खीम ने एक सैद्धांतिक मॉडल या आइडियल टाइम की अवधारणा के सहारे हर प्रकार के समाज के प्रारंभिक स्वरूप से उसके आधुनिक रूप में तब्दील होने की

टिप्पणी

प्रक्रिया को अभिव्यक्त किया। साथ ही दुर्खीम ने समाज में बदलाव की इस प्रक्रिया के दौरान परिर्तन का भी अध्ययन किया। दुर्खीम ने अपना अध्ययन समाज के संरचनात्मक घटकों जैसे कार्य पद्धति, कार्य संबंध और आर्थिक घटक आदि तक सीमित नहीं रखा बल्कि नैतिक और सांस्कृतिक रूप से हो रहे बदलावों का अध्ययन करने की भी कोशिश की।

दुर्खीम धर्म के सोशल फैक्ट को खास महत्व देते हैं क्योंकि उनके अनुसार यह अतिविशिष्ट अभौतिक सामाजिक तथ्य है। सदियों से समाज में इसने सामूहिक नैतिकता की अवधारणा को विकसित किया और साथ ही समाज को अनुशासित किया। हालांकि आधुनिकता के आने के साथ समाज की संरचना जटिल होती गई और अब समाज व्यक्ति के व्यवहार को नियंत्रित करने वाली अकेली ताकत नहीं रह गया। अन्य सोशल फैक्ट्स में कानून से लेकर विज्ञान तक सभी शामिल हैं। हालांकि समाज में उनकी धर्म जैसी स्वीकार्यता आज भी नहीं है।

3.7 मुख्य शब्दावली

- **कैथोलिक** : ईसाई धर्म का पारंपरिक स्वरूप।
- **प्रोटेस्टेंट** : ईसाई धर्म का प्रगतिवादी स्वरूप।
- **मैकेनिकल सोसाइटी** : प्रारंभिक समाज।
- **आर्गेनिक सोसाइटी** : आधुनिक समाज।
- **टोटम** : नदी, वृक्ष जैसी पवित्र प्रतीक।

3.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. सामाजिक विघटन से क्या तात्पर्य है? परिभाषित कीजिए।
2. यांत्रिक एवं जैविक समाज में क्या अंतर है? स्पष्ट कीजिए।
3. अपराध के प्रति दुर्खीम की क्या अवधारणा है? वर्णन कीजिए।
4. नेशनल क्राइम ब्यूरो के अनुसार 2019 में हर दिन औसतन कितनी आत्महत्याएं हुई?
5. धार्मिक प्रतीकों का महत्व स्पष्ट कीजिए।

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. सामाजिक परिवर्तन के संबंध में दुर्खीम और मार्क्स के विचारों की तुलना कीजिए।
2. दुर्खीम के धर्म संबंधी चिंतन को भारतीय परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट कीजिए।
3. औद्योगीकरण से उपजी सामाजिक समस्याओं पर दुर्खीम के क्या विचार हैं? वर्णन कीजिए।

4. आत्महत्या की विभिन्न धर्मों और विचारकों ने क्यों और कैसे आलोचना की है? विवेचना कीजिए।
5. सोशल फैक्ट के महत्व पर टिप्पणी कीजिए।

टिप्पणी

3.9 सहायक पाठ्य सामग्री

1. गुप्ता, एम. एल. तथा शर्मा, डी.डी., 'समाजशास्त्र', साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, 2010
2. शर्मा, वीरेन्द्र प्रकाश, 'समाजशास्त्रीय चिन्तन के आधार', पंचशील प्रकाशन, 2005
3. दुबे, एस.सी, 'इंडियन सोसाइटी', नेशनल बुक ट्रस्ट, 2010
4. अग्रवाल, जी.के, 'समाजशास्त्र के सिद्धांत', साहित्य भवन आगरा, 2000
5. अब्राहम एवं मार्गन, 'सोशियोलॉजिकल थ्योरी'।
6. टी. बी. बोटामोर, 'सोशियोलॉजी'।
7. डॉ डी. एस. बघेल, 'महान समाजशास्त्रीय विचारक'।
8. शर्मा एवं गुप्ता, 'समकालीन समाजशास्त्रीय सिद्धांत', साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा, 2002
9. शर्मा एवं गुप्ता, 'समाजशास्त्र के सिद्धांत', साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा, 2007
10. वीरेन्द्र प्रकाश शर्मा, 'समाजशास्त्र के सिद्धांत', पंचशील प्रकाशन, जयपुर, 2007
11. रवीन्द्र नाथ मुकर्जी, 'समाजशास्त्र का सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य', विवेक प्रकाशन, दिल्ली, 2007
12. ब्लैक, मैक्स 1961, 'द सोशल थ्योरीज ऑफ टॉलकॉट पारसंस : ए क्रिटिकल ऐक्जामिनेशन', प्रेंटिस हॉल, इंको : ईगलवुड क्लिप्स न्यूज
13. पारसंस, टॉलकॉट 1951, 'द सोशल सिस्टम द फ्री प्रेस', ग्लेनको इलिनॉय

इकाई 4 मैक्स वेबर

टिप्पणी

संरचना

4.0 परिचय

4.1 उद्देश्य

4.2 मैक्स वेबर का जीवनवृत्त

- 4.2.1 वेबर का जीवनकाल
- 4.2.2 मैक्स वेबर के कार्य
- 4.2.3 वेबर के विचारों पर बौद्धिक प्रभाव

4.3 सामाजिक क्रिया का सिद्धांत

- 4.3.1 सामाजिक क्रिया के प्रकार : बौद्धिक पृष्ठभूमि
- 4.3.2 आधुनिक पूंजीवाद का विश्लेषण
- 4.3.3 प्रोटेस्टेंट नैतिकता और पूंजीवाद के उद्‌भव में संबंध
- 4.3.4 वेबर के विचारों का समालोचनात्मक मूल्यांकन

4.4 सत्ता का सिद्धांत

- 4.4.1 शक्ति और सत्ता की अवधारणाएं
- 4.4.2 शासन करने के तरीके एवं उत्तराधिकार के प्रकार
- 4.4.3 मैक्स वेबर के सत्ता के सिद्धांत की आलोचना

4.5 नौकरशाही का सिद्धांत

- 4.5.1 पूंजीवाद का राष्ट्रवाद पर प्रभाव और आधुनिक नौकरशाही का उद्‌भव
- 4.5.2 मैक्स वेबर का नौकरशाही मॉडल
- 4.5.3 राजनेताओं और नौकरशाही में संबंध : मैक्स वेबर के विचार
- 4.5.4 प्रस्थिति, वर्ग एवं शक्ति की अवधारणाएं
- 4.5.5 समाजशास्त्र की पद्धति में योगदान : सामाजिक तथ्यों में निहित अर्थ एवं उनकी व्याख्यात्मक प्रकृति
- 4.5.6 एक व्याख्यात्मक विज्ञान के रूप में समाजशास्त्र
- 4.5.7 वेर्स्टेन और आदर्श प्रारूप की अवधारणा

4.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

4.7 सारांश

4.8 मुख्य शब्दावली

4.9 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

4.10 सहायक पाठ्य सामग्री

4.0 परिचय

मैक्स वेबर का नाम समाजशास्त्र के प्रमुख विचारकों में शामिल है। उन्होंने जो सिद्धांत प्रतिपादित किए उन्हें समाजशास्त्र के प्रमुख सिद्धांतों में माना जाता है।

मैक्स वेबर सिर्फ समाजशास्त्री ही नहीं थे। वे एक अर्थशास्त्री थे। वे एक विधिवेत्ता भी थे। वे इतिहासकार भी थे। मैक्स वेबर एक दार्शनिक भी थे। उनके अंदर के इतने सारे गुणों ने ही उन्हें एक महान समाजशास्त्री बनाया। किसी भी घटना के अवलोकन और फिर उसका विश्लेषण करने में उनके विभिन्न क्षेत्रों के ज्ञान ने अनुपम योगदान दिया। उन्हें आधुनिक समाजशास्त्र के जन्मदाताओं में एक माना जाता है।

मैक्स वेबर की विशेषता थी सामाजिक घटनाओं के गहन अवलोकन से जीवन की परिस्थितियों की व्याख्या करना। वे किसी भी घटना के विभिन्न सामाजिक पहलुओं

को देखने, समझने में सक्षम थे। सामाजिक घटनाओं और जीवन के विभिन्न पक्षों का वे चिन्तन और मनन करते थे। उसके बाद वे उनकी व्याख्या करते थे। सामाजिक घटनाओं को समझने में वे व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाने पर बल देते थे।

टिप्पणी

संक्षेप में कहा जाए तो मैक्स वेबर की मौलिक विशेषता थी सामाजिक घटनाओं और परिस्थितियों को व्याख्या के आधार पर समझना। वे इस बात पर जोर देते थे कि बिना तर्कपूर्ण व्याख्या प्रस्तुत किए सामाजिक घटनाओं और परिस्थितियों को समझा नहीं जा सकता। उनके इसी व्याख्यात्मक विश्लेषण के कारण उन्हें व्याख्यात्मक समाजशास्त्र का पिता माना गया।

प्रस्तुत इकाई में मैक्स वेबर के जीवन, उनकी विचारधारा और उनके द्वारा प्रतिपादित प्रमुख सिद्धांतों के बारे में चर्चा की गई है।

4.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- मैक्स वेबर के जीवन, उनके कार्यकृत, उनकी विचारधारा और उनकी विचारधारा पर उनके समकालीन विचारकों के प्रभाव से परिचित हो पाएंगे;
- मैक्स वेबर द्वारा प्रतिपादित सामाजिक क्रिया सिद्धांतों से अवगत हो पाएंगे;
- इन समाजशास्त्रीय सिद्धांतों के समाज पर पड़ने वाले असर को जान पाएंगे;
- मैक्स वेबर के प्रोटेस्टेंट नैतिकता और पूंजीवाद के उद्‌भव और विकास पर विचारों से परिचित हो पाएंगे;
- मैक्स वेबर के सत्ता के सिद्धांतों से अवगत हो पाएंगे;
- मैक्स वेबर की दी हुई नौकरशाही की अवधारणा से परिचित हो पाएंगे;
- मैक्स वेबर के आदर्श प्रारूप से अवगत हो पाएंगे।

4.2 मैक्स वेबर का जीवनवृत्त

मैक्स वेबर की गणना समाजशास्त्र के प्रमुख विचारकों में होती है। उन्हें व्याख्यात्मक समाजशास्त्र का पिता (Father of Interpretive Sociology) कहा जाता है। उन्होंने सामाजिक घटनाओं और परिस्थितियों की गहन व्याख्या की है। घटनाओं और परिस्थितियों की ऐसी गहन व्याख्या उनके समयकाल में समय से आगे की सोच की परिचायक मानी जाएगी।

मैक्स वेबर के व्यक्तित्व को और बेहतर समझने के लिए उनके द्वारा दी गई समाजशास्त्र की परिभाषा भी प्रमुख साधन है। वेबर के अनुसार– "समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो कि सामाजिक क्रिया का अर्थपूर्ण (व्याख्यात्मक) बोध कराने का प्रयत्न करता है जिससे कि इसकी (सामाजिक क्रिया की) गतिविधि तथा परिणामों की कारण सहित व्याख्या प्रस्तुत की जा सके।" यह स्पष्ट है कि इस परिभाषा में उनका जोर घटनाओं की सही समझ और उसकी तर्कपूर्ण व्याख्या पर ही है। सामाजिक घटनाओं को इस नजरिए से देखने की उनकी दृष्टि ही उन्हें अपने समय के दूसरे समाजशास्त्रियों से अलग खड़ा करती है।

4.2.1 वेबर का जीवनकाल

टिप्पणी

मैक्स वेबर का जन्म जर्मनी के एक सम्पन्न परिवार में हुआ था। वे जर्मनी के एरफर्ट, थरन्जिया (Erfurt, Thuringia) में 21 अप्रैल, 1864 को जन्मे थे। उनके पिता सेन्ट मैक्स वेबर एक प्रशिक्षित कानून–ज्ञाता थे। साथ ही वे स्थानीय राजनीति से भी जुड़े हुए थे। वे पालिका सलाहकार थे। कह सकते हैं कि सामाजिक परिस्थितियों से जुड़ने का गुण उन्हें अपने पिता से विरासत में मिला था। उनका परिवार रेशम व्यापार एवं वस्त्र निर्माण से भी जुड़ा हुआ था, इसलिए उनका बचपन समृद्धि में ही बीता।

सन् 1869 में उनका परिवार बर्लिन चला गया। बर्लिन जल्दी ही बिस्मार्क की समृद्धशाली राजधानी बनने वाला था। वहां जाकर उनके पिता ने बर्लिन की पालिका संसद और प्रशासकीय संसद में सक्रिय भाग लिया। उनका परिवार तत्कालीन बर्लिन के चार्लटनबर्ग में रहता था जो वहां का संभ्रांत इलाका माना जाता था। शिक्षा जगत एवं राजनीति से जुड़े कई गणमान्य लोग वेबर के पड़ोस में रहते थे। इस कारण मैक्स वेबर को बचपन से ही एक बौद्धिक वातावरण में पलने–बढ़ने का मौका मिला।

उनकी मां हेलेन फैलेन्सटीन वेबर भी सुशिक्षित महिला थीं। वे काफी उदार वृत्ति की थीं और प्रोटेस्टेंट धर्मावलम्बी थीं। हेलेन वेबर भी सामाजिक रूप से सक्रिय थीं और उनकी मित्र मंडली काफी बड़ी थी। ऐसे में वे अपने राजनीतिज्ञ पति, अपने छह बच्चों और मित्र मंडली के बीच काफी व्यस्त रहती थीं।

लेकिन बचपन से ही मैक्स वेबर का स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहता था। चार साल की उम्र में उसे मेनिनजाइटिस हो गया था। इस कारण से धीरे–धीरे वो दूसरे बच्चों की तरह खेल–कूद में ज्यादा समय देने की बजाय घर पर ही रहने लगा। इससे उसमें पढ़ाई के प्रति रुचि पैदा हुई। वो स्कूल की पढ़ाई में भी अच्छा था और इस कारण अपने अध्यापकों का प्रिय था। हालांकि अपने विचारों के कारण उनसे अक्सर ही उसका टकराव भी होता था। अपने स्कूल के मित्रों की मदद करने के लिए वो हमेशा तैयार रहता था। ऐसे में उसे अपने मित्रों का भी सहयोग मिलता था।

मैक्स वेबर ने अपनी बाल्यावस्था और किशोरावस्था के दौरान ही काफी गहन अध्ययन कर लिया था। उसके अध्यापक और मित्र भी उसे विलक्षण प्रतिभा वाला समझते थे। मात्र तेरह वर्ष की आयु में ही उसने दो ऐतिहासिक निबंध लिख दिए थे। उनके नाम इस प्रकार हैं–

1. Concerning the course of general History with special regard to the position of Kairer and Pope.
2. Dedicated to my own insignificant ego as well as to parents and siblings.

इस तरह उसकी बौद्धिक समझ बचपन से ही विकसित होने लगी थी। किशोरावस्था आते–आते यह जाहिर हो गया था कि वो सत्ता के प्रति उपयुक्त आदर–भाव नहीं रखता था।

स्कूल की पढ़ाई खत्म करने के बाद मैक्स वेबर अपने पिता की ही तरह कानून की पढ़ाई करने लगे। हीगलबर्ग में कानून की पढ़ाई के दौरान ही उन्होंने इतिहास, दर्शनशास्त्र, अर्थशास्त्र जैसे दूसरे विषयों का भी अध्ययन किया। 20 वर्ष की आयु में वेबर ने बर्लिन तथा गोटिंगन में अपनी विश्वविद्यालयी शिक्षा पूरी की। 1887 में स्ट्रासबर्ग में उन्होंने अपना सैनिक अभ्यास भी पूरा किया।

टिप्पणी

पढ़ाई पूरी करने के बाद मैक्स वेबर ने बर्लिन की कचहरी में नौकरी शुरू कर दी। 1889 में उन्होंने अपनी डॉक्टरेट पूरी की। इसके बाद उन्होंने 1891 में अपना प्रसिद्ध निबंध 'हिस्ट्री ऑफ एग्ररेरियन इंस्टीट्यूशन (History of Agrarian Institution)' लिखा। इसे मार्क्स ने रोमन लोगों का गुप्त इतिहास कहा है।

सन् 1893 में वे विवाह के बंधन में बंध गए। उनकी पत्नी का नाम मेरियाने सिंगर था। अब तक उनकी प्रसिद्धि एक विद्वान के तौर पर हो चुकी थी। सन् 1894 में उन्होंने अर्थशास्त्र के प्राध्यापक के तौर पर फ्रेवर्म विश्वविद्यालय में अपना योगदान दिया। यहीं वे ह्यूगो मन्सटरबर्ग, पास्टर नामन और विलियम रिकर्ट से परिचित हुए।

इस दौरान वेबर का स्वास्थ्य खराब ही रहा। पिता की मृत्यु के बाद उन्हें डिप्रेशन के दौर से भी गुजरना पड़ा। चिकित्सकों ने सलाह दी कि उन्हें भ्रमण करना चाहिए। इसके बाद उन्होंने काफी देशों की यात्रा की। इन यात्राओं ने उन्हें सामाजिक घटनाओं और परिस्थितियों को देखने, समझने की नई समझ दी। सन् 1904 में उन्होंने अमेरिका की यात्रा की। वे अमेरिका को आदर्श समाज मानते थे। अमेरिका के बारे में वेबर की मान्यताओं और अनुभवों का मुख्य केन्द्र बिन्दु प्रजातंत्र और नौकरशाही था। वेबर का प्रजातंत्र और नौकरशाही के सिद्धांतों का वैज्ञानिक विवेचन काफी प्रसिद्ध हुआ है।

उनकी यात्राओं का सिलसिला और इस दौरान सामाजिक घटनाओं और परिस्थितियों का अध्ययन जारी रहा। इसी बीच उन्होंने प्रथम विश्व युद्ध में भी हिस्सा लिया और अपनी टुकड़ी का नेतृत्व किया। विश्वयुद्ध के बाद 1918 में उन्होंने वियना विश्वविद्यालय में अपना योगदान दिया। उसके बाद वे फिर गंभीर रूप से बीमार पड़े और जून 1920 में उनका स्वर्गवास हो गया।

अपने खराब स्वास्थ्य के बावजूद समाजशास्त्र के अध्ययन में मैक्स वेबर ने अप्रतिम योगदान दिया। देखा जाए तो उनका जीवन विभिन्न विरोधाभासी तत्वों का भी समावेश रहा है। इन विरोधी तत्वों ने ही उन्हें गहन विश्लेषण और उसकी व्याख्या की नई समझ दी। स्वास्थ्य संबंधी हर तनाव और परेशानी झेलते हुए भी उन्होंने सामाजिक घटनाओं की क्रिया–प्रतिक्रिया पर अपने अध्ययन में कभी रुकावट नहीं आने दी। हालांकि मूलतः वे अंतर्मुखी थे, लेकिन अपने बहिर्मुखी व्यक्तित्व को बाहर लाने का प्रयास वे जीवन भर करते रहे। मैक्स वेबर ने स्वयं लिखा है– "यदि मनुष्य खुली हुई पुस्तक के समान नहीं है तो हमें उसके बहुमुखी व्यक्तित्व की आशा नहीं करनी चाहिए।"

4.2.2 मैक्स वेबर के कार्य

मैक्स वेबर ने समाजशास्त्र को विकसित करने में बहुत योगदान दिया। उन्हें आधुनिक समाजशास्त्र के जन्मदाताओं में गिना जाता है। उनके लेखों ने इस विषय पर लोगों को नए तरीके से सोचने का नजरिया दिया। उन्होंने धर्म को एक सामाजिक संस्था के रूप में देखा और धर्म की प्रकृति, कार्यों और उसके परिणामों की गहन व्याख्या की है। उन्होंने सामाजिक परिवर्तनों का एक प्रमुख कारण धर्म को माना है और इसे आर्थिक कारणों से ज्यादा महत्ता दी है।

यूं तो उन्होंने अपने ज्यादा लेख,पुस्तकें और शोधपत्र जर्मन भाषा में लिखे थे। लेकिन ज्ञान किसी भाषा की परिधि में नहीं बंध सकता। आज उनके समस्त कार्यों का

अनुवाद अंग्रेजी एवं दुनिया की दूसरी भाषाओं में उपलब्ध है। उनके लिखे हुए प्रमुख समाजशास्त्रीय ग्रंथों की सूची इस प्रकार है–

- ऐसे ऑन सोशियोलॉजी
- द प्रोटेस्टेंट एथिक्स एंड स्प्रिट ऑफ कैपिटलिज्म
- द थ्योरी ऑफ इकोनॉमिक्स एंड सोशल ऑर्गनाइजेशन
- जनरल इकोनॉमिक्स थ्योरी
- द सिटी
- द रिलीजन ऑफ इंडिया
- ए रिलीजन ऑफ चाइना
- एनशिएन्ट इंडियन्स
- मेथडोलॉजी ऑफ सोशल साइंस

टिप्पणी

समाजशास्त्र और लोकप्रशासन के क्षेत्र में उनकी कई अवधारणाएं काफी प्रसिद्ध रही हैं। उन्होंने नौकरशाही के विषय में काफी अध्ययन किया। नौकरशाही के कार्य करने का तरीका किस तरह विकसित और विकासशील देशों में अलग–अलग होता है, इस पर उन्होंने कई रोचक तथ्य दिए हैं। किसी समाज के धार्मिक विचारों का उस समाज की आर्थिक स्थिति पर क्या प्रभाव पड़ता है इसका वृहत अध्ययन उन्होंने किया है।

मैक्स वेबर को सबसे ज्यादा प्रसिद्धि उनकी पुस्तक 'द प्रोटेस्टेंट एथिक्स एंड स्प्रिट ऑफ कैपिटलिज्म 'के लिए मिली। यह पुस्तक सन् 1905 में प्रकाशित हुई थी। यह पुस्तक उनके धर्म पर किए गए गहन अध्ययन का नतीजा थी। इस अध्ययन में मैक्स वेबर ने विश्व के 6 महान धर्मों को चुना। ये धर्म हैं– कन्फ्यूशियस, हिन्दू, बौद्ध, ईसाई, इस्लाम और यहूदी। वेबर ने इस धर्मों का तुलनात्मक विश्लेषण किया। वेबर ने इनमें से प्रत्येक धर्म के आर्थिक विचारों और आचार–व्यवहार का विश्लेषण किया। इसके बाद उसने देखा कि विभिन्न आर्थिक विचारों का उस धर्म विशेष के लोगों के आर्थिक और सामाजिक जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है।

मैक्स वेबर ने अपने अध्ययन में ये साबित करने की कोशिश की कि प्रारंभिक अवस्था में पूंजीवाद का विकास केवल उन्हीं देशों में हुआ जिन देशों का समाज प्रोटेस्टेंट धर्म को मानता था। उनके विचार में प्रोटेस्टेंट धर्म जिन आर्थिक विचारों को जन्म देता है वे समाज की आर्थिक उन्नति को संभव बनाते हैं। वेबर के अनुसार पूंजीवाद का सर्वाधिक विकास इंग्लैंड, अमेरिका और हालैंड आदि उन देशों में हुआ जहां का समाज प्रोटेस्टेंट धर्म में आस्था रखता था। इसके विपरीत इटली,स्पेन आदि देशों का समाज कैथोलिक धर्म का अनुयायी था जिस कारण वहां आर्थिक विकास की गति धीमी रही।

मैक्स वेबर ने कन्फ्यूशियस, हिन्दू, बौद्ध और यहूदी धर्म का विश्लेषण किया और ये साबित करने का प्रयास किया कि इन सभी धर्मों के आर्थिक विचारों के अनुसार ही इनका सामाजिक और सांगठनिक ढांचा विकसित हुआ है। उनके अनुसार हिन्दू, बौद्ध और कन्फ्यूशियस धर्म में ऐसे विचार समाहित हैं जो उन्हें पूंजीवाद के मार्ग पर अग्रसर

टिप्पणी

नहीं करते। जैसे हिन्दू धर्म में भाग्यवाद और पारलौकिक संयम पर काफी अधिक जोर दिया गया है। चीन के कन्फ्यूशियस धर्म में समरसता, परंपरावाद और पारिवारिक दायित्वों के निर्वाह को विशेष महत्व दिया गया है। बौद्ध धर्म भी धन संग्रह की प्रवृत्ति को बुरा मानता है।

मैक्स वेबर ने अपने अध्ययन में जो साबित करने का प्रयास किया उसके आलोचक भी काफी हैं। कई सवालों के जवाब देने में वेबर भी असमर्थ रहे। जैसे जापान का आर्थिक विकास काफी तेजी से हुआ। जबकि वहां के लोग ना तो प्रोटेस्टेंट धर्म का पालन करते थे और न ही उनके पास पर्याप्त संसाधन उपलब्ध थे। इसी तरह यहूदी आबादी ने भी आर्थिक रूप से काफी तरक्की की, जबकि वो भी प्रोटेस्टेंट धर्म के अनुयायी नहीं थे। चीन में भी अब साम्यवादी सरकार के नियंत्रण के बाद पूंजीवाद फल फूल रहा है जो वेबर के अध्ययन के विपरीत है।

मैक्स ने भारतीय धर्म और संस्कृति पर भी अपना अध्ययन प्रस्तुत किया है। उन्होंने ये समझाने की कोशिश की है कि भारत में खुद की औद्योगिक क्रांति क्यों नहीं हुई। वेबर का तर्क था कि हिन्दू और बौद्ध धर्मावलंबी दूसरों की चिन्ता में व्यस्त रहते हैं और उनका ध्यान अपने अगले जन्म को सुधारने में लगा रहता है। ये प्रवृत्ति पूंजीवाद को बढ़ावा नहीं देती। उन्होंने लिखा है कि सारे हिन्दू दो मूल धारणाओं को स्वीकार करते हैं। पहली आत्मा और उसके देहांतरण की धारणा में विश्वास और उससे संबंधित कर्मफल का सिद्धांत। उन्होंने हिन्दू समाज में व्याप्त जाति प्रथा पर भी टिप्पणी की है। हालांकि हिन्दू संस्कृति पर उनकी ज्यादातर धारणा संस्कृत की शास्त्रीय पुस्तकों के अध्ययन से बनी थी। यहां की संस्कृति के बीच रहकर उसके अध्ययन का मौका उन्हें नहीं मिला था। इसके साथ ही वे इस बात पर भी प्रकाश नहीं डाल पाए कि हिन्दू धर्म के ही कुछ समुदायों में जैसे अग्रवाल, सिंधी, मारवाड़ी आदि में आर्थिक तरक्की की गति काफी तेज रही है, जबकि वो भी हिन्दू समाज की मूलभूत मान्यताओं में सशक्त विश्वास करते हैं। ये बिन्दु भी उनके अध्ययन के विपरीत रहा है। प्राचीन काल में भारत आर्थिक रूप से काफी समृद्ध रहा है। जबकि उस वक्त उसकी धार्मिक मान्यताएं कहीं ज्यादा सशक्त रूप से समाज में पैठी थीं। बाद के दौर में अंग्रेजों के औपनिवेशिक काल में उसकी आर्थिक उन्नति को जानबूझ कर बर्बाद किया गया। मैक्स वेबर ने समाज, संस्कृति और धार्मिक विचारों का अर्थव्यवस्था पर पड़ने वाले असर को प्रकट करने का प्रयास किया है। लेकिन भारतीय संदर्भ में इसे और अधिक गहराई से समझने की जरुरत है। भारतीय संस्कृति की समग्रता को देखने में वेबर पूर्णतः सफल नहीं हो पाए हैं।

लेकिन ये भी सत्य है, समाज हर वक्त परिवर्तनशील है। यही परिवर्तनशीलता ही अंतिम सत्य है। कोई भी सत्य अपने समय और काल में तो सही लग सकता है लेकिन वो अंतिम सत्य साबित हो ये जरूरी नहीं होता। ऐसे में हमें ये मानना पड़ेगा कि सामाजिक क्रियाओं और परिस्थितियों को जानने–समझने की वेबर की जो दृष्टि थी वो उन्हें उनके समय से आगे की सोच देती है। उन्होंने पूरे समाज को देखने का एक नया नजरिया दिया था। उनकी कई मान्यताएं आज के दौर में भी सही साबित होती हैं। ऐसे में मैक्स वेबर को समाजशास्त्र के जन्मदाताओं में एक कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होनी चाहिए।

4.2.3 वेबर के विचारों पर बौद्धिक प्रभाव

टिप्पणी

मैक्स वेबर ने समाजशास्त्र के कई सिद्धांत प्रतिपादित किए। उनकी सबसे बड़ी खासियत थी कि वे मौलिक थे। उन्होंने सामाजिक क्रियाओं एवं परिस्थितियों को देखने की एक नई दृष्टि प्रदान की। लेकिन हर मौलिकता के पीछे भी कहीं ना कहीं कुछ छिपे–अनछिपे प्रभाव मौजूद होते हैं। वेबर के विचार भी कई स्तरों पर विभिन्न परिस्थितियों और विभिन्न व्यक्तियों से प्रभावित रहे हैं–

1. **वेबर की पारिवारिक और सामाजिक परिस्थिति**– किसी भी व्यक्ति के जीवन पर उसके पारिवारिक संस्कारों का गहन प्रभाव पड़ता है। वेबर के जीवन पर भी पड़ा, बल्कि कहा जाए कि बचपन में अंतर्मुखी स्वभाव होने और स्वास्थ्य खराब होने की वजह से घर ज्यादा समय बिताने की वजह से, पारिवारिक संस्कारों का उन पर ज्यादा गहन प्रभाव पड़ा। वेबर इस मामले में खुशकिस्मत थे कि उन्हें बचपन से ही बौद्धिक वातावरण प्राप्त हुआ था। उनके पिता समाज के एक प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। वे राजनीतिज्ञ थे और कानूनवेत्ता भी थे। उनकी मां भी उदार वृत्ति की सुशिक्षित और प्रोटेस्टेंट धर्म को मानने वाली महिला थीं। उनकी मां का भी अपना अलग सामाजिक दायरा था। इस कारण वेबर को घर से ही शैक्षणिक माहौल मिला। पिता के राजनीतिज्ञ होने की वजह से समाज के विभिन्न क्रियाकलापों से भी उनका जुड़ाव रहा। इन पारिवारिक और सामाजिक परिस्थितियों में ही उनके व्यक्तित्व का निर्माण हुआ जिसका लाभ उन्हें जीवनपर्यन्त मिला। अपने पारिवारिक माहौल से वे किस कदर जुड़े हुए थे इसका उदाहरण उनके उस निबंध से भी मिलता है जो उन्होंने मात्र तेरह साल की उम्र में लिखा था। निबंध का शीर्षक था– "Dedicated to my own insignificant ego as well as to parents and siblings" जो काफी चर्चित रहा है। एक आर्थिक रूप से सम्पन्न परिवार से जुड़े होने के कारण उन्हें कभी आर्थिक संकटों का भी सामना नहीं करना पड़ा और वे काफी मनोयोग से अपने अध्ययनों को पूरा कर पाए। आर्थिक परिस्थितियों का ये असर उनके सिद्धांतों में भी देखने को मिलता है जहां वे सामाजिक क्रियाकलापों पर धर्म की आर्थिक निर्भरता का अध्ययन करते हैं। इसे ही उनकी मौलिक विशेषता माना जाता है।
2. **जर्मनी का आदर्शवादी दर्शन**– मैक्स वेबर के विचारों में वैज्ञानिक दर्शन है। उनके विचारों में यथार्थता है। साथ ही उनके विचारों में मौलिकता का भी समावेश है। उनके विचारों पर तत्कालीन जर्मनी की राजनीतिक और सामाजिक विचारधारा का भी प्रभाव देखने को मिलता है। जर्मनी उस वक्त बिस्मार्क के नेतृत्व में नई विचारधारा से गुजर रहा था। इसने भी वेबर पर प्रभाव डाला। जर्मनी में उस वक्त समाजविज्ञानियों और प्राकृतिकविज्ञानियों के मौलिक भेद का विवाद चल रहा था। समाजविज्ञान में कार्यकरण का अभाव माना जाता था जबकि प्राकृतिक विज्ञान में कार्यकरण पर ही जोर रहता था। इसलिए तत्कालीन विद्वान सामाजिक विज्ञानियों पर ये आरोप लगाते थे कि सामाजिक विज्ञान सत्यता पर आधारित नहीं है। वेबर ने उपरोक्त विचारों का विरोध किया और ये बताने का प्रयास किया कि सामाजिक विज्ञान में कार्यकरण के संबंधों का पता लगाया जा सकता है। इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उन्होंने अपने आदर्श

टिप्पणी

प्रारूप सिद्धांत को प्रस्तुत किया और ये बताने का प्रयास किया कि सामाजिक विज्ञान में भी अवलोकन, परीक्षण और सामान्यीकरण से व्यवस्थित नियमों का निर्माण किया जा सकता है। वेबर के आदर्श प्रारूप का सिद्धांत उनके जर्मनी के आदर्शवादी दर्शन के गहन अध्ययन से ही प्राप्त होता है।

3. **कार्ल मार्क्स**– मैक्स वेबर को साम्यवादी विचारक कार्ल मार्क्स ने भी अत्यधिक प्रभावित किया। हालांकि यहां जो प्रभाव दिखता है वो कार्ल मार्क्स के विचारों के समर्थन का नहीं है, बल्कि उनके विचारों के विपरीत नई विचारधारा देने का प्रभाव है। मार्क्स ने आर्थिक निर्धारणवाद (Economic Determinism) का सिद्धांत प्रतिपादित किया। उन्होंने ये बताया कि सामाजिक परिवर्तनों के लिए आर्थिक परिस्थितियां ही जिम्मेवार होती हैं। उनका कहना था कि जब आर्थिक परिस्थितियां बदलती हैं तो सामाजिक बदलाव अपने आप हो जाते हैं। कार्ल मार्क्स ने ये प्रतिपादित करने का प्रयास किया कि सिर्फ आर्थिक कारक ही सामाजिक बदलाव के लिए प्रमुख होते हैं, अन्य कारक गौण होते हैं।

   कार्ल मार्क्स की उपरोक्त विचारधारा से मैक्स वेबर सहमत नहीं होते हैं। वेबर आर्थिक कारक को सामाजिक परिवर्तन का सर्वप्रमुख तत्व नहीं मानते हैं। वेबर कहते हैं कि आर्थिक कारकों के अतिरिक्त अन्य बहुत से कारक हैं जो सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी होते हैं। इन दूसरे कारकों के प्रभाव से भी सामाजिक व्यवस्था बदलती है और लोगों के जीवन में बदलाव आ जाता है। वेबर ने कार्ल मार्क्स के विपरीत धर्म को सामाजिक परिवर्तन का ज्यादा महत्वपूर्ण कारक माना है। अपनी पुस्तक "द प्रोटेस्टेंट एथिक्सएंड स्प्रिट ऑफ कैपिटलिज्म" में वेबर ने धर्म के संबंध में अपना व्यापक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है।

4. **स्ट्रास**– प्रमुख विचारक स्ट्रास (Strauss) से भी मार्क्स वेबर काफी प्रभावित रहे हैं। स्ट्रास की पुस्तक 'The Old and The New Belief' को पढ़ना वेबर की दिनचर्या में शामिल था। वे रोज उस किताब को पढ़ते थे। इसलिए स्ट्रास के विचारों का भी वेबर के विचारों पर गहरा प्रभाव दिखता है।

5. **वेबर का स्वास्थ्य**– वेबर का स्वास्थ्य काफी खराब रहता था। लेकिन अपने इस खराब स्वास्थ्य का भी वेबर ने सकारात्मक इस्तेमाल किया। बचपन में खराब स्वास्थ्य के कारण उनको ज्यादा समय घर में बिताना पड़ता था। उन्होंने इसका उपयोग विभिन्न विषयों की जानकारी बढ़ाने में किया और काफी पुस्तकों का अध्ययन किया। बाद में जब वे डिप्रेशन के शिकार हुए तो चिकित्सकों ने उन्हें भ्रमण की सलाह दी। इसके बाद उन्होंने काफी देशों की यात्राएं कीं। नए–नए स्थानों पर जाने और वहां के सामाजिक जीवन को देखने से उनकी समझ काफी विकसित हुई। वे विभिन्न विषयों की अलग–अलग संस्थाओं से भी जुड़े रहे जहां होने वाले विश्लेषणों और वाद–विवाद ने उन विषयों के नए पहलुओं की उन्हें जानकारी दी। विश्व के कई प्रमुख विद्वानों से भी उनका नजदीकी जुड़ाव रहा। इससे भी उनके विचारों को नई दिशा मिली।

हम कह सकते हैं कि मैक्स वेबर ने समाजशास्त्रीय दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण योगदान दिया है। उन्होंने समाजशास्त्र को अध्ययन की एक शाखा के रूप में विकसित करने में मदद की है। उनकी अध्ययन की अवलोकन एवं विश्लेषण पद्धति के कारण उन्होंने बिल्कुल मौलिक सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

1. व्याख्यात्मक समाजशास्त्र का पिता किसे कहा जाता है?
   (क) कार्ल मार्क्स (ख) मैक्स वेबर
   (ग) दुर्खीम (घ) इनमें से काई नहीं
2. मैक्स वेबर का जन्म कब हुआ था?
   (क) 3 अप्रैल, 1816 (ख) 11 अप्रैल, 1826
   (ग) 21 अप्रैल, 1864 (घ) 30 मार्च, 1874

4.3 सामाजिक क्रिया का सिद्धांत

मैक्स वेबर की विचारधारा में क्रिया के सिद्धांत को सबसे महत्वपूर्ण माना जा सकता है। वेबर ने प्रतिपादित किया है कि सामाजिक क्रिया ही समाजशास्त्र के अध्ययन का केन्द्र है।

मैक्स वेबर ने अपनी सुप्रसिद्ध कृति 'थ्योरी ऑफ सोशल एंड इकोनॉमिक डेवलपमेंट' (Theory of Social & Economic Organization) में सामाजिक क्रिया के सिद्धांत को प्रतिपादित किया है। वेबर के चिन्तन का मूल आधार सामाजिक क्रिया ही है।

मैक्स वेबर के अनुसार–

- मनुष्य समाज में अपनी आवश्यकतानुसार निरंतर किसी न किसी प्रकार की क्रिया करता रहता है।
- इस सामाजिक क्रिया के संपादन के लिए किसी कर्ता (Actors) का होना आवश्यक है।
- कर्ता जब किसी प्रकार का कार्य करता है तो वह क्रिया (Action) है।
- क्रिया करते समय उसमें कर्ता का वैयक्तिक हित निहित होना भी आवश्यक है अर्थात् कर्ता के पास क्रिया करने के लिए कोई लक्ष्य होना चाहिए।
- सामाजिक क्रिया का तात्पर्य उस क्रिया से है जिसका कोई अर्थ निकलता हो और जिससे समाज के अन्य व्यक्ति प्रभावित हों या वे कोई प्रतिक्रिया दें।

वेबर ने समाजशास्त्र की जो परिभाषा प्रतिपादित की है उसमें सामाजिक क्रिया को ही केन्द्र बिन्दु बनाया है। वेबर के समाजशास्त्र की परिभाषा के अनुसार– "समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो सामाजिक क्रिया के व्याख्यात्मक बोध का प्रयास करता है, ताकि उसकी दिशा और परिणामों के कार्य–करण संबंधों को स्पष्ट किया जा सके।"

इस परिभाषा की विवेचना करने से इसके निम्नलिखित तथ्य सामने आते हैं–

i. सामाजिक क्रिया (Social Action)
ii. सामाजिक क्रिया की व्याख्या (Interpretation of Social Action)
iii. सामाजिक क्रिया के स्वरूप व परिणाम का कार्य–कारण का संबंध (Casual relationship of course and results of social action)

टिप्पणी

अपनी विवेचना में वेबर ने ये साबित करने का प्रयास किया है कि समस्त सामाजिक जीवन वास्तव में सामाजिक क्रियाओं का ही प्रतिबिंब है। सामाजिक क्रिया को और अधिक स्पष्ट करते हुए वेबर ने लिखा है कि हर क्रिया सामाजिक क्रिया के अंतर्गत नहीं आती है। जब क्रिया करने वाला कर्ता दूसरे की प्रतिक्रिया को सोचकर अपनी क्रिया बदल ले तो इसे ही सामाजिक प्रतिक्रिया कहा जाएगा।

सामाजिक क्रिया की विशेषताएं

वेबर ने सामाजिक क्रिया को ही समाजशास्त्र का केन्द्र बिन्दु कहा है। इनके अवलोकन, विश्लेषण और फिर इनके परिणामों के कारण की व्याख्या की वजह से ही वेबर ने समाजशास्त्र को विज्ञान माना है। सामाजिक क्रियाओं की व्याख्या से इनकी कई विशेषताएं सामने आती हैं–

(1) हर क्रिया सामाजिक क्रिया नहीं कही जा सकती है।

(2) वेबर के अनुसार केवल वैसी क्रिया ही सामाजिक क्रिया है जिसमें समाज के अन्य व्यक्तियों का हमारी क्रिया पर प्रभाव पड़ रहा हो। ये प्रभाव तीन प्रकार का हो सकता है–

- सामाजिक क्रिया किसी भूतकाल की क्रिया से प्रभावित हो सकती है। यानी आज जो सामाजिक क्रिया हो रही है उसके होने का कारण भूतकाल में निहित है।
- सामाजिक क्रिया वर्तमान के व्यवहारों का परिणाम हो सकती है।
- सामाजिक क्रिया के भविष्यगामी परिणाम भी हो सकते हैं यानी वर्तमान में की जाने वाली क्रिया का प्रभाव भविष्य में दृष्टिगोचर हो सकता है।

(3) अकेला व्यक्ति सामाजिक क्रिया नहीं कर सकता। सामाजिक क्रिया के लिए किसी दूसरे व्यक्ति का होना आवश्यक है। सिर्फ वही क्रिया सामाजिक क्रिया हो सकती है जो दूसरों से प्रभावित हो या जिसका प्रभाव दूसरों पर पड़े। ये स्मरणीय है कि हमेशा दूसरे व्यक्ति के संदर्भ में ही सामाजिक क्रिया पूरी होती है।

(4) सामाजिक क्रियाएं आत्माभिप्रायक होती हैं अर्थात ये दूसरे व्यक्ति से प्रभावित होकर की जाती हैं। इसके साथ ही ये अंतःसंबंधित होती हैं अर्थात इन क्रियाओं का प्रभाव दूसरे व्यक्ति पर पड़ता है।

4.3.1 सामाजिक क्रिया के प्रकार : बौद्धिक पृष्ठभूमि

मैक्स वेबर ने सामाजिक क्रियाओं को बेहतर ढंग से समझने के लिए इसे चार प्रकारों में विभाजित किया है। सामाजिक क्रिया के इस विभाजन से मनुष्य के समाज में किए जाने वाले व्यवहार की व्याख्या करने में मदद मिलती है–

(1) **परंपरात्मक प्रकार**– ये क्रियाएं समाज की परंपराओं और रीति–रिवाजों से प्रेरित होकर की जाती हैं। इन क्रियाओं को सामाजिक विरासत माना जाता है। हर समाज में कई प्रचलित परंपराएं और प्रथाएं होती हैं। ये समाज की व्यवस्था का एक तरह से अंग बन जाती हैं। इन क्रियाओं को सम्पादित करने का एकमात्र कारण यह होता है कि ये क्रियाएं बहुत लम्बे समय से चली आ रही हैं। कई बार व्यक्ति इस क्रियाओं को मजबूरी में भी करता है जबकि इन्हें करने

टिप्पणी

का उसे मन नहीं होता। हमारे समाज में भी ऐसी कई प्रचलित प्रथाएं चली आ रही हैं। जैसे हिन्दू समाज में मृत्यु के बाद दाह संस्कार से जुड़ा लम्बा कर्मकांड। इन्हें व्यक्ति इसलिए करता है क्योंकि ये लम्बे समय से चली आ रही हैं और उसके सामाजिक जीवन का हिस्सा बन गई हैं।

(2) **भावात्मक प्रकार**– मनुष्य के जीवन में उसकी भावनाएं एक प्रमुख भूमिका निभाती हैं। व्यक्ति के कई कार्य उसकी भावनाओं के कारण भी संचालित होते हैं। कई बार इन भावनाओं पर उसका स्वयं का ही वश नहीं होता। मनुष्य में काम, क्रोध, प्रेम, ईर्ष्या, भय, प्रतिद्वंद्विता आदि अनेक प्रकार की भावनाएं पाई जाती हैं। जब सामाजिक क्रियाएं इन्हीं भावनाओं के वशीभूत होकर की जाएं तो वे भावात्मक क्रियाएं कहलाती हैं। इन क्रियाएं को समझने के लिए व्यक्ति की भावानाओं को समझना होता है। जैसे किसी भूखे, असहाय व्यक्ति को देखकर कोई द्रवित हो जाता है और उसकी मदद करता है। इस क्रिया की व्याख्या केवल उस व्यक्ति की भावना के जरिए ही की जा सकती है।

(3) **मूल्यात्मक प्रकार**– ये क्रियाएं समाज में स्थापित मूल्यों और नैतिकताओं से संबंधित होती हैं। हर समाज अपने मूल्य और नैतिकताओं के मापदंड स्थापित करता है। इन्हीं मूल्यों और मानदंड के आधार पर उस समूह के क्रियाकलापों की व्याख्या की जाती है। ये मूल्य और मापदंड भी व्यक्ति की क्रियाओं को निर्धारित करते हैं। ये मूल्य भी समाज में लम्बे समय से स्थापित होते हैं।

(4) **बौद्धिक प्रकार**– मैक्स वेबर ने सामाजिक क्रियाओं का जो विभाजन किया है उसका चौथा प्रकार बौद्धिक क्रियाएं हैं। ये तर्क और बुद्धि पर आधारित क्रियाएं हैं। जब कोई कार्य तर्क, बुद्धि और विवेक की कसौटी पर परख कर देख–समझ कर किया जाता है वो बौद्धिक सामाजिक क्रियाओं के अंतर्गत आता है। इनमें व्यक्ति के साधन और साध्य भी स्पष्ट होते हैं। बौद्धिक क्रियाओं को अन्य सभी प्रकार की क्रियाओं से अधिक महत्वपूर्ण माना जाता है। किसी भी कार्य को करने के लिए हमारे पास कोई उद्देश्य होता है और उस उद्देश्य को पूरा करने के साधनों की स्पष्ट व्याख्या करनी होती है। इन कार्यों को करने से व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है।

सामाजिक क्रियाओं को समझने की विधियां

मैक्स वेबर ने सामाजिक क्रियाओं को समझने और उनकी व्याख्या करने का प्रयास किया है। उसका मानना था कि व्यक्ति जो भी क्रियाएं करता है उनके पीछे कोई न कोई उद्देश्य छिपा होता है। मनुष्य की कई क्रियाएं स्पष्ट होती हैं। उन्हें समझने या उनकी व्याख्या करने की कोई आवश्यकता नहीं होती। लेकिन कई क्रियाएं होती हैं जिनका व्यवहार स्पष्ट नहीं होता। इसका सीधा सा संबंध मनुष्य के स्वभाव और चित्त से जोड़ कर देखा जा सकता है। मनुष्य का स्वभाव काफी जटिल होता है। इसके सूक्ष्म और गहन निरीक्षण की आवश्यकता पड़ती है। कई बार क्रिया के उद्देश्य या प्रयोजन का पता लगाने के लिए गहन निरीक्षण की जरुरत पड़ती है।

मैक्स वेबर ने कठिनतम सामाजिक क्रियाओं को व्यावहारिक रूप देने और उन्हें समझने के लिए कुछ विधियां बताई हैं। इन विधियों के माध्यम से वेबर ने मनुष्य के जटिल क्रिया कलापों को समझने का प्रयास किया है।

टिप्पणी

सामाजिक क्रियाओं को समझने के लिए वेबर ने प्रमुख रूप से दो विधियां बताई हैं–

(1) बौद्धिक विधि (Rational Method)

(2) भावात्मक विधि (Emotional Method)

इन दोनों विधियों के बारे में विस्तार से जानते हैं–

(1) बौद्धिक विधि (Rational Method)– सामाजिक क्रिया को समझने की इस विधि में बुद्धि और विवेक पर जोर दिया गया है। सामाजिक क्रियाओं में अधिकांश ऐसी क्रियाएं होती हैं जिन्हें समझने के लिए बुद्धि का इस्तेमाल करना आवश्यक होता है। वेबर ने इस विधि के भी दो प्रकार बताए हैं–

1. **तर्काश्रित विधि** (Logical Method)– जिन सामाजिक क्रियाओं को समझने के लिए बुद्धि एवं विवेक का सहारा लिया जाता है उनमें पहला तरीका तर्क के आधार पर समझने का है। तर्क का इस्तेमाल बुद्धि और विवेक के सहारे ही किया जा सकता है। उदाहरण के लिए जीवशास्त्र के किसी विद्यार्थी का चिकित्साशास्त्र में दाखिला लेना तर्क के आधार पर समझा जा सकता है। परंतु उसका इंजीनियरिंग में प्रवेश लेना तर्क से परे होगा।
2. **गणिताश्रित विधि** (Mathematical Method)– बुद्धि और विवेक के आधार पर समझी जाने वाली बहुत सी क्रियाओं को हम गणित के माध्यम से समझ सकते हैं। यही विधि गणिताश्रित विधि कही जाती है। जैसे पांच और पांच मिलकर दस होते हैं। इसे सिर्फ गणिताश्रित विधि से ही समझा जा सकता है।

(2) भावात्मक विधि (Emotional Method)– वेबर ने कहा है कि सामाजिक क्रियाओं को समझने का दूसरा तरीका भावनाओं पर आधारित होता है। मनुष्य अक्सर अपनी भावनाओं के आवेश में कई कार्य करता है। इन सामाजिक क्रियाओं को तर्क और विवेक की कसौटी पर नहीं समझा जा सकता है। इन सामाजिक क्रियाओं को समझने के लिए भावनाओं को समझना पड़ता है।

भावात्मक क्रियाओं को भी वेबर ने दो भागों में विभाजित किया है–

1. **प्रत्यक्ष अवलोकन पद्धति** (Direct Observation Method)– जैसा कि नाम से ही स्पष्ट होता है कि इस पद्धति में सामाजिक क्रिया को समझने के लिए उसे ध्यान से देखना होता है। इसका अर्थ यह हुआ है कि प्रत्यक्ष अवलोकन कर यानी सिर्फ देखकर सामाजिक क्रिया की व्याख्या की जा सकती है। जैसे हम देखते हैं कि किसी संयुक्त परिवार में लगातार भाइयों में झगड़े हो रहे हैं तो हम ये देखकर यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि परिवार में कभी भी अलगाव की स्थिति आ सकती है। इस प्रकार कई ऐसी क्रियाएं हों जिनका सिर्फ अवलोकन कर ये निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उस क्रिया का प्रयोजन क्या होगा।
2. **व्याख्यात्मक विधि** (Explanatory Method)– भावात्मक क्रियाओं को समझने की दूसरी विधि वेबर ने व्याख्यात्मक विधि कही है। व्यक्ति की कई ऐसी क्रियाएं होती हैं जिन्हें सिर्फ अवलोकन कर नहीं समझा जा सकता। इन क्रियाओं को व्याख्या के आधार पर समझा जा सकता है। व्यक्ति जब कोई क्रिया कर रहा है तो उसके व्यवहार का क्या उद्देश्य होता है। उसकी क्रिया का प्रयोजन क्या है। इसे उस क्रिया की व्याख्या के आधार पर समझा जा सकता है। उदाहरण के लिए अगर कोई छात्र कठिन मेहनत कर रहा है तो इसके पीछे उसकी बेहतर

नौकरी की लालसा छिपी हो सकती है। इसे देखकर नहीं सिर्फ व्याख्या के आधार पर ही समझा जा सकता है।

क्रिया के कारणों का विश्लेषण करके ही हम उसके उद्देश्य और परिणामों को जान–समझ सकते हैं। वेबर ने सामाजिक क्रियाओं को इसी तरह समझने की कोशिश की और समाज में की जाने वाली क्रियाओं को एक वैज्ञानिक दृष्टि से देखने और समझने की कोशिश की।

टिप्पणी

4.3.2 आधुनिक पूंजीवाद का विश्लेषण

मैक्स वेबर ने सामाजिक परिवर्तनों के कारण तलाश करने का प्रयास किया और इसे जानने की प्रक्रिया में विभिन्न तत्वों पर गहन अध्ययन किया। अपने अध्ययन में वेबर ने पाया कि सामाजिक परिवर्तनों में धार्मिक कारक एक प्रमुख तत्व के रूप में विद्यमान होता है। धार्मिक कारक को प्रमुख तत्व के रूप में समझने के बाद वेबर ने इसके विभिन्न पहलुओं का विश्लेषण किया। इसी कारण से वेबर ने किसी एक धर्म का ही नहीं, बल्कि विश्व के कई महान धर्मों का अध्ययन किया। कार्ल मार्क्स की तरह उसने ऐतिहासिक प्रक्रिया पर अपना ध्यान केन्द्रित नहीं किया बल्कि धार्मिक आधार को अधिक महत्व दिया।

यूं तो वेबर ने कानून, दर्शन, आर्थिक और सामाजिक इतिहास के अध्ययन में भी भी महत्वपूर्ण योगदान दिया। परंतु धर्म के क्षेत्र में उनके विशद् अध्ययन को ही उनकी सबसे महत्वपूर्ण देन माना जाता है। अगर कहें कि उन्होंने धर्म का समाजशास्त्र स्थापित किया तो ये अतिशयोक्ति नहीं होगी। वेबर ने विश्व के प्रमुख धर्मों का व्यापक अध्ययन किया और इस अध्ययन के आधार पर धर्म की समाजशास्त्रीय व्याख्या करने का प्रयास किया। उनका ये विशद् अध्ययन तीन ग्रंथों में है। उन्होंने धर्म के आर्थिक विचारों का सामाजिक जीवन पर पड़ने वाले असर को लेकर काफी काम किया। उन्होंने विश्व के छह प्रमुख धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन किया। इस अध्ययन का मुख्य उद्देश्य यह प्रमाणित करना था कि सामाजिक संरचना के समग्र रूप में कौन से तत्व समाज के लिए विशेष स्थान रखते हैं और उनका केन्द्रीय महत्व है।

ऐतिहासिक उद्‌गमों की समस्या को प्रस्तुत करने में वेबर मार्क्स से प्रभावित जरूर दिखते हैं लेकिन उन्होंने इससे आगे बढ़कर काम किया है। उन्होंने माना कि ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया केवल आर्थिक कारक या जीवित रहने के साधन पर ही निर्भर नहीं है। उन्होंने इसे आचार और धार्मिक विश्वास से जोड़कर देखा है। मार्क्स की ही तरह वेबर ने भी ये तो स्वीकार किया है कि सामाजिक संरचना स्थापित होने में आर्थिक कारक महत्वपूर्ण हैं परंतु उन्होंने ये मानने से इंकार किया है कि एकमात्र आर्थिक कारक ही सामाजिक संरचना में बदलाव के जिम्मेदार हैं। उन्होंने इस तथ्य को नहीं माना है कि कला, साहित्य, सामाजिक व राजनीति संरचना, विज्ञान, दर्शन और धर्म सबकुछ आर्थिक कारक से ही निश्चित होते हैं। उन्होंने अपने अध्ययन में ये पाया कि नैतिक या आचारशास्त्रीय सिद्धांत या धारणाएं जो धार्मिक विचारों से प्रभावित होती हैं, वे आर्थिक परिवर्तन लाने का कार्य करती हैं।

वेबर ने धार्मिक आचार–विचार के कारण बदलने वाली आर्थिकी का अध्ययन किया है। इसलिए उनके विचारों को बेहतर ढंग से जानने के लिए ये जरूरी है कि हम धर्म और आर्थिकी और उनके बीच के परस्पर संबंधों को बेहतर तरीके से समझें।

टिप्पणी

धर्म

धर्म शब्द से तात्पर्य अलौकिक शक्तियों के बारे में विचारों तथा विश्वासों के एक समुच्चय तथा उसके मानव जीवन पर पड़ने वाले प्रभावों से है। मानव जीवन में कई ऐसी परिस्थितियां या समस्याएं आती हैं, जिनका कोई तार्किक समाधान नहीं किया जा सकता है। किसी खास परिवार में ही व्यक्ति का जन्म क्यों होता है? मृत्यु क्यों होती है? किसी प्रिय की मृत्यु पर हम इतना विचलित क्यों हो जाते हैं? किसी को जन्म से ही सारी सुविधाएं प्राप्त होती हैं, किसी का सारा जीवन तकलीफों में बीतता है। मानव जीवन में बहुत कुछ ऐसा है जिसकी व्याख्या करना संभव नहीं होता। ऐसे कई प्रश्न हैं जिनके उत्तर हमारे लौकिक ज्ञान से ज्ञात नहीं हो पाते। ऐसे तमाम प्रश्नों का हम उत्तर ढूंढ़ने की कोशिश करते हैं। फिर जो उत्तर हमें प्राप्त होते हैं वो भले ही लौकिक तर्क की कसौटी पर खरे नहीं उतरे लेकिन हमारी भावनाओं की संतुष्टि करने में सक्षम होते हैं। ये उत्तर धीरे–धीरे मान्यताओं और विश्वासों में बदल जाते हैं और हम अलौकिक या दैवीय शक्तियों की सत्ता पर यकीन करने लगते हैं। ये धार्मिक विश्वास जीवन को एक अर्थ प्रदान करते हैं। ये इस दुनिया के अस्तित्व के बारे में उठ रही जिज्ञासाओं का समाधान देते हैं। ये तर्क से परे घटने वाली घटनाओं या समस्याओं का समाधान देते हैं। जब ये मान्यताएं दृढ़ हो जाती हैं तो ये जीवन को निर्देशित करने लगती हैं। फिर ये आचार–व्यवहार में उतर आती हैं। फिर ये एक तरह से आचार–व्यवहार को व्यवस्थित एवं नियमित रूप से चलाने के लिए निर्देशों का काम करने लगते हैं। व्यक्ति से अपेक्षा की जाती है कि वह धर्म का पालन करेगा अर्थात् उन निर्देशों पर चलेगा जो उसके धर्म के माध्यम से उसे बताए गए हैं।

आर्थिकी

समाज के अस्तित्व के लिए कुछ बुनियादी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति आवश्यक है। भोजन किसी भी स्थिति में अनिवार्य आवश्यकता है। इसके साथ ही आवास एवं वस्त्र भी एक सभ्य समाज में रहने के लिए आवश्यक हैं। इनकी पूर्ति पर ही समाज का अस्तित्व और व्यवहार निर्भर करता है। आर्थिकी का संबंध हमारे समाज की बनाई गई वस्तुओं तथा सेवाओं के उत्पादन, उपभोग तथा वितरण से संबंधित प्रबंधों से होता है।

आर्थिकी का सीधा संबंध इस बात से होता है कि वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन कैसे होगा और हर व्यक्ति तक ये किस प्रकार उपलब्ध होंगे। इसके लिए कार्य का विभाजन कैसे होगा, ये भी एक जरूरी प्रश्न हो जाता है।

धर्म और आर्थिकी के बीच परस्पर संबंध

अगर देखा जाए तो धर्म और आर्थिकी एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न लगते हैं। धर्म का संबंध अलौकिक शक्तियों से व्यक्त होता है तो आर्थिकी वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन, वितरण और उपभोग से संबंधित दिखती है। लेकिन वेबर के अनुसार ये दोनों ही आपस में गहन रूप से संबंधित होते हैं। उनके अनुसार मानव के विचार, विश्वास, आस्था और मान्यताएं ही उसके दृष्टिकोण को निर्धारित करते हैं। व्यक्ति का दृष्टिकोण ही ये निर्धारित करता है कि उसके क्रियाकलाप कैसे होंगे। यहां तक कि आर्थिक क्षेत्र के क्रियाकलाप के दिशा–निर्देश भी उसकी आस्था, विश्वास और मान्यताओं से ही निर्धारित होते हैं।

हम कह सकते हैं कि धर्म व्यक्ति के आचार–व्यवहार और कार्यकलापों के लिए दिशा–निर्देश निर्धारित करता है। ये दिशा–निर्देश प्रत्येक धर्म की धार्मिक परंपराओं और उसके नैतिक मूल्यों में समाहित होते हैं।

टिप्पणी

कोई कार्यकलाप अगर आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद लगे किन्तु वो स्थापित धार्मिक मूल्यों और मान्यताओं के विरुद्ध हो तो उसे वो समाज नकार देगा। उदाहरण के लिए हिन्दू धर्म में गौ–वध ही घृणा के योग्य है। ऐसे में अगर गौ–वध से कोई आर्थिक लाभ भी प्राप्त हो, तो भी अधिकांश हिन्दू समाज उस कार्य को नकार देगा। इस प्रकार हमारे विश्वास, मूल्य और मान्यताएं हमारे आर्थिक क्रियाकलापों पर गहरा असर डालते हैं।

4.3.3 प्रोटेस्टेंट नैतिकता और पूंजीवाद के उद्‌भव में संबंध

वेबर ने प्रोटेस्टेंट नैतिकता को पूंजीवाद के उद्‌भव में सहायक माना है। उसने दोनों में सकारात्मक संबंध स्थापित किया है। वेबर के मतानुसार पाश्चात्य पूंजीवाद ने जिस प्रकार स्वरूप लिया वह प्रोटेस्टेंट नैतिकता की व्यवस्था पर ही आधारित था। वेबर के इस मत को समझने के लिए हमें नैतिकता एवं पूंजीवाद को समझना होगा।

नैतिकता

नैतिकता का संबंध सामाजिक संरचना से है। नैतिकता का तात्पर्य है समाज के सदस्यों के लिए आचार–व्यवहार के कुछ ऐसे मानक स्थापित करना जो व्यक्ति के व्यवहार का मूल्यांकन करने या उन्हें जांचने के लिए सहायक हो। नैतिकता के माध्यम से ही समाज अपने सदस्यों को सही–गलत के मायने समझाता है। आसान शब्दों में कहें तो नैतिकता समाज के सदस्यों को 'क्या करना चाहिए' और 'क्या नहीं करना चाहिए' इसके दिशा–निर्देश उपलब्ध कराती है। नैतिकता से आमतौर पर हम धार्मिक नैतिकता को ही समझते हैं। लेकिन नैतिकता सिर्फ धर्म तक सीमित नहीं होती। व्यावसायिक नैतिकता, राजनीतिक नैतिकता या इसी प्रकार की अन्य सामाजिक नैतिकता के मानक हो सकते हैं।

पूंजीवाद की प्रवृत्ति

अगर पूछा जाए कि लोग काम क्यों करते हैं तो अधिकांश का उत्तर एक ही मिलेगा– 'धन अर्जित करने के लिए'। धन कमाने का उद्देश्य यह होता है कि हम अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें। आवश्यकताओं की पूर्ति होने के बाद विलासिता की वस्तुओं का उपभोग उपलब्ध हो जिससे जिन्दगी जीने के तरीके और बेहतर बन सकें। इसके साथ धन से अर्जित संपत्ति समाज में मान–प्रतिष्ठा और शक्ति का प्रतीक मानी जाती है।

तार्किक पूंजीवाद एवं पारंपरिक पूंजीवाद

संपत्ति या लाभ अर्जित करने की इच्छा उतनी ही पुरानी है जितना मानव जाति का इतिहास। लेकिन ये इच्छा मानव जाति में धीरे–धीरे बलवती हुई है। संपत्ति की इच्छा ने संगठित या व्यवस्थित रूप आधुनिक पूंजीवाद में लिया है। इसे तार्किक पूंजीवाद भी कहा गया है। वेबर ने इसी तार्किक पूंजीवाद का अध्ययन किया है। वेबर ने तार्किक पूंजीवाद और पुराने या पूर्वकालिक पूंजीवाद में भेद किया है। उसने जोखिम के आधार पर पूर्वकालिक पूंजीवाद को जोखिम भरा पूंजीवाद कहा है।

टिप्पणी

पारंपरिक पूंजीवाद लम्बे समय तक विद्यमान रहा। ये बहुत से कालखंड और बहुत सारे स्थानों में विद्यमान रहा। इस तरह के व्यापार में पूंजीपति को पूंजी अर्जित करने के लिए काफी जोखिमों का सामना करना पड़ता था। व्यापार काफी अनिश्चित रहता था। पारंपरिक पूंजीवाद एक जोखिम भरा व्यवसाय था जिसमें दूरस्थ स्थानों में विलासिता की वस्तुओं का आयात किया जाता था। भारत में भी प्राचीन काल में ऐसा व्यापार चलन में था। रेशम, मसाले, हाथी दांत जैसी वस्तुओं को विदेशों में काफी बढ़ी कीमतों पर बेचा जाता था। इस व्यापार में ज्यादा से ज्यादा मुनाफा एक बार में ही कमा लेने का लक्ष्य होता था। अगला व्यापार कब होगा और कहां होगा– ये बिल्कुल ही अनिश्चित होता था। पारंपरिक काल में दूरस्थ स्थानों की यात्रा भी काफी जोखिम भरी होती थी और अमूमन व्यापारी अपनी जान जोखिम में डालकर ही व्यापार करते थे। इस तरह पारंपरिक पूंजीवाद में जोखिम के तत्व काफी अधिक होते थे।

दूसरी तरफ तार्किक पूंजीवाद वस्तुओं के ज्यादा से ज्यादा उत्पादन और उनके सही वितरण पर आधारित है। औद्योगिक क्रांति और कल–कारखानों से होने वाली उत्पादन प्रणाली के चलन में आने के कारण ऐसा होना संभव हुआ। इसमें जोखिम के तत्व पारंपरिक पूंजीवाद की अपेक्षा काफी कम थे। व्यवस्थित रूप से होने और नियमित व्यापार होने के कारण ये गुणात्मक रूप से ही भिन्न हैं। दूसरा बड़ा अंतर व्यापार की सामग्री का है। पारंपरिक पूंजीवाद जहां विलासिता की वस्तुओं पर आधारित था वहीं तार्किक पूंजीवाद में विलासिता से पहले जरुरत की वस्तुओं के उत्पादन पर जोर होता है। हमारी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली सभी वस्तुओं का अब बड़े पैमाने पर उत्पादन होता है। तार्किक पूंजीवाद का लगातार विस्तार हो रहा है। नई मशीनें, नए आविष्कार, नए तरीके, नए उत्पाद और नए उपभोक्ता वर्ग लगातार इसमें जुड़ रहे हैं।

पूंजीवाद का उद्‌भव

वेबर ने पूंजीवाद को अलग तरीके से देखा है। उसके अनुसार पूंजीपति अधिक से अधिक पूंजी जुटाने की चाह रखते हैं। ये इच्छा सिर्फ भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति या विलासितापूर्ण जीवन के आवश्यक तत्व जुटाने से नहीं जुड़ी होती, बल्कि धन से और अधिक धन कमाने की चाह होती है। पूंजीवाद एक ऐसी आर्थिक प्रणाली है जिसका लक्ष्य उत्पादन के तर्कपूर्ण संगठन के माध्यम से असीमित लाभ संचित करना होता है।

पूंजीवाद उन देशों में उभरा जहां औद्योगिक क्रांति पहले हुई थी। पश्चिमी देशों जैसे इंग्लैंड और जर्मनी में औद्योगिक क्रांति पहले पहुंची, ऐसे में पूंजीवाद के तत्व भी यहां पहले दिखाई देते हैं। इन देशों में कारखाना प्रणाली का विकास हुआ। उत्पादन की नई तकनीकों की खोज हुई। नए–नए औजारों और मशीनों के प्रयोग से उत्पादन बढ़ा। उत्पादन बढ़ने के बाद इनकी वितरण की व्यवस्था भी मजबूत हुई। इससे मालिकों के लिए असीमित धन कमाना संभव हुआ। इस प्रणाली में उत्पादन की प्रक्रिया को तार्किक दृष्टि से संगठित किया जाना जरूरी था। अर्थात् उत्पादन प्रक्रिया अनुशासनपूर्ण ढंग से हो और नई तकनीक के साथ दक्षता से की जाए।

दक्षता से कार्य करने की प्रवृत्ति पूंजीवाद का प्रमुख घटक बनकर उभरी। कड़ी मेहनत के साथ–साथ दक्षता के साथ काम करना स्वयं में एक लक्ष्य बन गया। पश्चिमी देशों की एक कहावत उभरी– "कोई भी कार्य जो करने लायक है वह अच्छी तरह करने लायक होता है। (If a thing is worth doing, it's worth doing well) काम के साथ यह अभिवृत्ति जुड़ी कि काम को सिर्फ काम करने के लिए नहीं किया जाना है, बल्कि उसे

टिप्पणी

दक्ष तरीके से इसलिए किया जाना है कि उसके साथ अंतर्भूत पारिश्रमिक जुड़ा है। परंतु इस व्यवस्था में श्रमिकों की स्थिति लगातार खराब हुई। वे साध्य की जगह साधन मात्र बनकर रह गए। लाभ प्राप्त करना ही सबसे बड़ा साध्य हो गया। पारंपरिक पूंजीवाद में श्रमिक और पूंजीपति के बीच संबंध अनौपचारिक, प्रत्यक्ष और वैयक्तिक थे। परंतु आधुनिक परंपरावाद में यह संबंध नितांत औपचारिक और अप्रत्यक्ष होकर रह गए। बड़ी संख्या में श्रमिकों की जरुरत पड़ी और ऐसे में मालिकों से उनका आमना–सामना भी कई बार नहीं हो पाता था। वे लाभ कमाने की प्रक्रिया की एक कड़ी मात्र बनकर रह गए। परंपरावादी व्यवस्था पूंजीवाद के विकास के विकास को हतोत्साहित करती थी। परंतु आधुनिक व्यवस्था पूंजीवाद को बढ़ावा देती है। पूंजीवाद की प्रवृत्ति एक ऐसी कार्य नैतिकता पर आधारित होती है जिसका उद्देश्य संपत्ति के लिए पूंजी संचयन करना होता है। इसमें संपत्ति बढ़ाने के लिए ही संपत्ति अर्जित करने की चाह होती है। संपत्ति अर्जित करने की कोई सीमा नहीं है, ऐसे में यह चाह असीमित होती है। आर्थिक पूंजीवाद एक ऐसी नैतिकता को जन्म देता है जो पहले की सभी नैतिकताओं से पूर्णतः भिन्न है।

प्रोटेस्टेंटवाद क्या है

जैसा कि इसके नाम से ही पता चलता है कि ये एक सुधारवादी धर्म है जो प्रोटेस्ट या विरोध के फलस्वरूप पनपा। इसका प्रादुर्भाव सोलहवीं सदी में यूरोप में सुधारवादी काल में हुआ। इसके प्रवर्तक मार्टिन लूथर तथा जॉन कल्विन थे। उन्होंने कैथोलिक चर्च के साथ संबंध विच्छेद कर लिया था। उन्होंने अनुभव किया कि कैथोलिक चर्च रुढ़िवादिता और धार्मिक अनुष्ठानों में फंसकर रह गया है। उसका संपर्क आम आदमी से खत्म हो गया है। धर्म में लालच, भ्रष्टाचार और अन्य बुराइयां समाहित हो गई हैं। पादरी विलासिता की जिन्दगी जी रहे हैं और अपने फायदे के लिए चर्च से मिली शक्तियों का गलत इस्तेमाल कर रहे हैं। इसके बाद समूचे यूरोप में एक सुधारवादी आंदोलन चला। संपूर्ण यूरोप में उभरे प्रोटेस्ट पंथों ने चर्च की खोई हुई मूल विचारधारा को फिर से स्थापित करने का प्रयास किया। इसमें सादगी, सरलता और निष्ठा पर जोर दिया गया। फ्रांस के विद्वान जॉन कल्विन ने इस दिशा में कई विचार दिए। उनके द्वारा स्थापित सिद्धांतों को 'कल्विनवाद' के नाम से जाना जाता है। इंग्लैंड में कल्विन के अनुयायियों को 'प्यूरिटन' (Putiatn) कहा गया। वे उत्तरी अमेरिका चले गए और उन्होंने अमरीकी राष्ट्र की नींव डाली।

वेबर ने अपने अध्ययन में पाया कि पश्चिम में इन प्रोटेस्टेंट अनुयायियों ने ही सबसे ज्यादा तरक्की की। वे उच्च नौकरशाह, अग्रणी उद्योगपति और कुशल कामगार बने। वेबर का विचार था उनके धर्म में दिए विचारों से ही ये मतानुयायी इतनी आर्थिक प्रगति कर पाए। वेबर ने इस विचार को ही सिद्ध करने का प्रयास किया है। इस प्रकार वेबर का पूंजीवाद, कल्विनवाद से प्रभावित है। इसके बारे में और गहराई से देखने पर वेबर ने पाया कि धर्म और अर्थव्यवस्था का घनिष्ठ संबंध है।

कल्विनवाद की मुख्य विशेषताएं

कल्विनवाद की मुख्य विशेषताएं इस प्रकार हैं–

1. **ईश्वर की सर्वशक्तिमान छवि**– कल्विन के अनुसार ईश्वर एक सर्वशक्तिमान सत्ता है और उसकी इच्छा ही सर्वोच्च होती है। उसकी इच्छा को समझने की कोशिश मूर्खता होगी।

टिप्पणी

2. **नियति सर्वोच्च है**– कल्विनवाद में भी स्वर्ग और नर्क की कल्पना की गई। लेकिन कैथोलिक अनुयायी जहां यह विश्वास करने लगे थे कि बलि और प्रार्थना जैसे चर्च के उपायों से कोई अपने गलत कर्म सुधार कर स्वर्ग जा सकता है, वहीं कल्विन ने नियति को सर्वोच्च बताया। उसने कहा कि ईश्वर ने ये पहले से ही चुन रखा है कि किसे स्वर्ग जाना है, किसे नर्क जाना है। ऐसे में व्यक्ति ये सोचता था कि पृथ्वी पर उसकी भौतिक समृद्धि ही इस बात का संकेत होगी कि उसे ईश्वर ने स्वर्ग के लिए चुन रखा है और वो अपनी आर्थिक प्रगति बढ़ाने कि लिए प्रयास करता था। अपने अनिश्चित भाग्य के बारे में अपनी चिन्ता वह इसी प्रकार दूर कर सकता था।

3. **इहलौकिक आत्म संयम को बढ़ावा**– इसमें कठोर अनुशासन पर बल दिया गया। कड़ी मेहनत को सर्वोत्तम माना गया। भोग विलास से दूर रहने का संदेश दिया गया। ईमानदारी ही सबसे बड़ी नीति है– इस सिद्धांत की स्थापना हुई। कड़ी मेहनत से प्राप्त धन को विलासिता पर खर्च नहीं किया जा सकता। अतः उसका एक ही उपयोग था कि और अधिक धन कमाने के लिए उसका निवेश किया जाए। समय की महत्ता स्थापित की गई और समय बर्बाद करने वाली सभी प्रवृत्तियों को बुरा माना गया। 'कार्य ही साधना है' और 'समय ही धन है'– ये प्रवृत्ति समाज में स्थापित हुई।

4. **कार्य की महत्ता स्थापित करने का ईश्वरीय आह्वान**– कल्विनवाद ने हर कार्य को बराबर महत्ता देने की कोशिश की। कूड़ा या नाली साफ करने जैसे कार्यों को भी महत्ता दी गई। इसे काम नहीं ईश्वरीय आह्वान माना गया। हर कार्य को पूरी निष्ठा और लगन से करने की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया गया।

कल्विनवाद पर वेबर का दृष्टिकोण

अपने अध्ययन में वेबर ने आध्यात्मिक दृष्टिकोण और आर्थिक क्रियाकलापों के बीच एक घनिष्ठ संबंध स्थापित करने की कोशिश की। वेबर ने कल्विनवाद पर विश्वास करने वालों के बारे में पांच मुख्य निष्कर्ष निकाले–

1. उनके अनुसार ईश्वर सर्वोच्च सत्ता है जो सृष्टि का निर्माण और संचालन करता है। लेकिन मानव मस्तिष्क उसे और उसके कार्यों को पूरी तरह समझने में सक्षम नहीं है।
2. ईश्वर ने सबके मोक्ष या स्वर्ग–नर्क की नियति तय कर रखी है। यह जन्म के पहले से तय हो जाती है।
3. ईश्वर ने अपने परमानंद के लिए इस सृष्टि की रचना की है। इस सत्य को समझना व्यक्ति के लिए जरूरी है। उसकी स्वयं की सत्ता ईश्वर की सत्ता में ही अंतर्निहित है।
4. उसकी नियति जो भी हो अर्थात् उसे मोक्ष मिले या नर्कवास लेकिन उसे ईश्वर के आनंद के लिए कार्य करना होगा। यानी उसे उसके भौतिक कर्तव्यों का पूरी निष्ठा से पालन करना होगा क्योंकि यही ईश्वर की इच्छा है।
5. भौतिक वस्तुएं चिरस्थायी नहीं हैं और मोक्ष के लिए दैवीय कृपा प्राप्त करना आवश्यक है।

टिप्पणी

वेबर ने कहा कि इन विचारों की वजह से ही एक अनुशासित और निष्ठावान श्रमबल निर्मित करने में सहायता मिली। इसके अभाव में पूंजीवाद का जन्म ही नहीं हो सकता था। कर्तव्यनिष्ठा, कड़ी मेहनत, बचत और पुनर्निवेश और समृद्ध बनने की इच्छा का पूंजीवाद की प्रवृत्ति के साथ घनिष्ठ संबंध होता है।

वेबर ने स्थापित किया कि विचार मानव आचरण पर प्रभाव डालते हैं। हम ये भी कह सकते हैं कि मानव के कर्म उसके विचारों से ही उपजते हैं। दूसरी महत्वपूर्ण कड़ी ये भी है कि कड़ी मेहनत से उपजी समृद्धि को समाज में बुरा नहीं माना गया बल्कि इसे ईश्वर के द्वारा चुने जाने के विचार से जोड़ा गया। धार्मिक विश्वास कर्म करने के लिए मार्ग निर्देश तय करते हैं। वे हमें एक विशेष ढंग से आचार करने के लिए प्रेरित करते हैं।

वेबर का प्रोटेस्टेंट आचार और पूंजीवाद के विकास पर दृष्टिकोण

धार्मिक विचार व्यक्ति के आचार को निर्धारित करते हैं– इस सिद्धांत को प्रतिपादित करने के लिए मैक्स वेबर ने विश्व के छह महानतम धर्मों– कन्फ्यूशियस, हिन्दू, बौद्ध, ईसाई, इस्लाम, यहूदी– को चुना। वेबर ने प्रत्येक धर्म के आर्थिक आचारों का विश्लेषण किया और उन आचारों के उस धर्म–विशेष को मानने वाले लोगों के आर्थिक तथा सामाजिक संगठन पर पड़ने वाले प्रभावों को सिद्ध किया। वेबर के ये निष्कर्ष उनकी सर्वाधिक ख्यातिप्राप्त पुस्तक "द प्रोटेस्टेंट एथिक एंड द स्पिरिट ऑफ कैपिटलिज्म (The Protestant Ethic and the Spirit of Capitalism)" में विस्तार से मिलते हैं। इसमें उन्होंने प्रोटेस्टेंट धर्म और पूंजीवाद के संबंध को प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार प्रोटेस्टेंट धर्म में कुछ ऐसी विशेषताएं हैं जो उन आर्थिक नियमों की व्यवस्था को उत्पन्न करने में सहायक हुईं जिसे हम पूंजीवाद कहते हैं। परंतु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि प्रोटेस्टेंट आचार पूंजीवाद के विकास का एकमात्र कारक है। मैक्स वेबर ने पूंजीवाद को एक–कारकवादी नहीं बल्कि बहु–कारकवादी माना है। परंतु उन्होंने ये बात पूरी दृढ़ता से कही कि प्रोटेस्टेंट आचार एक आवश्यक कारक था और उसके बिना पूंजीवाद का ऐसा स्वरूप संभव नहीं हो पाता।

वेबर ने पूंजीवाद तथा प्रोटेस्टेंट आचार के बीच संबंध को स्थापित करने के लिए इतिहास का सहारा भी लिया और कई ऐतिहासिक प्रमाण प्रस्तुत किए। वेबर ने ये स्थापित किया है कि पूंजीवाद का सबसे अधिक विकास इंग्लैंड, अमेरीका, हॉलैंड आदि उन देशों में हुआ जहां लोग प्रोटेस्टेंट धर्म के अनुयायी हैं। इसके विपरीत इटली, स्पेन आदि देशों में जहां कैथोलिक धर्म के अनुयायी अधिक हैं, वहां पूंजीवाद अधिक विकसित नहीं हुआ। इसी तरह उनके छह धर्मों– कन्फ्यूशियस, हिन्दू, बौद्ध, ईसाई, इस्लाम, यहूदी– के विश्लेषण में उन्होंने ये बात प्रतिपादित की कि इन सभी धर्मों के आर्थिक आचारों के अनुरूप ही समाज का आर्थिक तथा सामाजिक संगठन निश्चित हुआ है।

उदाहरण के लिए उन्होंने हिन्दू धर्म के विश्लेषण में इसे मूल रूप से मोक्ष प्राप्त करने के लिए सांसारिक सुखों को त्यागने की राह बताने वाले धर्म के रूप में देखा। उन्होंने देखा कि हिन्दू धर्म मोक्ष प्राप्ति के लिए कर्म के चक्र से मुक्ति को आवश्यक मानता है। परंतु इस लक्ष्य को भौतिक सुखों और संपत्ति की चाह से जोड़कर नहीं प्राप्त किया जा सकता। उन्होंने ये कहा कि हिन्दू धर्म भौतिक उन्नति को नहीं बल्कि आध्यात्मिक उन्नति को श्रेष्ठ मानता है। हिन्दू धर्म का सामाजिक संगठन के स्वरूप को निर्धारित करने में भी महत्वपूर्ण योगदान रहा। इसी कारण जाति प्रथा को स्थापित

टिप्पणी

किया गया। जाति प्रथा अपने मूल स्वरूप में कार्य के विभाजन से संबंधित रही। इसके अनुसार प्रत्येक जाति को जो कार्य सौंपा गया, उसे निष्ठा और ईमानदारी से पूरा करना ही उसका कर्तव्य माना गया। हिन्दू धर्म में पुनर्जन्म की अवधारणा स्थापित होती है जहां अच्छे कार्यों से ही एक बेहतर और उच्च जीवन की अगले जन्म में राह प्रशस्त होती है। वेबर का कहना था कि भारत जैसे जाति प्रथा पर आधारित समाज में आधुनिक पूंजीवाद का संगठन असंभव है और पश्चिम का पूंजीवाद यहां फल–फूल नहीं सकता। उन्होंने हिन्दू धर्म की नैतिकता में आधुनिक पूंजीवाद के पनपने की संभावना को नकार दिया।

4.3.4 वेबर के विचारों का समालोचनात्मक मूल्यांकन

वेबर के धर्म और अर्थव्यवस्था संबंधी विचारों की कई आलोचनाएं भी सामने आती हैं। कई विद्वान यह मानते हैं कि वे भारत और चीन जैसे देशों में धार्मिक नैतिकता के मूल पहलू को समझने में चूक गए हैं। जैसे उन्होंने हिन्दू धर्म में नियतिवाद और निष्क्रियता को अत्यधिक बढ़ा–चढ़ाकर पेश किया। कई अध्येताओं ने उनके विचारों के विपरीत ये कहा कि हिन्दू धर्म मूल रूप में कर्म की महत्ता को ही स्थापित करता है और निष्काम कर्म की प्रेरणा देता है। इसमें कर्म को सबसे ऊपर और कर्तव्यपालन को सबसे महान धर्म माना गया है। पश्चिमी देशों का व्यवसाय का सिद्धांत हिन्दू धर्म के भगवत गीता के निष्काम कर्म के सिद्धांत के ही अनुरूप है। व्यवसाय का सिद्धांत ही पश्चिमी देशों में पूंजीवाद की प्रगति का मूल है। प्रसिद्ध विद्वान मिल्टन सिंगर ने हिन्दू धर्म में जाति पर आधारित श्रम–विभाजन को औद्योगिक श्रमिकों की विशेषज्ञता से जोड़ कर देखा है। भारत पर अपने अध्ययन में सिंगर ने देखा कि भारत में बहुत से उद्योगपतियों ने अपने व्यावसायिक दायित्वों और धार्मिक अनुष्ठानों को अलग–अलग रखा है। इसलिए उसकी व्यवसायी के रूप में भूमिका और उसकी धार्मिकता में कोई संघर्ष नहीं है। मिल्टन सिंगर के अनुसार भारत में पूंजीवाद पश्चिमी देशों की नकल से नहीं विकसित हो सकता है। भारत में पूंजीवाद का विकास सांस्कृतिक प्रतिमानों तथा सामाजिक संस्थानों की परिधि में ही हो सकता है।

अपनी प्रगति जांचिए

3. मैक्स वेबर ने अपनी किस कृति में सामाजिक क्रिया के सिद्धांत को प्रतिपादित किया?

   (क) थ्योरी ऑफ सोशल एंड इकोनॉमिक डेवलपमेंट

   (ख) जनरल इकोनॉमिक्स थ्योरी

   (ग) एनशिएन्ट इंडियन्स

   (घ) द सिटी

4. वेबर ने प्रोटेस्टेंट सिद्धांत को प्रतिपादित करने के लिए विश्व के कितने धर्मों का विश्लेषण किया?

   (क) तीन (ख) चार

   (ग) पांच (घ) छह

4.4 सत्ता का सिद्धांत

टिप्पणी

समाजशास्त्रीय चिन्तन में वेबर द्वारा प्रतिपादित सत्ता की अवधारणा का महत्वपूर्ण स्थान है। वेबर ने अपनी मौलिक सोच की वजह से इस क्षेत्र को सोचने की नई दिशा प्रदान की है। उनकी अवधारणा मौलिक है। वेबर ने समाज में सत्ता को भी आर्थिक आधार से जोड़ कर देखा है। वेबर के अनुसार– "समाज में सत्ता विशेष रूप से आर्थिक आधारों पर आधारित होती है, हालांकि आर्थिक सत्ता के निर्धारण में एकमात्र कारक नहीं कहे जा सकते।"

वेबर ने यह बात स्थापित की कि समाज में सत्ता उन्हीं के पास रहती है जिनके पास संपत्ति एवं उत्पादन के साधन होते हैं। इसीलिए पूंजीपति और श्रमिक वर्ग में टकराव बना रहता है। इस टकराव का कारण यह है कि पूंजीपति वर्ग सत्ता की कुंजी अपने हाथ में रखने के लिए उत्पादन के साधनों और मजदूरों की सेवाओं पर अधिकार पाने का प्रयत्न करता है। वहीं मजदूर भी अपने श्रम के बदले अधिक से अधिक अधिकार पाने की कोशिश करता है। लेकिन सत्ता के द्वारा ही पूंजीपति वर्ग मजदूर के श्रम को खरीदता है और इस प्रकार उसकी स्वतंत्रता पर भी उसका एक विशेष प्रकार का अधिकार हो जाता है। संक्षेप में कहें तो आर्थिक जीवन में एक स्थिर एवं संस्थागत अर्थव्यवस्था समाज में एक विशिष्ट वर्ग को सत्ता एवं अधिकार प्रदान करती है। इस सत्ता के आधार पर ही यह विशिष्ट अधिकार प्राप्त वर्ग दूसरे वर्गों पर अपना प्रभुत्व रखता है और उनसे उच्च स्थिति में खुद को समझता है।

मैक्स वेबर के अनुसार–

- समाज में सत्ता आर्थिक आधारों पर आधारित होती है।
- सिर्फ आर्थिक कारण सत्ता के निर्धारण के एकमात्र घटक नहीं होते।
- मालिक वर्ग उत्पादन के साधनों एवं मजदूर के श्रम पर एकाधिकार प्राप्त करने का प्रयत्न करता है।
- श्रमिक वर्ग अपनी सेवाओं के बदले अधिकाधिक अधिकार पाने की कोशिश करता है। यह टकराव की स्थिति पैदा करता है।
- परंतु समाज में सत्ता उन्हीं के हाथ रहती है जिनके पास उत्पादन के साधन केन्द्रित होते हैं।

हालांकि इस प्रकार की सत्ता का निर्धारण अब समय के साथ बदल रहा है। लेकिन फिर भी आर्थिक क्षेत्र में वेबर के विचार आज भी प्रासंगिक माने जाते हैं। निजी संपत्ति और उत्पादन के साधनों पर अधिकार किसी वर्ग के लिए आज भी सत्ता के निर्धारण में एक महत्वपूर्ण कारक बने हुए हैं। वेबर के विचारों को बेहतर तरीके से समझने के लिए हमें पहले शक्ति और सत्ता की अवधारणा को समझना होगा।

4.4.1 शक्ति और सत्ता की अवधारणाएं

शक्ति और सत्ता की अवधारणा का हम व्यापक समाजशास्त्रीय दृष्टि से तथा वेबर के विश्लेषण के अनुसार अध्ययन करेंगे।

टिप्पणी

शक्ति

आम बोलचाल की भाषा में हम शक्ति का अर्थ ताकत अथवा नियंत्रण करने की क्षमता से समझते हैं। समाजशास्त्रियों ने इसे बेहतर तरीके से परिभाषित किया है। समाजशास्त्र में शक्ति का अर्थ एक व्यक्ति अथवा समूह की अपनी इच्छा पूर्ण करने तथा अपने निर्णयों और विचारों को कार्यान्वित करने के सामर्थ्य के रूप में माना गया है। इसमें अपनी इच्छा पूरी करने का सामर्थ्य दूसरे की इच्छा के विपरीत भी हो सकता है। समाज में दूसरे लोगों की इच्छा से प्रभावित हुए बिना अपनी इच्छा से उन्हें प्रभावित करने और उनके आचरण को नियंत्रित करने की क्षमता शक्ति में निहित होती है।

मैक्स वेबर ने शक्ति को सामाजिक संबंधों का एक पहलू माना है। इसमें एक व्यक्ति के, दूसरे के आचरण पर अपनी इच्छा को जबरदस्ती थोपने की संभावना भी होती है। शक्ति का अस्तित्व सामाजिक अंतर्क्रियाओं में निहित है। यानी शक्ति समाज में दूसरों के ऊपर ही दिखाई जा सकती है। दूसरों की अनुपस्थिति में शक्ति का कोई अर्थ नहीं है। शक्ति समाज में असमानता की स्थिति पैदा करती है। जिसके पास शक्ति रहती है, उसमें दूसरों पर शासन करने की प्रवृत्ति पैदा होने की पूरी आशंका रहती है। शक्ति में अपनी इच्छा को दूसरों पर जबरदस्ती लागू करवाने का तत्व पूर्ण रूप से हावी रहता है। फिर भी शक्ति का प्रभाव अलग–अलग स्थिति और अलग–अलग व्यक्तियों की क्षमता के आधार पर निर्भर करता है। वेबर ने माना है कि जीवन के सभी क्षेत्रों में शक्ति का प्रयोग संभव होता है।

ये सिर्फ सत्ता के संचालन या युद्ध क्षेत्र या राजनीतिक प्रभुत्व में ही सीमित नहीं होती। इसे जीवन के हर पहलू में देखा जा सकता है। सामाजिक समारोह, सांस्कृतिक गतिविधियों, वैज्ञानिक पहलुओं और परोपकार की भावना में भी देखा जा सकता है। किसी को दान देने का प्रदर्शन भी अपनी आर्थिक शक्ति को प्रदर्शित करने का सूक्ष्म तरीका ही माना जाएगा।

सत्ता

सत्ता के लिए वेबर ने जर्मन में 'हैरशाफ्ट' (Harrschaft) शब्द का प्रयोग किया है। इसका अनुवाद विद्वानों ने अलग–अलग रूप में किया है। कुछ समाजशास्त्रियों ने इसे 'सत्ता' (authority) कहा। कुछ ने इसे 'प्रभुत्व' (dominance) कहा। वहीं कुछ ने इसका अनुवाद 'आदेश' (command) किया है। जर्मन शब्द 'हैरशाफ्ट' का शाब्दिक अर्थ है ऐसी स्थिति जिसमें 'हैर' (harr) अथवा स्वामी अन्यों पर प्रभुत्व जमाता है अथवा हुक्म चलाता है। विद्वान रेमो आरो ने इस शब्द की परिभाषा देते हुए कहा है कि स्वामी की वह क्षमता जिसमें वह उन लोगों से आज्ञापालन कराता है जो सैद्धांतिक रूप से उसके प्रति आज्ञाकारी हैं।

यह सवाल उठ सकता है कि शक्ति और सत्ता में क्या अंतर है। इसे हम इस रूप में समझ सकते हैं कि शक्ति का अर्थ है किसी अन्य को नियंत्रित करने की क्षमता या योग्यता। वहीं सत्ता का अर्थ है वैध शक्ति। यानी स्वामी को आदेश देने का अधिकार है और उस आदेश का पालन हो ये अधिकार भी उसके आदेश में अंतर्निहित है।

सत्ता को विश्लेषित करने के लिए इसके तत्वों को भी समझना जरूरी है।

सत्ता के तत्व– सत्ता की व्यवस्था स्थापित होने के लिए निम्न तत्वों का होना आवश्यक है जो सत्ता को निरुपित करते हैं–

1. कोई शासक या शासकों का समूह।
2. उन व्यक्तियों का समूह जिन पर शासन किया जाना है।
3. शासन करने की शासक की इच्छा जो उसके आदेशों के माध्यम से व्यक्त होती है।
4. शासक से प्राप्त आदेशों का शासित के द्वारा अभिपालन जो उस पर शासक के प्रभाव का प्रमाण है।
5. इस बात का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रमाण कि शासित होने वाले लोगों ने ये तथ्य स्वीकार कर लिया है कि उन्हें शासक के आदेशों का अभिपालन करना है।

टिप्पणी

यानी सत्ता को विश्लेषित करें तो ये समझ आता है कि सत्ता के लिए शासक और शासित में परस्पर संबंध जरूरी है। शासक ये मानते हैं कि उन्हें आदेश देने और उसका पालन सुनिश्चित कराने का अधिकार है। वहीं शासित लोग ये स्वीकार करते हैं कि शासक को आदेश देने का अधिकार है और वे उस आदेश का अभिपालन करते हैं जिससे उस आदेश की वैधता की पुष्टि होती है।

सत्ता की विशेषताएं– मैक्स वेबर ने सत्ता का विश्लेषण किया है और इसकी कई विशेषताएं बताई हैं जो निम्न हैं–

1. **शक्ति का एक रूप**– वेबर ने कहा है कि सत्ता शक्ति का ही वैधानिक स्वरूप है। शक्ति को जब सामाजिक, सांस्कृतिक या वैधानिक मान्यता प्राप्त होती है तो वह सत्ता के रूप में स्थापित हो जाती है।
2. **संस्थागत**– सत्ता हमेशा संस्थागत होती है। इसका ये अर्थ हुआ कि सत्ता कभी वैयक्तिक नहीं होती। इसके सभी प्रकार हर तरह के नियम, रीति–रिवाज, प्रथाओं, परंपराओं और मान्यताओं आदि से मुक्त होते हैं।
3. **प्रस्थिति से संबंधित**– सत्ता का संबंध प्रस्थिति विशेष से होता है, व्यक्ति विशेष से नहीं। जो व्यक्ति उस प्रस्थिति पर आरुढ़ होता है, वही सत्ता का प्रयोग करता है।
4. **विशेष अधिकार शक्ति**– सत्ता पर आसीन व्यक्ति को उससे संबंधित विशेष शक्तियां एवं अधिकार प्राप्त होते हैं। इनका प्रयोग वह संस्थागत तरीके से ही कर सकता है।
5. **सत्ता का निश्चित क्षेत्र**– हर सत्ता की एक सीमा होती है। वह अपनी सीमा के अंदर ही कार्य करती है। उस क्षेत्र विशेष के बाहर उस सत्ता का अभिप्राय नहीं होता है। जैसे घर के मुखिया का सत्ता क्षेत्र उसके घर तक सिमटा हुआ है। इसके बाहर वह इस शक्ति का प्रयोग नहीं कर सकता है। इसी तरह किसी कार्यालय के मुख्य अधिकारी के लिए उसका कार्यालय ही उसकी सत्ता का सीमा क्षेत्र है।
6. **सत्ता का अस्तित्व**– सत्ता का अस्तित्व समाज के प्रत्येक क्षेत्र में पाया जाता है। पारिवारिक, राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि जीवन के सभी क्षेत्रों में सत्ता का अस्तित्व मौजूद रहता है।

टिप्पणी

7. **स्वेच्छा से सत्ता के आदेश का पालन**– सत्ता को वैधानिक शक्ति प्राप्त होती है। सत्ता में शक्ति को नैतिकता, सांस्कृतिक मूल्य, धर्म, न्याय, कानून इत्यादि के द्वारा उचित ठहराया जाता है। इसलिए शासित व्यक्तियों का समूह स्वेच्छा से सत्ता के आदेश का पालन करता है।

4.4.2 शासन करने के तरीके एवं उत्तराधिकार के प्रकार

वेबर के अनुसार सत्ता का प्रयोग तब तक किया जा सकता है जब तक वह विधिसम्मत है। उसने सत्ता को वैधता के स्रोतों के आधार पर तीन प्रकारों में विभाजित किया है। इनमें से प्रत्येक के अनुरूप नियम हैं, जो आदेश देने की शक्ति को औचित्य प्रदान करते हैं। इस प्रकार सत्ता के विभिन्न प्रकार शासन करने के विभिन्न तरीके प्रदर्शित करते हैं। साथ ही ये उत्तराधिकारिता के प्रकार भी दर्शाते हैं अर्थात् सत्ता किस तरीके से परिवर्तन को स्वीकार करेगी। ये प्रकार निम्न हैं–

1. परंपरागत सत्ता (Traditional Authority)
2. करिश्माई सत्ता (Charismatic Authority)
3. विधिसम्मत युक्तिमूलक सत्ता (Legal – Rational Authority)

1. परंपरागत सत्ता (Traditional Authority)– इस प्रकार की सत्ता व्यक्ति को परंपरा के आधार पर प्राप्त होती है। इसमें वैधानिक नियमों की कोई भूमिका नहीं होती। केवल परंपरा से स्वीकृत और समाज में मान्य होने के कारण इस सत्ता का अस्तित्व बरकरार रहता है। ये पद समाज के विश्वास और सामाजिक मूल्यों पर टिके रहते हैं। जब कोई ऐसे पद पर आसीन होता है तब उसे जो सत्ता प्राप्त होती है उसे 'परंपरागत सत्ता' कहते हैं। अमूमन ऐसी सत्ता वंशानुगत होती है। यह उन विश्वासों, आदर्शों और परंपराओं के अनुसार प्राप्त होती है जो समाज में बहुत समय से चली आ रही हैं।

वैधता की ये प्रणाली पारंपरिक कार्य से निरुपित होती है। इसका आधार यह विश्वास है कि किसी विशेष सत्ता का सम्मान किया जाना चाहिए क्योंकि यह पुराने समय से चली आ रही है।

अमूमन पारंपरिक सत्ता के अंतर्गत शासक पीढ़ी दर पीढ़ी चली आ रही प्रस्थिति के कारण व्यक्तिगत सत्ता का उपभोग करते हैं। उनके आदेश रीति–रिवाजों से शक्ति पाते हैं। उन्हें शासित लोगों से अपना आदेश मनवाने का भी अधिकार होता है। शासित समाज, व्यक्तिगत निष्ठा के कारण अथवा प्राचीन काल से मिली मान्यता के अनुसार पद के प्रति सम्मान की वजह से ही अपने स्वामी के आदेश का पालन करती है। इस प्रकार यह देखा जाता है कि पारंपरिक सत्ता प्राचीन परंपराओं को पवित्र मानने के विश्वास पर आधारित है।

पारंपरिक सत्ता का संचालन लिखित नियमों और विधानों के अंतर्गत नहीं होता। यह विरासत में मिलता है। पारंपरिक सत्ता का क्रियान्वयन अपने संबंधियों तथा समर्थकों के बल पर किया जाता है।

आधुनिक युग में पारंपरिक सत्ता का प्रचलन काफी कम हो गया है। हालांकि राजतंत्र या राजशाही अब भी कई स्थानों पर जीवित है। पारंपरिक सत्ता का सबसे सशक्त उदाहरण राजतंत्र (Monarchy) ही है। उदाहरण के लिए इंग्लैंड में महारानी

पारंपरिक सत्ता का उदाहरण पेश करती हैं। किन्तु वहां भी वास्तविक सत्ता लोगों में ही निवास करती है। इंग्लैंड के कानून महारानी के नाम पर लागू जरुर किए जाते हैं किन्तु इन कानूनों का निर्माण जनता के प्रतिनिधि यानी सांसद करते हैं। यानी इंग्लैंड की महारानी सिर्फ एक सांकेतिक राष्ट्राध्यक्ष हैं।

टिप्पणी

संक्षेप में कहें तो पारंपरिक सत्ता को वैधता प्राचीन परंपराओं से प्राप्त होती है। ये कुछ लोगों को आदेश देने की क्षमता प्रदान करती है। अन्य लोगों को यही परंपराएं एवं मान्यताएं आदेश मानने पर बाध्य करती हैं। वेबर ने इस प्रकार की सत्ता को तर्कहीन माना है। आधुनिक समाज यह सत्ता अपने पूर्ण रूप में बहुत कम बची है।

2. करिश्माई सत्ता (Charismatic Authority)– इस प्रकार की सत्ता का आधार न तो वैधानिक होता है और न ही परंपरागत। इस प्रकार की सत्ता चमत्कार या करिश्मे के आधार पर निर्धारित होती है। अब सवाल ये उठता है कि करिश्मा या चमत्कार किसे माना जाए? मैक्स वेबर ने जिस CHARISMA शब्द का प्रयोग किया है वो किसी चमत्कारी शक्ति का प्रतीक है। ऐसी शक्ति जो सामान्य से अलग है। इसका अर्थ है सामान्य से भिन्न कुछ विशिष्ट गुणों या शक्तियों का होना। जिस व्यक्ति में इस प्रकार के करिश्माई गुण होते हैं वो सत्ता पा लेने का अधिकारी होता है। करिश्मा शब्द का शाब्दिक अर्थ है ईश्वर की कृपा से मिली शक्ति। अर्थात् व्यक्ति में कुछ असाधारण गुणों का समावेश होना। ऐसे गुणों से इन व्यक्तियों में सामान्य लोगों की निष्ठा और भावनाओं को अपने वश में कर लेने की क्षमता आ जाती है। अपनी इसी क्षमता के बल पर वो अपने पीछे अधिसंख्य लोगों का सहयोग खड़ा कर लेते हैं। इसे सिर्फ जादू–टोने और दैवीय शक्ति से नहीं जोड़ कर देखा जाना चाहिए। चमत्कारिक शक्तियों में नेतृत्व क्षमता भी जुड़ जाती है। अपनी नेतृत्व क्षमता के बल पर कोई नेता असंख्य लोगों की भावनाओं को खुद से जोड़ लेता है। उदाहरण के लिए गांधी जी के पास किसी प्रकार की शक्ति नहीं थी परंतु अपनी नेतृत्व क्षमता के आधार पर उन्होंने पूरे देश की जनता का प्रतिनिधित्व करने की शक्ति हासिल कर ली थी।

करिश्माई क्षमता परंपरागत विश्वासों अथवा लिखित नियमों से नहीं बंधी होती। ये अपने विशेष गुणों के बल पर शासन करने वाले नेता की क्षमता होती है जो उसे लोगों को अपनी बात मनवा लेने की शक्ति देती है। असंख्य लोगों को खुद से जोड़ कर और उनसे अपने लिए समर्थन ले लेने की वजह से ही किसी नेता को सत्ता प्राप्त होती है। इस प्रकार की सत्ता में उत्तराधिकार की समस्या अक्सर खड़ी होती है। क्योंकि प्रभावकारी व्यक्ति के जाने के पश्चात् जनता उसके पुत्र को ही स्वतः अपना नेता नहीं चुन लेती है। नेता चुने जाने के लिए उसे भी वैसी ही चमत्कारिक शक्तियों का प्रदर्शन करना होता है। कई बार नेता का मूल संदेश लोगों तक पहुंचाने के लिए किसी संगठन का भी विकास हो जाता है। तब करिश्माई सत्ता का पारंपरिक या विधिसम्मत सत्ता में परिवर्तन हो जाता है। वेबर ने इसे 'करिश्मे का सामान्यीकरण' कहा है।

यदि यह सत्ता नेता के पुत्र अथवा उसके निकट संबंधी को स्वीकार कर लेती है तो पारंपरिक सत्ता का अस्तित्व बना रहता है। परंतु यदि इन्हीं गुणों का लिखित रूप में स्पष्ट उल्लेख होता है तो वह विधिसम्मत सत्ता में बदल जाती है। इस प्रकार करिश्माई सत्ता को अस्थिर और अस्थायी माना जा सकता है। हमारे समाज में ऐसे करिश्माई क्षमता वाले व्यक्तियों के उदाहरण भरे हुए हैं। गुरु नानक, ईसा मसीह, मौहम्मद पैगम्बर, महात्मा गांधी जैसे कई उदाहरण हैं। उन्होंने लोगों के जीवन पर

इतना अधिक प्रभाव किसी परंपरागत सत्ता से मिली शक्तियों से नहीं डाला बल्कि खुद की क्षमता से लोगों के बीच महान हस्ती के रूप में स्थापित हुए।

टिप्पणी

3. विधिसम्मत युक्तिमूलक सत्ता (Legal – Rational Authority)– यह कानूनी या विधि से प्राप्त सत्ता है। इस सत्ता का उपयोग अमूमन कर्मचारी वर्ग करता है। इन कर्मचारियों को विधि के आधार पर तैयार नियमों के अंतर्गत काम करना होता है। यह तर्क के आधार पर बनाई गई प्रणाली है। जो कर्मचारी विधि के आधार पर दी गई सत्ता का उपयोग करते हैं उनके लिए ये एक व्यवसाय होता है। उन्हें विधि के आधार पर बनाए गए शासन तंत्र को सुचारु रूप से चलाने में अपना योगदान देना होता है और उन्हें इसके लिए वेतन की प्राप्ति होती है। उनकी नियुक्ति भी पहले से निर्धारित योग्यता क्षमता के आधार पर की जाती हैं।

यह वैधानिक सत्ता होती है इसलिए इसे सभी की मान्यता प्राप्त होती है। इसका पालन करना सभी का कर्तव्य समझा जाता है। आदेशों और नियमों का पालन कराने के लिए जिन व्यक्तियों को सत्ता दी जाती है उनके आदेशों का सभी पालन करते हैं और उनका सम्मान भी होता है। आदेशों का पालन नहीं करने की स्थिति में दंड का भी विधान होता है। अर्थात् विधि के आदेशों का पालन करना सभी के लिए अनिवार्य होता है। इस सत्ता की खास बात ये होती है कि सत्ता के नियमों का पालन करवाने वाले लोगों को भी नियमों के अंतर्गत ही कार्य करना पड़ता है। वे भी विधि के नियमों और आदेशों से बंधे होते हैं। इस सत्ता में निरंकुश होने की संभावना नहीं होती।

विधिसम्मत तर्कमूलक सत्ता या तर्क विधिक सत्ता आधुनिक समाज का एक विशिष्ट गुण है। वेबर ने इसे पश्चिमी सभ्यता की देन माना है। वेबर के अनुसार तार्किकता पश्चिमी सभ्यता की मुख्य विशेषता है और यह तार्किकता मानसिक चिन्तन और विचार–विमर्श की देन होती है। इसलिए सामाजिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए तर्क आधारित सत्ता की जरूरत होती है। वेबर ने नौकरशाही व्यवस्था को वैधानिक सत्ता का सबसे प्रमुख उदाहरण माना है। उदाहरण के लिए शासनतंत्र में किसी जिले के प्रमुख अधिकारी जिलाधीश के जिम्मे उस जिले में सत्ता के नियमों का पालन करवाने की जिम्मेदारी होती है। उसके साथ के सारे कर्मचारी उसके इस कार्य में सहयोग करते हैं और लोग उसके आदेशों का पालन करते हैं। इस सत्ता का स्रोत किसी व्यक्ति में निहित नहीं होता बल्कि उस विधान में होता है जिसका उसे पालन करवाना होता है। इस व्यवस्था में सबका अधिकार क्षेत्र सीमित होता है और उस सीमा में ही वो अपने अधिकारों का उपभोग कर सकता है।

4.4.3 मैक्स वेबर के सत्ता के सिद्धांत की आलोचना

1. वेबर के कई कथन खुद ही विरोधाभास पैदा करते हैं। वेबर ने जहां सत्ता की व्याख्या विधान या प्राप्त अधिकारों के रूप में की है वहीं उन्होंने सत्ता के परंपरागत और करिश्माई रूप को भी अपने विशेष प्रारूप में स्वीकार किया है। दोनों ही प्रकार की सत्ता को उन्होंने उचित ठहराया है। परंतु देखा जाए तो दोनों में ही विरोधाभास है। शक्ति के संस्थागत रूप के आधार पर विधिसम्मत सत्ता को ही उचित ठहराया जा सकता है।
2. वेबर के अनुसार किसी समाज में एक ही समय में सत्ता के विभिन्न रूप मौजूद रह सकते हैं। लेकिन वास्तविकता में सत्ता का एक स्वरूप ही एक समय में

अधिक प्रभावी रहता है और वो दूसरे रूप को अपने अंदर इतना निहित कर लेता है कि सत्ता के दूसरे स्वरूप गौण से हो जाते हैं।

3. आधुनिक समाज में वैधानिक सत्ता को ही वेबर ने प्रभावी बताया है। परंतु कई उदाहरण ऐसे मौजूद हैं जब किसी खास व्यक्ति ने अपने करिश्माई व्यक्तित्व के बल पर सत्ता पर आधार प्राप्त कर लिया और फिर वो विधान या कानून को अपने अनुसार इस्तेमाल करने लगा।

टिप्पणी

उपरोक्त आलोचनाओं के बावजूद वेबर का सत्ता का सिद्धांत राजनीतिक समाजशास्त्र का मुख्य आधार है। दरअसल वेबर का जोर इस बात पर था कि सामाजिक व्यवस्था में होने वाले परिवर्तनों के कारणों को समझकर उनका विश्लेषण किया जाए। अपने इस प्रयास में वे पूरी तरह सफल रहे हैं। उनके सिद्धांत इस बात को पूरी तरह स्पष्ट करते हैं कि वैधानिक शक्ति के रूप में होने वाले परिवर्तन, सामाजिक व्यवस्था में भी परिवर्तन लाने में सक्षम होते हैं। वेबर ने सत्ता की विवेचना वैज्ञानिक आधार पर करके मानव व्यवहार की प्रकृति की भी व्याख्या की है।

अपनी प्रगति जांचिए

5. सत्ता के लिए वेबर ने 'हैरशाफ्ट' राज्य का प्रयोग किया है। यह किस भाषा का शब्द है?

   (क) फारसी (ख) जर्मनी

   (ग) अंग्रेजी (घ) हिंदी

6. सत्ता को वैधता के स्रोतों के आधार पर कितने भागों में विभाजित किया गया है?

   (क) तीन (ख) चार

   (ग) पांच (घ) छह

4.5 नौकरशाही का सिद्धांत

मैक्स वेबर पहले चिन्तक थे जिन्होंने नौकरशाही का एक प्रणालीबद्ध तरीके से अध्ययन किया। इसीलिए प्रशासन के क्लासिक दृष्टिकोण में नौकरशाही के वेबेरियन मॉडल का प्रमुख स्थान है। वेबर ने सिर्फ नौकरशाही की उत्पत्ति और उसके कार्यों का ही विश्लेषण नहीं किया, बल्कि उन्होंने पूरी प्रशासनिक व्यवस्था का क्रमबद्ध अध्ययन प्रस्तुत किया। उनके अध्ययन ने नौकरशाही को समझने के लिए एक सैद्धांतिक ढांचा और आधार दिया है।

4.5.1 पूंजीवाद का राष्ट्रवाद पर प्रभाव और आधुनिक नौकरशाही का उद्‌भव

वेबर ने पूंजीवाद को धर्म से जोड़कर देखा है। वेबर ने पाया कि प्रोटेस्टेंट धर्मावलम्बियों ने पूंजीवाद को बढ़ाने में प्रमुख भूमिका निभाई। वेबर ने अपने अध्ययन में पाया कि पश्चिम में इन प्रोटेस्टेंट अनुयायियों ने ही सबसे ज्यादा तरक्की की। वे उच्च नौकरशाह, अग्रणी उद्योगपति और कुशल कामगार बने। वेबर का विचार था उनके धर्म

टिप्पणी

में दिए विचारों से ही ये मतानुयायी इतनी आर्थिक प्रगति कर पाए। अपने अध्ययन में वेबर ने स्थापित किया कि धर्म और अर्थव्यवस्था का घनिष्ठ संबंध है। प्रोटेस्टेंट धर्मावलम्बियों में राष्ट्रवाद की तीव्र भावना थी और इस भावना ने पूंजीवाद को बढ़ाने में मदद की। पूंजीवाद के विकास से आधुनिक नौकरशाही को भी पनपने का मौका मिला।

नौकरशाही का सिद्धांत प्रशासनिक व्यवस्था का वैज्ञानिक तरीके से अध्ययन करता है। दरअसल समाज को संचालित करने के लिए एक प्रशासनिक व्यवस्था की आवश्यकता होती है। औद्योगिक क्रांति होने के पश्चात पूंजीवाद का प्रभाव बढ़ा और ऐसे में एक जटिल प्रशासनिक ढांचे की जरूरत पड़ी। प्रशासनिक व्यवस्था सुचारु रूप से चलाने के लिए कर्मचारियों और अधिकारियों की भूमिका निश्चित की जाती है। ये व्यवस्था सुचारु रूप से चले इसके लिए कर्मचारियों में विशेष योग्यता, निष्पक्षता और तटस्थता जैसे गुण जरूरी हैं। नौकरशाही के सिद्धांत ने संगठन के सिद्धांत में परिवर्तन किया। संगठन को पहले से अधिक दक्ष और व्यवस्थित बनाने पर जोर दिया गया। वेबर ने इस पूंजीवादी व्यवस्था में बदलते समाज के बदलते प्रशासनिक ढांचे को समझा और नौकरशाही का वैज्ञानिक आधार दिया।

नौकरशाही का अर्थ

वेबर से पहले भी विद्वानों ने इस पर अपना अध्ययन प्रस्तुत किया है। नौकरशाही शब्द अंग्रेजी के 'ब्यूरोक्रेसी' (Bureaucracy) शब्द का हिन्दी अनुवाद है। इस शब्द को फ्रांसीसी अर्थशास्त्री विन्सेट डी गोर्नी (Vincent De Gourney) ने पहली बार सन् 1745 में दिया। फ्रांसीसी भाषा में 'ब्यूरो' (Bureau) शब्द का अर्थ होता है लिखने वाली मेज या डेस्क। इस शब्द का दूसरा अर्थ पद भी माना जाता है। इस शब्द के अंतर्निहित मायने को समझा जाए तो यह मेज प्रशासन या कार्यालयों द्वारा किया जाने वाला प्रबंधन के अर्थ में समझा जाता है। विन्सेट डी गोर्नी ने परंपरागत शब्द ब्यूरो लिया और उसे सरकारी अधिकारियों के शासन के रूप में दर्शाने के लिए शासन के ग्रीक प्रत्यय को जोड़ दिया। इस तरह ब्यूरोक्रेसी शब्द सामने आया। इस तरह ब्यूरोक्रेसी का अर्थ हुआ अधिकारियों का शासन। यह शीघ्र ही मानक बन गया और राजनीतिक अभिव्यक्ति की मान्यताओं में भी स्वीकार्य हो गया। अंग्रेजी के ब्यूरोक्रेसी शब्द के लिए हिन्दी में नौकरशाही, सेवकतंत्र, अधिकारी या राज्य जैसे शब्द उपयुक्त होते हैं। लेकिन नौकरशाही शब्द ही सबसे अधिक प्रचलन में है।

यानी जिन अर्थों में नौकरशाही की विवेचना की जाती है वो आधुनिक समाज की विशेषता है। यह वह व्यवस्था है जिसके अंतर्गत सरकारी कार्यों का संचालन उस कार्य को करने के लिए नियुक्त व्यक्तियों के हाथों होता है। इन्हें उस कार्य को करने के लिए विशेष प्रशिक्षण दिया जाता है। इस तरह उनमें विशेष योग्यता आ जाती है। इस तरह कार्य एक सुचारु तंत्र में होता है। इस व्यवस्था की खास बात ये है कि कार्य का निष्पादन किसी व्यक्ति पर निर्भर न होकर एक तंत्र के अंतर्गत होता है।

इतिहासकारों के मुताबिक नौकरशाही एक संस्था के रूप में चीन में प्राचीन काल में विद्यमान थी। प्रशासनिक व्यवस्था को चलाने के लिए प्रशासनिक अधिकारियों की नियुक्ति के लिए सिविल सेवा जैसी प्रतियोगता परीक्षा आयोजित करने के चीन में 186 ई.पू. में ही प्रमाण मिले हैं। प्राचीन मिस्र, प्राचीन रोम में भी नौकरशाही के तत्व मिलते हैं। तेरहवीं सदी में रोमन कैथोलिक चर्च में भी नौकरशाही के बीज देखे जा सकते हैं।

18वीं सदी में यह पश्चिमी देशों में विकसित रूप से उभरी। औद्योगिक क्रांति और आधुनिकीकरण ने इसके विकास को तीव्र गति दी।

इस तरह वेबर के अध्ययन से बहुत पहले से ही नौकरशाही अस्तित्व में थी और विभिन्न तरीकों से नौकरशाही को समझने के कई विद्वानों ने प्रयास भी किए हैं। लेकिन वेबर को नौकरशाही का सुव्यवस्थित और क्रमबद्ध अध्ययन करने का सर्वप्रथम प्रयास करने का श्रेय जाता है।

टिप्पणी

मैक्स वेबर के नौकरशाही पर विचार

नौकरशाही के बारे में कई विद्वानों ने विचार प्रस्तुत किए हैं। लेकिन वेबर के विचारों को ही सबसे अधिक तर्कपूर्ण और व्यवस्थित माना जाता है। इसे वेबर के आदर्श सिद्धांत के रूप में जाना गया है। यह काफी लचीला है। दरअसल अन्य सिद्धांतों की कठोरता को देखकर ही वेबर ने एक लचीला सिद्धांत विकसित किया और धीरे–धीरे लगभग सभी विकासशील देशों में यह लोकप्रिय हो गया।

4.5.2 मैक्स वेबर का नौकरशाही मॉडल

वेबर ने अपनी पुस्तक 'इकोनॉमी एंड सोसॉयटी' और 'पार्लियामेंट एंड गवर्नमेंट इन द न्यूली ऑरगेनाइज्ड जर्मनी' में नौकरशाही के सिद्धांत की चर्चा की है। हालांकि उन्होंने कहीं भी प्रत्यक्ष रूप से इस सिद्धांत को प्रतिपादित नहीं किया है। उनका नौकरशाही पर सिद्धांत उनके शक्ति, प्रभुत्व और सत्ता पर दिए विचारों में ही निहित है। उन्होंने वैधानिक सत्ता को ही नौकरशाही माना है। विधिक सत्ता से उपजने वाली और उससे समर्थित नौकरशाही को ही वेबर ने संगठन का सबसे अच्छा स्वरूप बताया है। इस प्रकार वेबर ने नौकरशाही का प्रयोग एक निश्चित प्रकार के प्रशासनिक संगठन को दर्शाने के लिए किया है। वेबर ने कहा है कि विधिक सत्ता पर आधारित नौकरशाही में एक विधि संहिता का निर्माण करके उसका पालन अनिवार्य कर दिया जाता है। नौकरशाही कानून के शासन पर ही कार्य करती है। इस व्यवस्था में निष्ठा किसी व्यक्ति के प्रति न होकर अवैयक्तिक विधि या कानून के प्रति होती है। इस प्रकार की नौकरशाही अवैयक्तिक, निष्पक्ष और तटस्थ होती है। ऐसी नौकरशाही कार्य विशेषज्ञ भी होती है क्योंकि लोगों की विभिन्न पदों पर नियुक्ति जांच परख कर की जाती है और उन्हें कार्य का प्रशिक्षण भी दिया जाता है।

मैक्स वेबर के अनुसार नौकरशाही की परिभाषा इस प्रकार है– "यह एक प्रकार का प्रशासकीय संगठन है, जिनमें विशेष योग्यता, निष्पक्षता तथा मनुष्यता का अभाव आदि लक्षण पाए जाते हैं।"

मैक्स वेबर की परिभाषा के विश्लेषण से नौकरशाही के निम्न तत्व प्राप्त होते हैं–

- यह एक प्रकार की प्रशासनिक व्यवस्था है।
- इस प्रशासनिक व्यवस्था की तीन सर्वप्रमुख विशेषताएं हैं– विशेष योग्यता, निष्पक्षता और मनुष्यता का अभाव।
- मैक्स वेबर ने कहा है ये तत्व लोक प्रशासन में नौकरशाही सत्ता अथवा निजी उद्योगों में नौकरशाही प्रबंध व्यवस्था का निर्माण करते हैं। इसकी निम्न विशेषताएं देखी जा सकती हैं–

  1. पद सोपान (Hierarchical Principle) का सिद्धांत लागू होता है।

टिप्पणी

2. लिखित दस्तावेजों पर आधारित व्यवस्था।
3. आधुनिक कार्यालय के प्रबंधकीय निर्णयों पर आधारित।
4. कार्यालीय प्रबंधन के लिए सामान्य नियमों और व्यवहारों पर आधारित व्यवस्था का निर्माण।
5. कार्यालयी प्रबंध के नियमों और तकनीकियों का अधिकारियों में प्रशिक्षण से प्राप्त ज्ञान।

नौकरशाही की विशेषताएं

नौकरशाही एक शासन प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया को विधि संहिता की शक्ति प्राप्त होती है। पूरी प्रक्रिया के पालन के लिए नियम तय किए जाते हैं। इनका पालन कराने के लिए अधिकारियों और कर्मचारियों की नियुक्ति होती है। इस प्रकार नौकरशाही में कई विशेषताएं देखी जा सकती हैं–

1. **शासन की वैज्ञानिक पद्धति**– शासन के संचालन की विभिन्न पद्धतियां समाज में व्याप्त रही हैं, परंतु सभी पद्धतियों में नौकरशाही को ही शासन के संचालन की सबसे वैज्ञानिक पद्धति माना जाता है।
2. **विशिष्ट कर्तव्यों से परिपूर्ण**– नौकरशाही में जिन अधिकारियों और कर्मचारियों की नियुक्ति होती है वे सब मिलकर एक विशिष्ट संगठन का निर्माण करते हैं। सबके जिम्मे कुछ विशेष कार्य निर्धारित होते हैं। ये पदाधिकारी इन विशिष्ट कार्यों की सीमा से बाहर नहीं जा सकते। इस प्रकार हर कार्य के लिए सबका उत्तरदायित्व तय रहता है। सभी को एक दूसरे के सहयोग की आवश्यकता होती है और सबके सहयोग से मिलकर ही शासन का संचालन तय होता है।
3. **पद सोपान पद्धति**– नौकरशाही ऐसी शासन पद्धति का निर्माण करती है जिसमें विभिन्न कार्यों का संचालन कई अधिकारी और कर्मचारी मिलकर करते हैं। ये विभिन्न पदों पर नियुक्त होते हैं। इन पदों की श्रेणियां तय होती हैं। हर निम्न श्रेणी अपने से उच्च स्तर की श्रेणी के लिए उत्तरदायी होती है। इस प्रकार आदेश का संचालन उच्च स्तर से निम्न स्तर की श्रेणी की तरफ होता है। अंततः सभी विधि संहिता के प्रति उत्तरदायी होते हैं। इस प्रकार सभी कार्यों का संचालन उचित माध्यम (Through Proper Channel) से होता है। हर श्रेणी या सोपान के कर्तव्य और उत्तरदायित्व तय रहते हैं। हर सोपान की अपनी विशिष्टता और महत्व होता है। इस तरह पूरी व्यवस्था एक सुसंचालित पद–सोपान में अंतर्निहित होती है।
4. **सत्ता का स्पष्ट विभाजन**– नौकरशाही एक व्यवस्था का निर्माण करती है जहां हर पद के लिए उसके कर्तव्यों का स्पष्ट रूप से निर्धारण किया जाता है और उन कर्तव्यों के पालन को विधि से सुनिश्चित किया जाता है। अपने कर्तव्यों का पालन न करने की स्थिति में व्यक्ति को पदच्युत भी किया जा सकता है। इस प्रकार कर्तव्यपालन के उत्तरदायित्व के निर्वहन के लिए सत्ता का स्पष्ट विभाजन किया जाता है।
5. **योग्यता और कुशलता को महत्व**– नौकरशाही की प्रक्रिया में योग्य लोगों की ही पदों पर नियुक्ति की जाती है। अमूमन उनके ज्ञान और योग्यता की जांच

के लिए पहले उनकी परीक्षा ली जाती है। नियुक्ति के बाद भी उनके प्रशिक्षण पर जोर दिया जाता है। इस प्रकार योग्यता और कुशलता को महत्व मिलता है। इसका उद्देश्य यही होता है कि सभी कार्यों का संचालन उत्तम रूप से हो सके।

टिप्पणी

6. **गोपनीयता**– नौकरशाही व्यवस्था में गोपनीयता को अत्यधिक महत्वपूर्ण माना जाता है। पद पर नियुक्ति की शर्तों में गोपनीयता का पालन करना भी शामिल होता है। कोई भी पदाधिकारी सरकारी कार्यों की गोपनीयता भंग नहीं कर सकता है। कौन सी जानकारी सार्वजनिक होनी और और कौन सी गोपनीय रहनी है, इसका आधार पहले से तय होता है। राज्य की संप्रभुता और सुरक्षा के लिए ये गोपनीयता आमतौर पर आवश्यक होती है। इसका पालन नहीं करने की स्थिति में व्यक्ति पर दंडात्मक कार्रवाई की जा सकती है या उसे उसके पद से हटाया जा सकता है।
7. **प्रशासन में अंतर्निहित व्यक्तित्व**– नौकरशाही व्यवस्था यह सुनिश्चित करती है कि व्यक्ति का अपना व्यक्तित्व व्यवस्था से ऊपर नहीं हो पाए। कर्मचारी या अधिकारी जब अपने दफ्तर से बाहर होते हैं तो उनका अपना व्यक्तित्व होता है। वो किसी भी राजनीतिक विचारधारा के समर्थक हो सकते हैं। परंतु अपने कार्यपालन के दौरान ये सुनिश्चित किया जाता है कि उसके कर्तव्यपालन में उसके निजी विचार या व्यवहार बीच में न आए।
8. **लालफीताशाही की संभावना**– आधुनिक समाज अधिकतर लिखित संविधान पर आधारित होते हैं। ऐसे में नौकरशाही व्यवस्था में दस्तावेजों और अभिलेखों का महत्व अत्यधिक बढ़ जाता है। कार्य वास्तविक रूप में कैसे भी संचालित हों, उनका कागजों पर सही ढंग से संचालित होते हुए दिखना ज्यादा महत्वपूर्ण हो जाता है। मौखिक आदेशों का महत्व नहीं होता। ऐसे में कई बार साधारण कार्य भी विभिन्न फाइलों के तहत लम्बे समय तक फंसे रह जाते हैं। ऐसे में इस बात की पूरी संभावना होती है कि लालफीताशाही व्यवस्था पर हावी हो जाए।
9. **व्यवस्थित दस्तावेजों और अभिलेखों का रिकार्ड**– नौकरशाही पद्धति में दस्तावेजों और अभिलेखों का ही महत्व है। सभी कार्य दस्तावेजों के आधार पर ही पूर्णता पाते हैं। इन दस्तावेजों के अभाव में कर्मचारी और अधिकारी खुद को कुछ भी करने में सक्षम नहीं पाते हैं। ऐसे में सभी अभिलेखों और दस्तावेजों को लम्बे समय तक सुरक्षित रखने की महत्ता पर जोर दिया जाता है।
10. **सिद्धांत और व्यवहार में अंतर**– नौकरशाही तंत्र में सैद्धांतिक तौर पर पूरी व्यवस्था दुरुस्त नजर आती है। जबकि इसका व्यावहारिक पक्ष अलग हो जाता है। जिन सरकारी अधिकारियों पर जनता की सेवा का उत्तरदायित्व होता है वही अपने अधिकारों का दुरुपयोग करते हैं। इस प्रकार, भ्रष्टाचार एक बड़ी समस्या बनकर उभरता है।

नौकरशाही के प्रकार

आधुनिक समाजों में नौकरशाही पर आधारित शासन तंत्र ही प्रचलन में है। भारत में भी इसी व्यवस्था के तहत कार्य होता है। हमारे देश में योग्यता नौकरशाही का रूप दिखता है। संचालन और विश्लेषण की सुविधा के लिए नौकरशाही को अग्रलिखित चार प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है–

टिप्पणी

1. **जातिगत नौकरशाही** (Caste Bureaucracy)– इस प्रकार की नौकरशाही में योग्यता का आधार जाति होती है। एक विशेष जाति के लोगों को ही शासन व्यवस्था में शामिल किया जाता है। ये एक वर्ग विशेष को ही शासन व्यवस्था के संचालन का उत्तरदायित्व देती है। मार्क्स के अनुसार ये उन लोगों के वर्गीय संबंधों से उत्पन्न होती है जो नियंत्रण के प्रमुख स्थानों पर होते हैं। इस व्यवस्था में वही व्यक्ति शासनकर्ता हो सकता है जो नियंत्रणकर्ता की ही विशिष्ट जाति से संबंधित होता है। उदाहरण के लिए भारत में प्राचीन काल में वर्ण व्यवस्था आधारित प्रशासनिक तंत्र प्रचलन में था। मुगल शासन में भी बाबर से लेकर औरंगजेब तक शासन जातिगत नौकरशाही के तहत ही होता था।
2. **अभिभावक नौकरशाही** (The Guardian Bureaucracy)– इस प्रकार की नौकरशाही में शासन पर ऐसे लोगों का आधिपत्य होता है जो दूसरे लोगों से योग्यता और ज्ञान में बेहतर समझे जाते हैं। उन्हें शासन तंत्र के सभी पहलुओं की जानकारी होती है और उनके ही हाथों में शासन का मूल अधिकार होता है। सत्रहवीं सदी के दौरान पर्शिया में भी ऐसी ही लोक सेवा प्रचलित थी। इस प्रकार की नौकरशाही व्यक्ति की योग्यता पर निर्धारित होती है। ऐसी पद्धति जहां न्यायपूर्ण, शुद्ध, कार्यकुशल, दक्ष और उपकारी हो सकती है, वहीं दूसरी ओर उत्तरदायित्वपूर्ण और अधिकारपूर्ण भी हो सकती है।
3. **संरक्षक नौकरशाही** (Patronage Bureaucracy)– इस प्रकार की नौकरशाही में सरकारी पद किसी खास संरक्षण की वजह से प्राप्त होता है। किसी व्यक्तिगत अनुग्रह या राजनीतिक पुरस्कार के रूप में पद प्राप्त होने से व्यक्ति उसी संरक्षणकर्ता के प्रति ही झुका रहता है। ऐसे में वो निष्पक्ष और तटस्थ नहीं रह पाता। कई बार ये लूट–खसोट की भी वजह बन जाती है।
4. **योग्यता नौकरशाही** (Merit Bureaucracy)– नौकरशाही का अंतिम प्रकार योग्यता नौकरशाही है जो आधुनिक समाज में ज्यादा प्रचलन में है। भारत में भी योग्यता नौकरशाही ही देखने को मिलती है। इस प्रकार की नौकरशाही में कर्मचारियों की नियुक्ति उनकी योग्यता के आधार की जाती है। योग्यता की जांच के लिए विभिन्न प्रक्रियाएं अपनाई जाती हैं। प्रतियोगिता परीक्षा भी योग्यता जांच की ही एक परीक्षा है। योग्यता के आधार पर कुशल,सक्षम और योग्य व्यक्ति की खोज की जाती है। इसका उद्देश्य ये होता है कि लोक सेवा के लिए सर्वोत्तम व्यक्ति की परख की जा सके। आधुनिक प्रजातंत्र में योग्यता नौकरशाही की ही मान्यता है।

इस प्रकार की नौकरशाही की दो विशेषताएं हैं–

1. व्यक्ति की नियुक्ति का एकमात्र उद्देश्य लोक सेवा होता है।
2. वे सरकार द्वारा निश्चित किए गए उत्तरदायित्वों का कुशलतापूर्वक निर्वहन कर सकें।

4.5.3 राजनेताओं और नौकरशाही में संबंध : मैक्स वेबर के विचार

वेबर के सिद्धांतों से ये साफ पता चलता है कि वेबर इस बात से अवगत थे कि नौकरशाही में खुद में शक्ति अर्जित करने की प्रवृत्ति होती है। ऐसे में नौकरशाही को निरंकुश होने से रोकने के लिए उन्होंने उसकी कुछ सीमाएं भी तय की थीं। ये सीमाएं

ही दरअसल राजनेताओं को शक्ति देती हैं। इस कारण राजनेताओं और नौकरशाही में एक सह–संबंध स्थापित हो पाता है। नौकरशाह राजनेताओं पर अंकुश रखते हैं और राजनेता नौकरशाही को निरंकुश होने से रोकते हैं। इसके कुछ कारण इस प्रकार हैं–

टिप्पणी

1. **सहशासन** (Collegiality)– एकतंत्री प्रशासन नौकरशाही को शक्तिशाली बनाता है। इसमें अधिकारों के क्रियान्वयन का दायित्व एक ही व्यक्ति के पास सिमट जाता है। इसे रोकने के लिए वेबर ने सहशासन का सिद्धांत दिया। परंतु इससे निर्णय की गति प्रभावित होती है और क्रियान्वयन में भी विलंब होता है। राजनेताओं की उपस्थिति कई बार कार्य की गति को धीमा कर देती है।
2. **शक्तियों का विभाजन** (Separation of Power)– इस व्यवस्था का आधार भी एक ही व्यक्ति या निकाय को शक्तिशाली बनाने से रोकना है। इसमें अधिकारियों और कर्तव्यों का कार्य विभाजन करके विभिन्न स्तरों में शक्तियों का पृथक्कीकरण कर दिया जाता है।
3. **अव्यवसायी प्रशासन** (Amateur Administration)– ये मान्यता है कि व्यवसायी प्रशासन ज्यादा शक्तिशाली होता है। इसलिए वेबर ने कुछ कार्यों के लिए अव्यवसायी प्रशासन को शामिल करने का सुझाव दिया।
4. **प्रत्यक्ष लोकतंत्र** (Direct Democracy)– नौकरशाही की शक्ति पर लगाम लगाने के लिए वेबर ने प्रत्यक्ष लोकतंत्र का भी सुझाव दिया। यहां अधिकारी संवैधानिक निकायों से निर्देशित और उनके प्रति उत्तरदायी थे।
5. **प्रतिनिधित्व** (Representative)– नौकरशाही की सीमाएं निश्चित करने के लिए निर्वाचित प्रतिनिधियों के साथ नौकरशाही के अधिकार शेयर करने की व्यवस्था की गई। इससे जन प्रतिनिधियों के नौकरशाहीकरण की संभावना तो बनती है, परंतु वेबर की राय में इससे नौकरशाही की शक्तियों को नियंत्रित करना संभव हो पाएगा।

मैक्स वेबर की नौकरशाही की आलोचना

मैक्स वेबर के सिद्धांतों की आलोचना कई स्तरों पर हुई है। यह आलोचना उसकी युक्तता की अवधारणा, प्रशासनिक दक्षता और बदलती हुई परिस्थितियों में नौकरशाही की प्रासंगिकता के पहलू पर हुई है।

1. नौकरशाही में औपचारिकता पर बल दिया गया है। इसमें व्यक्ति की आत्म निर्णय की शक्ति कम होती है और वो आदेश मानने की एक मशीन बन कर रह जाता है।
2. अनावश्यक और लम्बी कागजी प्रक्रियाएं लालफीताशाही को जन्म देती हैं। कई बार निर्णय तब प्रभावी होते हैं जब उनका मूल निहितार्थ ही बदल जाता है।
3. नौकरशाही मूलतः लोक सेवा के लिए होती है। परंतु कई बार ये जन साधारण की मांगों की ही उपेक्षा करने लगती है। जनसाधारण परिवर्तन का पक्षधर होता है जबकि नौकरशाही परिवर्तन की विरोधी होने के कारण परंपरावादी होती है।
4. नौकरशाही में अपने कार्य के लिए अनुत्तरादयित्व की भावना पाई जाती है। इसका कारण यह है कि कार्य की सफलता के पश्चात् उसका श्रेय राजनीतिक कार्यपालिका को चला जाता है।

5. नौकरशाही समाज में एक शक्ति पसंद और निरंकुश वर्ग को बढ़ावा देने की प्रवृत्ति को जन्म देती है।
6. नौकरशाही अमानवीय मानी जाती है क्योंकि इसमें मानवीय भावनाओं के लिए कोई स्थान नहीं होता है।

टिप्पणी

मैक्स वेबर की नौकरशाही की प्रासंगिकता

यूं तो मैक्स वेबर के सिद्धांतों की कई स्तरों पर आलोचना हुई है लेकिन उसके बावजूद मैक्स वेबर के विचार ही आधुनिक समाज के लिए सबसे प्रासंगिक माने जाते हैं। वेबर की नौकरशाही का कोई दूसरा वैकल्पिक मॉडल तैयार नहीं हो सका है। ऐसे में वेबर का ये कथन सही प्रतीत होता है जो उन्होंने कहा था कि जब हम नौकरशाही के अभ्यस्त हो जाते हैं तो किसी दूसरे विकल्प पर विचार नहीं कर सकते। ये विशाल संगठन के संचालन के लिए सबसे अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। योग्यता के आधार पर अधिकारियों का चयन, प्रशासन में लिखित दस्तावेजों की उपयोगिता, पद सोपान की व्यवस्था जैसे कारणों की वजह से वेबर के नौकरशाही सिद्धांत ही आधुनिक समाज में विभिन्न प्रशासन में दिखाई पड़ते हैं। हम नौकरशाही की कमियों में सुधार लाने की दिशा में प्रयत्न कर सकते हैं, परंतु उसे पूरी तरह बदल देने की वैकल्पिक व्यवस्था को अमल में लाने की नहीं सोच सकते। उदारीकरण और निजीकरण के वर्तमान संदर्भ में भी राज्य के कार्यों के निष्पादन के लिए नौकरशाही की आवश्यकता प्रासंगिक ही मालूम पड़ती है। सभी कल्याण और विकास कार्यों के लिए नौकरशाही की उपयोगिता अत्यधिक है। स्वयंसेवी संगठन या दूसरे किसी प्रकार के संगठन नौकरशाही के पूरक तो हो सकते हैं लेकिन उसका स्थान नहीं ले सकते। ऐसे में नौकरशाही के वेबेरियन मॉडल की प्रासंगिकता बनी हुई है।

4.5.4 प्रस्थिति, वर्ग एवं शक्ति की अवधारणाएं

सामाजिक वर्ग की अवधारणा को समझने के लिए मैक्स वेबर की अवधारणा बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखती है। कार्ल मार्क्स ने समाज में वर्ग के निर्धारण में केवल आर्थिक कारक की भूमिका मानी थी। वहीं वेबर ने वर्ग के निर्धारण में त्रिस्तरीय संपत्ति, सत्ता और प्रस्थिति की भूमिका पर जोर दिया है।

वेबर अपने सामाजिक वर्ग के निर्धारण में आर्थिक और सामाजिक कारणों के अंतर्संबंधों को प्रमुख मानते हैं। वेबर के अनुसार सामाजिक वर्ग, सामाजिक व्यवस्था का ही अंग हैं।

सामाजिक व्यवस्था (Social Order)– मैक्स वेबर की सामाजिक व्यवस्था शक्ति पर आधारित है। वेबर के अनुसार जिस व्यक्ति या वर्ग के पास समाज में शक्ति है वो दूसरे व्यक्तियों या दूसरे वर्गों के विरोध के बावजूद अपने लक्ष्यों की पूर्ति कर लेता है। वेबर ने आर्थिक शक्ति और साधारण शक्ति में भी विभेद किया है। वेबर के अनुसार आर्थिक शक्ति सामाजिक प्रतिष्ठा भी प्रदान करती है। धन का महत्व सिर्फ इसलिए नहीं क्योंकि वह भौतिक साधनों की पूर्ति का माध्यम है, धन का महत्व इसलिए भी है कि वह समाज में सम्मान प्रदान करता है जो शक्ति का परिचायक है। यह सामाजिक प्रतिष्ठा, सामाजिक व्यवस्था को निर्धारित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। मैक्स वेबर ने

कहा है– "जिस ढंग से सामाजिक प्रतिष्ठा किसी समुदाय के विशिष्ट समूहों में बंटी होती है, उसी को हम सामाजिक व्यवस्था कहते हैं।"

टिप्पणी

सामाजिक वर्ग (Social Class)– मैक्स वेबर के अनुसार– "हम एक समूह को तब वर्ग कह सकते हैं जबकि उस समूह के लोगों को जीवन के कुछ विशिष्ट अवसर समान रूप से प्राप्त हों, यहां तक कि वह समूह वस्तुओं पर अधिकार या आमदनी की सुविधाओं से संबंधित आर्थिक हितों द्वारा पूर्णतया निर्धारित तथा वस्तुओं या श्रमिक–बाजारों की अवस्थाओं के अनुरूप हो।"

यानी मैक्स वेबर के अनुसार किसी वर्ग में प्राय सभी सदस्यों को एक सी आर्थिक सुविधाएं तथा अवसर प्राप्त होता है। इसके साथ ही वर्ग पूरी तरह आर्थिक हितों पर आधारित होता है। किसी वर्ग के सदस्यों को वस्तुओं पर अधिकार और आमदनी के भी एक से अवसर मिलते हैं। परंतु ये अवसर या सुविधाएं वस्तुओं तथा श्रमिकों के बाजार भाव के अनुसार बदलती रहती हैं।

वेबर के अनुसार संपत्ति का होना और संपत्ति का न होना ही किसी वर्ग के निर्धारण का सबसे बड़ा आधार है। जिसके पास धन है वो अधिक वस्तुओं पर अधिकार हासिल कर सकता है। धन से वह उत्पादन के साधनों को नियंत्रित कर सकता है। वहीं जिसके पास धन नहीं है वो सिर्फ अपनी सेवाओं या श्रम को बेच सकता है। वर्ग निर्धारण का यही आधार है। एक वर्ग के पास संपत्ति का होना या न होना एक खास परिस्थिति को निर्धारित करता है। वेबर ने इसे ही वर्ग परिस्थिति कहा।

वर्गों का वर्गीकरण– जैसे कि पहले ही हम लोग देख चुके हैं कि वर्ग का निर्धारण मुख्यतः दो प्रकार से किया गया है– पहला, वह वर्ग जो संपत्ति का अधिकारी है। वहीं दूसरा, संपत्तिविहीन वर्ग होता है। परंतु इसके आगे भी वेबर वर्गों का विभाजन करते हैं। जैसे संपत्ति के अधिकारी वर्ग में वो संपत्ति के प्रकार के आधार पर विभाजन करते हैं। मसलन, एक वर्ग का मिलों पर अधिकार है तो वह मिल मालिक वर्ग कहलाएगा। उसी प्रकार, संपत्तिविहीन वर्ग में अगर कोई वर्ग दफ्तर में कार्यालयीय कार्य करता है तो उसे लिपिक वर्ग कहा जाएगा।

वर्ग हित (Class Interest)

वेबर के अनुसार वर्ग हित की अवधारणा स्पष्ट नहीं है। वर्ग हित से मतलब तो इतना ही लगता है कि किसी खास परिस्थिति में अपने हितों की पूर्ति के लिए उस वर्ग के सभी सदस्य एक खास दिशा में ही निर्देशित होते हैं। परंतु इसकी अस्पष्टता का सबसे बड़ा कारण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने हितों की पूर्ति के लिए अपनी क्षमता एवं योग्यता से अपना दिशा निर्धारण करता है। दूसरा ये भी होता है कि हितों की दिशा अपने समूह से रखने वाली आशाओं के आधार पर परिवर्तित होती रहती है। इसे ऐसे समझा जा सकता है कि मान लीजिए कि कोई व्यक्ति किसी संघ का सदस्य है परंतु वह अपने हितों की पूर्ति की आशा अपने समूह से न कर खुद प्रयत्न करता है जो उसकी क्षमता में होता है।

शक्ति की अवधारणा (Concept Of Power)

आमतौर पर शक्ति का अर्थ नियंत्रण करने की क्षमता से निकाला जाता है परंतु समाजशास्त्रियों ने शक्ति का अर्थ एक व्यक्ति या समूह की अपनी इच्छा पूरी करने और अपने निर्णयों को कार्यान्वित करने के सामर्थ्य के रूप में देखा है।

टिप्पणी

शक्ति के स्रोत : वेबर ने शक्ति के दो परस्पर विरोधी स्रोतों का उल्लेख किया है। उनके अनुसार शक्ति के प्रकार निम्न हैं–

(1) पहली वो शक्ति है जो धन–अर्थव्यवस्था में परस्पर हितों के मेल से प्राप्त होती है। उदाहरण के लिए एक खास समूह अपने उत्पादन के एकाधिकार के लिए मिलकर काम करें और पूरे बाजार की प्रणाली पर नियंत्रण प्राप्त कर मूल्य को अपने अनुसार निर्धारित करे। इस तरह वो अधिकाधिक लाभ लेने की स्थिति में रहता है।

(2) दूसरी शक्ति सत्ता की प्रणाली से प्राप्त होती है जहां आदेश देने का और उस आदेश का पालन करने का अधिकार प्राप्त होता है। जैसे किसी अधिकारी के आदेश का पालन उसके मातहत को उसकी इच्छा के विपरीत भी करना पड़ता है।

शक्ति की अवधारणा में एक खास बात यह है कि हमें उसकी वैधता का निर्धारण करना होता है। वेबर के अनुसार शक्ति की वैधता ही सत्ता का मूल पक्ष है।

4.5.5 समाजशास्त्र की पद्धति में योगदान : सामाजिक तथ्यों में निहित अर्थ एवं उनकी व्याख्यात्मक प्रकृति

वेबर ने सामाजिक क्रिया को ही समाजशास्त्र का केन्द्र बिन्दु कहा है। इनके गहन अवलोकन, विश्लेषण और फिर इनके परिणामों के कारण की व्याख्या की वजह से ही वेबर ने समाजशास्त्र को विज्ञान माना है।

आधुनिक समाज की जटिलता का एक कारण जटिल सामाजिक क्रियाओं को भी माना जाता है। इसी कारण से आधुनिक समाज की जटिलताओं को समझने के लिए सामाजिक क्रियाओं की व्याख्या की जरूरत पड़ती है। आधुनिक समय में सामाजिक क्रियाओं को आधार मानकर ही सामाजिक जीवन और परिस्थितियों को समझने का प्रयास किया जाता है।

इस प्रकार वेबर ने सामाजिक क्रियाओं में निहित अर्थ को ही प्रमुखता दी है। वेबर के अनुसार ये अर्थ ही उस सामाजिक क्रिया को एक विशिष्ट प्रकृति प्रदान करते हैं। इस प्रकार वेबर ने समाजशास्त्र की पद्धति में इसे व्याख्यात्मक विज्ञान के रूप में निरूपित किया है।

4.5.6 एक व्याख्यात्मक विज्ञान के रूप में समाजशास्त्र

मैक्स वेबर की समाजशास्त्र को सबसे बड़ी देन यह थी कि उन्होंने समाजशास्त्र के अध्ययन को एक वैज्ञानिक पद्धति से जोड़ा। सामाजिक घटनाओं को समझने के पद्धतिशास्त्र में उन्होंने वैज्ञानिक पद्धति तथा मूल्यांकनात्मक निर्णय पद्धति के अंतर को ज्ञात किया। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि दोनों तरीके अलग हैं और सामाजिक घटनाओं के विश्लेषण में वैज्ञानिक पद्धति का भी महत्व है। इस तरह उन्होंने ही समाजशास्त्र को एक विज्ञान की तरह देखा और इसके महत्व को स्थापित किया।

दरअसल मैक्स वेबर के समय यह मान्यता दृढ़ थी कि प्राकृतिक विज्ञान को समझने के लिए जिन वैज्ञानिक पद्धतियों को इस्तेमाल किया जाता है उनका प्रयोग सामाजिक घटनाओं के अध्ययन में नहीं किया जा सकता। इसका अर्थ यह था कि

लोग मानते थे कि सामाजिक घटनाओं की प्रकृति ऐसी है कि उनका विवरण मात्र ही प्रस्तुत किया जा सकता है।

मैक्स वेबर ने समाजशास्त्र की अध्ययन वस्तु सामाजिक क्रिया को तो माना लेकिन इसे केवल सामाजिक क्रिया के अध्ययन तक सीमित रखने से इंकार कर दिया। ये अवश्य है कि सामाजिक क्रियाएं समाजशास्त्र का केन्द्रीय अध्ययन विषय है जोकि समाजशास्त्र को एक यथार्थवादी विज्ञान के स्तर तक पहुंचाने में सहायक सिद्ध होती हैं।

टिप्पणी

4.5.7 वेर्स्टेन और आदर्श प्रारूप की अवधारणा

वेर्स्टेन एक जर्मन शब्द है जिसका शाब्दिक अर्थ 'समझ' होता है। इसके अर्थ का विस्तार किसी मानवीय व्यवहार या सामाजिक क्रिया को समझने में है। मानवीय व्यवहार और सामाजिक क्रिया को समझने के लिए संवेदनशीलता और सह–अनुभूति की आवश्यकता होती है। वेबर ने सामाजिक क्रिया को मानवीय संवेदनशीलता से जोड़ कर देखा है।

मैक्स वेबर इस बात पर जोर देते हैं कि समाजशास्त्र सामाजिक क्रिया के साघारण बोध से संतुष्ट नहीं होता है। इसके अर्थपूर्ण बोध का भी महत्व है। इसे कुछ यूं समझें कि किसी सामाजिक घटना के दो अर्थ हो सकते हैं। पहला औसत अर्थ होता है जो समाज के अधिकांश लोग उसका अर्थ लगाते हैं। लेकिन उसी घटना का एक यथार्थ अर्थ भी होता है जो परिस्थिति की जानकारी और तर्क के आधार पर लगाया जाता है। मैक्स वेबर के अनुसार समाजशास्त्रियों को किसी भी घटना के यथार्थ अर्थ को ही खोजने का प्रयत्न करना चाहिए। यहां वेबर द्वारा प्रतिपादित समाजशास्त्र को अर्थपूर्ण इसलिए माना जाना चाहिए क्योंकि इसका संबंध अर्थपूर्ण सामाजिक क्रियाओं से है। साथ ही, इसकी पद्धति का उद्देश्य सामाजिक क्रिया की व्याख्या पूर्णतया तार्किक आधार पर करना है। इन दो आधारभूत विशेषताओं के कारण ही समाजशास्त्रीय नियमों को वैज्ञानिक माना जाता है।

वेबर ने अपने विश्लेषण से यह स्पष्ट किया है कि हर सामाजिक क्रिया के दो पहलू होते हैं– पहला, उसका उद्देश्य और दूसरा उसका अर्थ। इन दोनों पहलुओं के विद्यमान रहने पर ही कोई सामाजिक क्रिया पूर्ण मानी जा सकती है। समाजशास्त्र सामाजिक क्रियाओं का उनके अर्थ के आधार पर अध्ययन करता है। इनके अर्थ को उस रूप में देखा जाता है जिस रूप में वे सामाजिक क्रियाएं दूसरों की क्रियाओं से प्रभावित होती हैं। इसी नजरिए से समाजशास्त्र को अन्य प्राकृतिक विज्ञान से अलग किया जा सकता है। प्राकृतिक विज्ञान घटनाओं के अर्थ और उनके उद्देश्य पर विचार नहीं करता। इसका कारण यह है कि प्राकृतिक घटनाएं प्रकृति में अपने आप घटित होती हैं। परंतु सामाजिक क्रियाएं व्यक्ति की आपस में की गई क्रियाओं का परिणाम होती हैं। इसीलिए समाजशास्त्र सामाजिक क्रिया के उद्देश्य और अर्थ दोनों पर केन्द्रित होता है।

वेबर के अनुसार समाजशास्त्र की पद्धति उद्देश्य के कारण और अर्थ के बोध के बीच एक सामंजस्य बिठाने में सफल हुई है। समाजशास्त्र को तथ्यों का अर्थहीन वर्णन मात्र बनाने से रोकने का यही तरीका है। इसका मुख्य उद्देश्य सामाजिक घटनाओं के कारण का पता लगाने में है। परंतु जब तक सामाजिक क्रियाओं का अर्थपूर्ण बोध न हो उसके उद्देश्य का पता लगाना संभव नहीं। साथ ही ये भी वास्तविकता है कि सामाजिक क्रिया, प्राकृतिक घटनाओं की तरह खुद नहीं घटती। ये व्यक्ति के व्यवहारों

टिप्पणी

और क्रियाओं से निर्धारित होती है। इस तरह वेबर के अनुसार सामाजिक क्रिया व्यक्ति के द्वारा की गई वैसी क्रिया है जो अन्य व्यक्तियों की क्रियाओं से प्रभावित व निर्धारित होती है तथा उस क्रिया का अर्थपूर्ण बोध करना और उस बोध के आधार पर सामाजिक कारणों की खोज करना ही समाजशास्त्रीय पद्धति का मुख्य लक्ष्य होता है।

इसी आधार पर मैक्स वेबर ने समाजशास्त्रीय नियमों और प्राकृतिक विज्ञान के नियमों में अंतर की व्याख्या की है। प्राकृतिक विज्ञान में नए नियमों की खोज की जाती है। जबकि समाजशास्त्र के नियमों का उद्देश्य सामाजिक व्यवहार के कारणों को स्पष्ट करना है। इसी के तहत ऐतिहासिक घटनाओं के अंतःसंबंधों की कारण सहित खोज की जाती है।

समाजशास्त्र को विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए मैक्स वेबर सदैव प्रयत्नशील रहे। इसी आधार पर वेबर ने समाजशास्त्र की प्रतिष्ठा की। उन्होंने ये बताने का प्रयास किया कि किस प्रकार एक सामाजिक घटना केवल एक ही परिणाम देगी, दूसरे परिणाम नहीं। साथ ही ये कि किस प्रकार एक अवस्था में घटित होने वाली घटना सदैव ही एक निश्चित परिणाम उत्पन्न करेगी। इस प्रकार हम घटनाओं के आधार पर उसके परिणाम का पता लगाने का प्रयास कर सकते हैं। इस प्रकार विश्लेषणात्मक तथा अर्थपूर्ण अध्ययन तभी संभव है जब वे मानवीय संस्कृति की विकासात्मक प्रक्रिया में व्यक्त होने वाली सामाजिक शक्तियों के संपूर्ण ज्ञान पर आधारित हों।

आदर्श प्रारूप की धारणा (Concept of Ideal Type)– जिस वक्त मैक्स वेबर सामाजिक घटनाओं को एक वैज्ञानिक तरीके से परखने की पद्धति विकसित कर रहे थे, उस वक्त दूसरे कई विद्वान समाजशास्त्र को सिर्फ घटनाओं का विवरण मात्र मानते थे। अपनी बात सिद्ध करने वाले विद्वानों का एक कट्टर समूह था जो ये मानने को तैयार ही नहीं था कि सामाजिक घटनाओं पर प्राकृतिक विज्ञान की पद्धति से विचार किया जा सकता है। परंतु वेबर इस बात पर बल देते थे कि समाजशास्त्र का अध्ययन भी वैज्ञानिक विधि से किया जा सकता है।

वेबर ने अपने विचारों के संबंध में तर्क दिया कि सामाजिक घटनाओं के कार्य और कारण के संबंध को स्पष्ट करने के लिए आवश्यक है कि उन घटनाओं को पहले समानताओं के आधार पर कुछ सैद्धांतिक श्रेणियों में बांटा जाए। ऐसा करने से एक आदर्श प्रारूप प्राप्त हो जाएगा। उस आदर्श प्रारूप के आधार पर सामाजिक घटनाओं के कार्य और कारण संबंध को परखा जा सकता है। इसी विश्लेषण के दौरान वेबर ने अपने प्रसिद्ध आदर्श प्रारूप के सिद्धांत को विकसित किया। वेबर का आदर्श प्रारूप वास्तविक एवं यथार्थवादी है। वेबर ने इस बात पर बल दिया कि समाजशास्त्रियों को अपनी उपकल्पना का निर्माण करने के लिए आदर्श अवधारणाओं का चुनाव करना चाहिए। उन्होंने आदर्श प्रारूप की विशेषता बताते हुए कहा कि इसका अर्थ तथ्यों के तर्कसंगत आधार पर यथार्थ अवधारणाओं का निर्माण करना है। वेबर ने कहा कि इसका संबंध किसी भी प्रकार के मूल्यांकन से नहीं है। विश्लेषणात्मक प्रयोजन के लिए कोई भी वैज्ञानिक किसी भी तथ्य या घटना के आदर्श प्रारूप का निर्माण कर सकता है। यह आदर्श प्रारूप किसी महान आदर्श के समरूप नहीं है। यह समानता के आधार पर तर्कसंगत ढंग से वास्तविकता और यथार्थ का समावेश है। इस प्रकार के चुनाव से जिस प्रारूप का निर्माण होता है उसे ही आदर्श प्रारूप कहा गया है। आदर्श प्रारूप तैयार

टिप्पणी

करने के लिए समाजशास्त्री पूरे ढांचे से कुछ विशेषताओं का चुनाव करता है। उदाहरण के लिए अगर हम भारत में लोकतंत्र का अध्ययन करना चाहें तो पहले लोकतंत्र के एक आदर्श प्रारूप का निर्माण करना होगा। पहले हम लोकतंत्र की अवधारणा के कुछ अनिवार्य और अपरिहार्य तत्वों का समावेश करेंगे। लोकतंत्र की कुछ अनिवार्य विशेषताओं का चुनाव करने के बाद हमारे आदर्श प्रारूप का निर्माण होगा। यही प्रारूप विश्लेषण की दिशा का निर्धारण करेगा। भारत में लोकतंत्र की विशेषताओं का इस प्रारूप के अनुसार होना या नहीं होना ही यथार्थ का एक सही चित्र प्रस्तुत करेगा।

आदर्श प्रारूप की विशेषताएं निम्न हैं–

आदर्श प्रारूप की विशेषताएं

1. आदर्श प्रारूप सामान्य या औसत प्रारूप नहीं है। ये ऐसे विशिष्ट गुणों पर आधारित है जो आदर्श प्रारूप की अवधारणा विकसित करने के लिए अनिवार्य है।
2. ये यथार्थ के करीब जरूर हैं लेकिन ये पूर्ण यथार्थ की अभिव्यक्ति नहीं हैं। ये सभी बातों की व्याख्या भी नहीं करते।
3. आदर्श प्रारूप यथार्थ की निश्चित अवधारणा की व्याख्या नहीं करते। ये बस यथार्थ की व्याख्या और विवरण में सहायक होते हैं।
4. ये सामान्य निष्कर्षों तक पहुंचने और तुलनात्मक विश्लेषण में सहायक हैं।
5. आदर्श प्रारूप ऐतिहासिक और सामाजिक यथार्थ के आंकड़ों को क्रमबद्ध करने में उपयोगी होते हैं।

आदर्श प्रारूप की धारणा विकसित करने में मैक्स वेबर ने कोई नवीन तथ्य प्रस्तुत करने का दावा नहीं किया। उन्होंने पुराने तथ्यों को ही अन्य सामाजिक विज्ञानों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और यथार्थ रूप में प्रस्तुत करने की बात कही है।

अपनी प्रगति जांचिए

7. नौकरशाही (ब्यूरोक्रेसी) शब्द का पहली बार प्रयोग कब किया गया था?

   (क) 1640 (ख) 1645

   (ग) 1742 (घ) 1745

8. नौकरशाही के कितने प्रकार बताए गए हैं?

   (क) दो (ख) तीन

   (ग) चार (घ) पांच

4.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ख)
2. (ग)
3. (क)

टिप्पणी

4. (घ)
5. (ख)
6. (क)
7. (घ)
8. (ग)

4.7 सारांश

मैक्स वेबर का जन्म जर्मनी के एक सम्पन्न परिवार में हुआ था। वे जर्मनी के एरफर्ट, थरन्जिया (Erfurt, Thuringia) में 21 अप्रैल, 1864 को जन्मे थे। उनके पिता सेन्ट मैक्स वेबर एक प्रशिक्षित कानून–ज्ञाता थे। साथ ही वे स्थानीय राजनीति से भी जुड़े हुए थे। वे पालिका सलाहकार थे। कह सकते हैं कि सामाजिक परिस्थितियों से जुड़ने का गुण उन्हें अपने पिता से विरासत में मिला था। उनका परिवार रेशम व्यापार एवं वस्त्र निर्माण से भी जुड़ा हुआ था, इसलिए उनका बचपन समृद्धि में ही बीता।

मैक्स वेबर ने समाजशास्त्र को विकसित करने में बहुत योगदान दिया। उन्हें आधुनिक समाजशास्त्र के जन्मदाताओं में गिना जाता है। उनके लेखों ने इस विषय पर लोगों को नए तरीके से सोचने का नजरिया दिया। उन्होंने धर्म को एक सामाजिक संस्था के रूप में देखा और धर्म की प्रकृति, कार्यों और उसके परिणामों की गहन व्याख्या की है। उन्होंने सामाजिक परिवर्तनों का एक प्रमुख कारण धर्म को माना है और इसे आर्थिक कारणों से ज्यादा महत्ता दी है।

मैक्स वेबर ने अपने अध्ययन में ये साबित करने की कोशिश की कि प्रारंभिक अवस्था में पूंजीवाद का विकास केवल उन्हीं देशों में हुआ जिन देशों का समाज प्रोटेस्टेंट धर्म को मानता था। उनके विचार में प्रोटेस्टेंट धर्म जिन आर्थिक विचारों को जन्म देता है वे समाज की आर्थिक उन्नति को संभव बनाते हैं। वेबर के अनुसार पूंजीवाद का सर्वाधिक विकास इंग्लैंड, अमेरिका और हालैंड आदि उन देशों में हुआ जहां का समाज प्रोटेस्टेंट धर्म में आस्था रखता था। इसके विपरित इटली,स्पेन आदि देशों का समाज कैथोलिक धर्म का अनुयायी था जिस कारण वहां आर्थिक विकास की गति धीमी रही।

अपनी विवेचना में वेबर ने ये साबित करने का प्रयास किया है कि समस्त सामाजिक जीवन वास्तव में सामाजिक क्रियाओं का ही प्रतिबिंब है। सामाजिक क्रिया को और अधिक स्पष्ट करते हुए वेबर ने लिखा है कि हर क्रिया सामाजिक क्रिया के अंतर्गत नहीं आती है। जब क्रिया करने वाला कर्ता दूसरे की प्रतिक्रिया को सोचकर अपनी क्रिया बदल ले तो इसे ही सामाजिक प्रतिक्रिया कहा जाएगा।

मैक्स वेबर ने सामाजिक क्रियाओं को समझने और उनकी व्याख्या करने का प्रयास किया है। उसका मानना था कि व्यक्ति जो भी क्रियाएं करता है उनके पीछे कोई न कोई उद्देश्य छिपा होता है। मनुष्य की कई क्रियाएं स्पष्ट होती हैं। उन्हें समझने या उनकी व्याख्या करने की कोई आवश्यकता नहीं होती। लेकिन कई क्रियाएं होती हैं जिनका व्यवहार स्पष्ट नहीं होता। इसका सीधा सा संबंध मनुष्य के स्वभाव और चित्त से जोड़ कर देखा जा सकता है। मनुष्य का स्वभाव काफी जटिल होता है। इसके सूक्ष्म

और गहन निरीक्षण की आवश्यकता पड़ती है। कई बार क्रिया के उद्देश्य या प्रयोजन का पता लगाने के लिए गहन निरीक्षण की जरुरत पड़ती है।

टिप्पणी

समाज के अस्तित्व के लिए कुछ बुनियादी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति आवश्यक है। भोजन किसी भी स्थिति में अनिवार्य आवश्यकता है। इसके साथ ही आवास एवं वस्त्र भी एक सभ्य समाज में रहने के लिए आवश्यक हैं। इनकी पूर्ति पर ही समाज का अस्तित्व और व्यवहार निर्भर करता है। आर्थिकी का संबंध हमारे समाज की बनाई गई वस्तुओं तथा सेवाओं के उत्पादन, उपभोग तथा वितरण से संबंधित प्रबंधों से होता है।

नैतिकता का संबंध सामाजिक संरचना से है। नैतिकता का तात्पर्य है समाज के सदस्यों के लिए आचार–व्यवहार के कुछ ऐसे मानक स्थापित करना जो व्यक्ति के व्यवहार का मूल्यांकन करने या उन्हें जांचने के लिए सहायक हो। नैतिकता के माध्यम से ही समाज अपने सदस्यों को सही–गलत के मायने समझाता है। आसान शब्दों में कहें तो नैतिकता समाज के सदस्यों को 'क्या करना चाहिए' और 'क्या नहीं करना चाहिए' इसके दिशा–निर्देश उपलब्ध कराती है। नैतिकता से आमतौर पर हम धार्मिक नैतिकता को ही समझते हैं। लेकिन नैतिकता सिर्फ धर्म तक सीमित नहीं होती। व्यावसायिक नैतिकता, राजनीतिक नैतिकता या इसी प्रकार की अन्य सामाजिक नैतिकता के मानक हो सकते हैं।

वेबर ने पूंजीवाद को अलग तरीके से देखा है। उसके अनुसार पूंजीपति अधिक से अधिक पूंजी जुटाने की चाह रखते हैं। ये इच्छा सिर्फ भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति या विलासितापूर्ण जीवन के आवश्यक तत्व जुटाने से नहीं जुड़ी होती, बल्कि धन से और अधिक धन कमाने की चाह होती है। पूंजीवाद एक ऐसी आर्थिक प्रणाली है जिसका लक्ष्य उत्पादन के तर्कपूर्ण संगठन के माध्यम से असीमित लाभ संचित करना होता है।

वेबर ने अपने अध्ययन में पाया कि पश्चिम में इन प्रोटेस्टेंट अनुयायियों ने ही सबसे ज्यादा तरक्की की। वे उच्च नौकरशाह, अग्रणी उद्योगपति और कुशल कामगार बने। वेबर का विचार था उनके धर्म में दिए विचारों से ही ये मतानुयायी इतनी आर्थिक प्रगति कर पाए। वेबर ने इस विचार को ही सिद्ध करने का प्रयास किया है। इस प्रकार वेबर का पूंजीवाद, कल्विनवाद से प्रभावित है। इसके बारे में और गहराई से देखने पर वेबर ने पाया कि धर्म और अर्थव्यवस्था का घनिष्ठ संबंध है।

समाजशास्त्रीय चिन्तन में वेबर द्वारा प्रतिपादित सत्ता की अवधारणा का महत्वपूर्ण स्थान है। वेबर ने अपनी मौलिक सोच की वजह से इस क्षेत्र को सोचने की नई दिशा प्रदान की है। उनकी अवधारणा मौलिक है। वेबर ने समाज में सत्ता को भी आर्थिक आधार से जोड़ कर देखा है। वेबर के अनुसार– "समाज में सत्ता विशेष रूप से आर्थिक आधारों पर आधारित होती है, हालांकि आर्थिक सत्ता के निर्धारण में एकमात्र कारक नहीं कहे जा सकते।"

सत्ता के लिए वेबर ने जर्मन में 'हैरशाफ्ट' (Harrschaft) शब्द का प्रयोग किया है। इसका अनुवाद विद्वानों ने अलग–अलग रूप में किया है। कुछ समाजशास्त्रियों ने इसे 'सत्ता' (authority) कहा। कुछ ने इसे 'प्रभुत्व' (dominance) कहा। वहीं कुछ ने इसका अनुवाद 'आदेश' (command) किया है। जर्मन शब्द 'हैरशाफ्ट' का शाब्दिक

टिप्पणी

अर्थ है ऐसी स्थिति जिसमें 'हैर' (harr) अथवा स्वामी अन्यों पर प्रभुत्व जमाता है अथवा हुक्म चलाता है। विद्वान रेमो आरो ने इस शब्द की परिभाषा देते हुए कहा है कि स्वामी की वह क्षमता जिसमें वह उन लोगों से आज्ञापालन कराता है जो सैद्धांतिक रूप से उसके प्रति आज्ञाकारी हैं।

वेबर के अनुसार सत्ता का प्रयोग तब तक किया जा सकता है जब तक वह विधिसम्मत है। उसने सत्ता को वैधता के स्रोतों के आधार पर तीन प्रकारों में विभाजित किया है। इनमें से प्रत्येक के अनुरूप नियम हैं, जो आदेश देने की शक्ति को औचित्य प्रदान करते हैं। इस प्रकार सत्ता के विभिन्न प्रकार शासन करने के विभिन्न तरीके प्रदर्शित करते हैं। साथ ही ये उत्तराधिकारिता के प्रकार भी दर्शाते हैं अर्थात् सत्ता किस तरीके से परिवर्तन को स्वीकार करेगी।

मैक्स वेबर पहले चिन्तक थे जिन्होंने नौकरशाही का एक प्रणालीबद्ध तरीके से अध्ययन किया। इसीलिए प्रशासन के क्लासिक दृष्टिकोण में नौकरशाही के वेबेरियन मॉडल का प्रमुख स्थान है। वेबर ने सिर्फ नौकरशाही की उत्पत्ति और उसके कार्यों का ही विश्लेषण नहीं किया, बल्कि उन्होंने पूरी प्रशासनिक व्यवस्था का क्रमबद्ध अध्ययन प्रस्तुत किया। उनके अध्ययन ने नौकरशाही को समझने के लिए एक सैद्धांतिक ढांचा और आधार दिया है।

नौकरशाही का सिद्धांत प्रशासनिक व्यवस्था का वैज्ञानिक तरीके से अध्ययन करता है। दरअसल समाज को संचालित करने के लिए एक प्रशासनिक व्यवस्था की आवश्यकता होती है। औद्योगिक क्रांति होने के पश्चात पूंजीवाद का प्रभाव बढ़ा और ऐसे में एक जटिल प्रशासनिक ढांचे की जरूरत पड़ी। प्रशासनिक व्यवस्था सुचारु रूप से चलाने के लिए कर्मचारियों और अधिकारियों की भूमिका निश्चित की जाती है। ये व्यवस्था सुचारु रूप से चले इसके लिए कर्मचारियों में विशेष योग्यता, निष्पक्षता और तटस्थता जैसे गुण जरूरी हैं। नौकरशाही के सिद्धांत ने संगठन के सिद्धांत में परिवर्तन किया। संगठन को पहले से अधिक दक्ष और व्यवस्थित बनाने पर जोर दिया गया। वेबर ने इस पूंजीवादी व्यवस्था में बदलते समाज के बदलते प्रशासनिक ढांचे को समझा और नौकरशाही का वैज्ञानिक आधार दिया।

यूं तो मैक्स वेबर के सिद्धांतों की कई स्तरों पर आलोचना हुई है लेकिन उसके बावजूद मैक्स वेबर के विचार ही आधुनिक समाज के लिए सबसे प्रासंगिक माने जाते हैं। वेबर की नौकरशाही का कोई दूसरा वैकल्पिक मॉडल तैयार नहीं हो सका है। ऐसे में वेबर का ये कथन सही प्रतीत होता है जो उन्होंने कहा था कि जब हम नौकरशाही के अभ्यस्त हो जाते हैं तो किसी दूसरे विकल्प पर विचार नहीं कर सकते। ये विशाल संगठन के संचालन के लिए सबसे अधिक उपयुक्त जान पड़ता है।

सामाजिक वर्ग की अवधारणा को समझने के लिए मैक्स वेबर की अवधारणा बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखती है। कार्ल मार्क्स ने समाज में वर्ग के निर्धारण में केवल आर्थिक कारक की भूमिका मानी थी। वहीं वेबर ने वर्ग के निर्धारण में त्रिस्तरीय संपत्ति, सत्ता और प्रस्थिति की भूमिका पर जोर दिया है।

वेबर अपने सामाजिक वर्ग के निर्धारण में आर्थिक और सामाजिक कारणों के अंतर्संबंधों को प्रमुख मानते हैं। वेबर के अनुसार सामाजिक वर्ग, सामाजिक व्यवस्था का ही अंग हैं।

टिप्पणी

आधुनिक समाज की जटिलता का एक कारण जटिल सामाजिक क्रियाओं को भी माना जाता है। इसी कारण से आधुनिक समाज की जटिलताओं को समझने के लिए सामाजिक क्रियाओं की व्याख्या की जरूरत पड़ती है। आधुनिक समय में सामाजिक क्रियाओं को आधार मानकर ही सामाजिक जीवन और परिस्थितियों को समझने का प्रयास किया जाता है।

मैक्स वेबर इस बात पर जोर देते हैं कि समाजशास्त्र सामाजिक क्रिया के साधारण बोध से संतुष्ट नहीं होता है। इसके अर्थपूर्ण बोध का भी महत्व है। इसे कुछ यूं समझें कि किसी सामाजिक घटना के दो अर्थ हो सकते हैं। पहला औसत अर्थ होता है जो समाज के अधिकांश लोग उसका अर्थ लगाते हैं। लेकिन उसी घटना का एक यथार्थ अर्थ भी होता है जो परिस्थिति की जानकारी और तर्क के आधार पर लगाया जाता है। मैक्स वेबर के अनुसार समाजशास्त्रियों को किसी भी घटना के यथार्थ अर्थ को ही खोजने का प्रयत्न करना चाहिए। यहां वेबर द्वारा प्रतिपादित समाजशास्त्र को अर्थपूर्ण इसलिए माना जाना चाहिए क्योंकि इसका संबंध अर्थपूर्ण सामाजिक क्रियाओं से है। साथ ही, इसकी पद्धति का उद्देश्य सामाजिक क्रिया की व्याख्या पूर्णतया तार्किक आधार पर करना है। इन दो आधारभूत विशेषताओं के कारण ही समाजशास्त्रीय नियमों को वैज्ञानिक माना जाता है।

जिस वक्त मैक्स वेबर सामाजिक घटनाओं को एक वैज्ञानिक तरीके से परखने की पद्धति विकसित कर रहे थे, उस वक्त दूसरे कई विद्वान समाजशास्त्र को सिर्फ घटनाओं का विवरण मात्र मानते थे। अपनी बात सिद्ध करने वाले विद्वानों का एक कट्टर समूह था जो ये मानने को तैयार ही नहीं था कि सामाजिक घटनाओं पर प्राकृतिक विज्ञान की पद्धति से विचार किया जा सकता है। परंतु वेबर इस बात पर बल देते थे कि समाजशास्त्र का अध्ययन भी वैज्ञानिक विधि से किया जा सकता है।

4.8 मुख्य शब्दावली

- **वर्स्टेहन** : वर्स्टेहन जर्मन भाषा का शब्द है जिसका अभिप्राय व्यक्तिगत बोध से है। यह व्यक्तिगत बोध या अंतर्दृष्टि व्यक्ति सामाजिक क्रियाओं के संबंधों के ज्ञान से प्राप्त करता है। किसी तथ्य अथवा घटना को अंतर्दृष्टि से समझने के प्रयास को कुछ सीमा तक वर्स्टेहन कहा जा सकता है।
- **कल्विन धर्म** : ईसाई धर्म के प्रोटेस्टेंट धर्म की चार मुख्य धाराएं हैं– मैथाडिज्म, पाइटिज्म, बैप्टिज्म और कल्विनिज्म। कल्विन धर्म के तीन मुख्य सिद्धांत हैं– ब्रह्मांड ईश्वर के महान गौरव के प्रसार के लिए बनाया गया है, ईश्वर की सत्ता मानवीय समझ से परे है और कुछ चुने हुए लोगों को ही ईश्वरीय कृपा प्राप्त होगी।

4.9 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. मैक्स वेबर की प्रमुख रचनाओं का उल्लेख कीजिए।
2. वेबर के अनुसार समाजशास्त्र की परिभाषा क्या है? स्पष्ट कीजिए।

टिप्पणी

3. प्रोटेस्टेंटवाद से आप क्या समझते हैं? परिभाषित कीजिए।
4. नौकरशाही क्या है एवं इसके कितने प्रकार हैं? वर्णन कीजिए।
5. आदर्श प्रारूप की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. जिन व्यक्तियों और परिस्थितियों ने वेबर के विचारों को प्रभावित किया, उनका संक्षेप में वर्णन कीजिए।
2. वेबर के सामाजिक क्रिया सिद्धांत को स्पष्ट कीजिए।
3. वेबर के अनुसार पूंजीवाद का प्रमुख तत्व क्या है? वर्णन कीजिए।
4. मैक्स वेबर की वर्ग संबंधी त्रिस्तरीय व्याख्या प्रस्तुत कीजिए।
5. वेबर के अनुसार दी गई सत्ता की अवधारणा को विश्लेषित कीजिए।
6. नौकरशाही की अवधारणा को समझाइए।

4.10 सहायक पाठ्य सामग्री

1. गुप्ता एम एल तथा शर्मा डीडी, 'समाजशास्त्र', साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, 2010
2. शर्मा वीरेन्द्र प्रकाश, 'समाजशास्त्रीय चिन्तन के आधार', पंचशलील प्रकाशन, 2005
3. दुबे, एससी, 'इंडियन सोसाइटी', नेशनल बुक ट्रस्ट, 2010
4. अग्रवाल, जीके, 'समाजशास्त्र के सिद्धांत', साहित्य भवन आगरा, 2000
5. अब्राहम एवं मार्गन, 'सोशियोलॉजिकल थ्योरी'।
6. टी. बी. बोटामोर, 'सोशियोलॉजी'।
7. डॉ डी एस बघेल, 'महान समाजशास्त्रीय विचारक'।
8. शर्मा एवं गुप्ता, 'समकालीन समाजशास्त्रीय सिद्धांत', साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा, 2002
9. शर्मा एवं गुप्ता, 'समाजशास्त्र के सिद्धांत', साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा, 2007
10. विरेन्द्र प्रकाश शर्मा, 'समाजशास्त्र के सिद्धांत', पंचशील प्रकाशन, जयपुर, 2007
11. रवीन्द्र नाथ मुकर्जी, 'समाजशास्त्र का सैद्धांतिक परिपेक्ष्य', विवेक प्रकाशन, दिल्ली, 2007
12. ब्लैक, मैक्स 1961, 'द सोशल थ्योरीज ऑफ टॉलकॉट पारसंस : ए क्रिटिकल ऐक्जामिनेशन', प्रेंटिस हॉल, इंको : ईगलवुड क्लिप्स न्यूज
13. पारसंस, टॉलकॉट 1951, 'द सोशल सिस्टम द फ्री प्रेस', ग्लेनको इलिनॉय

इकाई 5 टेलकॉट पारसंस

टिप्पणी

संरचना

5.0 परिचय
5.1 उद्देश्य
5.2 टेलकॉट पारसंस का जीवनवृत्त और उनकी बौद्धिक पृष्ठभूमि
5.3 पारसंस का सामाजिक क्रिया सिद्धांत
  5.3.1 पारसंस का सामाजिक संरचना एवं प्रकार्य सिद्धांत
  5.3.2 प्रकार्यवाद और सामाजिक परिवर्तन
5.4 पारसंस की सामाजिक प्रणाली की अवधारणा
  5.4.1 सामाजिक प्रणाली के संदर्भ में क्रियात्मक ढांचा (दृष्टिकोण)
  5.4.2 सामाजिक प्रणाली का संगठन
  5.4.3 समाजीकरण की प्रक्रिया
  5.4.4 पारसंस की धर्म के प्रति विश्वास प्रणाली
  5.4.5 प्रकार्यात्मक पूर्वापेक्षाएं या एजिल मॉडल
  5.4.6 विन्यास प्रकारांतर या प्रतिमान चर
5.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
5.6 सारांश
5.7 मुख्य शब्दावली
5.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
5.9 सहायक पाठ्य सामग्री

5.0 परिचय

टेलकॉट पारसंस का नाम समाजशास्त्र के क्षेत्र में बहुत आदर और सम्मान से लिया जाता है। उन्होंने समाजशास्त्र की विभिन्न धारणाओं को मिलाकर एक नई अवधारणा दी। वे बीसवीं सदी के अमेरिका के सबसे प्रसिद्ध समाजशास्त्री थे। उन्होंने आधुनिक कार्यात्मक दृष्टिकोण बनाने के लिए नींव रखी और समाज के अध्ययन के लिए सामाजिक क्रिया सिद्धांत को और अधिक विकसित किया। टेलकॉट पारसंस को संरचनात्मक प्रकार्यात्मक सिद्धांत का सबसे प्रमुख सिद्धांतकार माना जाता है। पारसंस की रुचि समाज में व्यवस्था बनाए रखने में थी और उस समस्या को जानने और खोजने में थी कि वे कौन से तत्व हैं जो सामाजिक व्यवस्था को बांधे रखते हैं। पारसंस का मानना था कि समाज में व्यवस्था, स्थायित्व और सहयोग का आधार मूल्यों के प्रति समाज की चिन्ता है। यानी समाज में इस बात पर आम सहमति होती है कि समाज के लिए क्या अच्छा और क्या बुरा है। पारसंस का कहना था कि मूल्यों पर इस प्रकार की आम सहमति सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए आवश्यक है। इस तरह से मूल्यों पर आम सहमति होने से समाज के लिए संयुक्त लक्ष्य उत्पन्न होते हैं जो पूरे समाज के लक्ष्य होते हैं। जैसे भौतिकवाद जब पश्चिमी औद्योगिक समाज का प्रमुख मूल्य बनकर उभरा तो उसने आर्थिक विस्तार और उच्च जीवन स्तर जैसे सामूहिक लक्ष्य समाज के लिए उत्पन्न किए। समाजशास्त्र में एमिल दुर्खीम के बाद टेलकॉट पारसंस संरचना प्रकार्यवाद के सबसे प्रमुख नाम बनकर उभरे।

प्रस्तुत इकाई में टेलकॉट पारसंस के जीवन वृत्त, उनकी बौद्धिक पृष्ठभूमि, उनके सामाजिक क्रिया सिद्धांत, उनकी सामाजिक क्रिया प्रणाली की अवधारणा आदि तथ्यों का अध्ययन किया गया है।

टिप्पणी

5.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- टेलकॉट पारसंस के जीवन, उनके कार्य, उनकी विचारधारा और उनकी विचारधारा पर उनके समकालीन विचारकों के प्रभाव से परिचित हो पाएंगे;
- टेलकॉट पारसंस के द्वारा प्रतिपादित सामाजिक क्रिया सिद्धांतों से अवगत हो पाएंगे;
- सामाजिक प्रणाली के अध्ययन में पारसंस के क्रियात्मक दृष्टिकोण को समझ पाएंगे;
- पारसंस के दिए हुए प्रतिमान चर यानी पैटर्न वैरिएबल से परिचित हो पाएंगे;
- पारसंस की सामाजिक प्रणालियों की प्रकार्यात्मक पूर्वपेक्षाओं (functional prerequisite) से अवगत हो पाएंगे;
- पारसंस द्वारा प्रस्तुत सामाजिक प्रणालियों की संरचनाओं के प्रकारों का विवेचन कर पाएंगे;
- पारसंस के संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम से परिचित हो पाएंगे।

5.2 टेलकॉट पारसंस का जीवनवृत्त और उनकी बौद्धिक पृष्ठभूमि

टेलकॉट पारसंस का जन्म सन 13 दिसंबर, 1902 में संयुक्त राज्य अमेरिका के कोलारेडो में हुआ। उस समय उनके पिता कोलारेडो कॉलेज में अंग्रेजी के प्राध्यापक थे। उनके पिता धार्मिक समाज सुधार आंदोलन से भी जुड़े थे। इस तरह शिक्षा और धर्म दोनों ने पारसंस के जीवन पर बचपन से ही प्रभाव डाला।

वे आरंभ में एक चिकित्सक बनना चाहते थे। इसके लिए एम्हर्स्ट कॉलेज में उन्होंने जीवविज्ञान, समाजशास्त्र और दर्शनशास्त्र का अध्ययन किया। यहीं एम्हर्स्ट कॉलेज के प्रोफेसर वाल्टर हेमिल्टन के सानिध्य में उनकी समाजशास्त्र के प्रति पहली बार रुचि जगी, परंतु 1924 में उन्होंने अर्थशास्त्र में स्नातक पूरा किया। इसके बाद उन्होंने लंदन स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स में आगे की शिक्षा प्राप्त की। वहीं पर अध्ययन के दौरान वे हैरोल्ड लास्की, रिचर्ड टॉवने, लियोनार्ड हॉबाउज जैसे विद्वानों के कार्यों से परिचित हुए। यहीं पर उनकी मुलाकात समाजशास्त्र के विद्वान मोरिस जिन्सबर्ग से हुई। वे ब्रोनिस्ला मैलिनास्की से भी मिले। मैलिनास्की दक्षिण पश्चिम प्रशांत महासागर के द्वीपों में आदिवासियों के जीवन के पक्षों का अध्ययन कर चुके थे। इन मुलाकातों ने उनकी रुचि समाजशास्त्र में बढ़ा दी। वे भी सामाजिक जीवन और सामाजिक संबंधों को जानने समझने की ओर उन्मुख हुए। बाद में पारसंस इंग्लैंड से जर्मनी के हीडनबर्ग विश्वविद्यालय में अपनी पीएच.डी. करने चले गए। यहां से उन्होंने 1927 में अर्थशास्त्र

एवं समाजशास्त्र में अपनी पीएच.डी. पूरी की। यहीं पर अपने अध्ययन के दौरान उन्होंने जर्मनी के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री मैक्स वेबर के सिद्धांतों को जाना– समझा। बाद में अपने अध्यापन काल के दौरान पारसंस ने विल्फ्रेडो परैटो का भी अध्ययन किया। परैटो से संतुलन (EQUILIBRIUM) की धारणा उन्होंने अपनाई।

टिप्पणी

पारसंस का कैरियर और बाद का जीवन

पारसंस ने 1927 के दौरान एक वर्ष के लिए एम्हर्स्ट कॉलेज में पढ़ाया। उसके बाद वे हार्वर्ड विश्वविद्यालय में प्रशिक्षक या इंस्ट्रक्टर बन गए। उस वक्त, समाजशास्त्र हार्वर्ड विश्वविद्यालय में नहीं पढ़ाया जाता था। 1931 में जब हार्वर्ड का पहला समाजशास्त्र विभाग बनाया गया तो वे वहां दो प्रशिक्षकों में एक चुने गए। बाद में वे वहीं पूर्ण प्रोफेसर के पद पर नियुक्त हो गए। पारसंस के प्रयासों से ही हार्वर्ड का पहला सामाजिक संबंध विभाग (Department of Social Relations) भी बना जो समाजशास्त्र, नृविज्ञान और मनोविज्ञान एक अंतः विषय विभाग था। पारसंस को ही उस नए विभाग का अध्यक्ष बनाया गया। 1973 में वे हार्वर्ड से ही रिटायर हुए। हालांकि संयुक्त राज्य अमेरिका के अन्य विश्वविद्यालयों में उन्होंने पढ़ाना और अपना निजी लेखन जारी रखा। पचास के दशक में पारसंस अमेरिकी समाजशास्त्र के सबसे प्रभावशाली समाजशास्त्री के रूप में अपनी पहचान बनाने में सफल रहे। 1949 में वे अमेरिकन सोशियोलॉजिकल सोसायटी के अध्यक्ष भी बने।

हृदयाघात के कारण 8 मई, 1979 को उनकी जर्मनी के म्यूनिख में मृत्यु हो गई।

पारसंस की रचनाएं

पारसंस ने अपने शुरुआती काल में कुछ निबंध लिखे थे। परंतु उनकी पहली महत्वपूर्ण पुस्तक 1937 में प्रकाशित हुई। पुस्तक का नाम था– दि स्ट्रक्चर ऑफ सोशल एक्शन। इसमें पारसंस ने सामाजिक क्रिया के संबंध में उस समय तक हुए कार्यों को लोगों के सामने रखा। साथ ही अपने विचार भी प्रस्तुत किए। उन्होंने विभिन्न धाराओं को एकीकृत करने का प्रयास किया। प्रस्तुत पुस्तक वेबर के समूहवाद और दुर्खीम के व्यक्तिवाद को एकीकृत कर एक नई विचारधारा प्रस्तुत करती है। 1949 में उनकी पुस्तक 'एस्सेज इन सोशियोलॉजिकल थ्योरीज' प्रकाशित हुई। इस पुस्तक में उन्होंने सामाजिक क्रिया और अंतर्क्रिया को सामाजिक यथार्थ की दृष्टि से देखने का प्रयास किया है।

परंतु इसके बाद पारसंस की सैद्धांतिक विचारधारा और दृष्टिकोण में परिवर्तन दिखाई पड़ता है। सन् 1950 के करीब वे अंतर्क्रियावाद से प्रकार्यवाद में आते दिखते हैं। सन् 1951 में उनकी पुस्तक 'टूअड्र्स ए जनरल थ्योरी ऑफ एक्शन' प्रकाशित हुई। इसे उन्होंने एडवर्ड शील्ड्स के साथ मिलकर लिखा था। फिर 1951 में ही उन्होंने सोशल सिस्टम नामक पुस्तक लिखी। इन पुस्तकों में वे अपनी बदली हुई प्रकार्यवादी सैद्धांतिक दृष्टि के साथ दिखाई देते हैं। इसके दो वर्ष बाद पारसंस ने आर. एफ. बेल्स और एडवर्ड शील्ड्स के साथ मिलकर 'वर्किंग पेपर्स इन द थ्योरी ऑफ एक्शन' लिखी। सन् 1955 में उन्होंने फैमिली, सोशलाइजेशन एंड इंटरेक्शन नामक पुस्तक बेल्स, शील्स, जूडिथ, स्लेटर आदि विद्वानों के साथ मिलकर लिखी। 1956 में इकोनॉमी एंड सोसायटी नामक पुस्तक प्रकाशित हुई जो उन्होंने एन. जे. स्मेलसर के साथ मिलकर लिखी थी।

इसी नाम से वेबर ने भी एक पुस्तक लिखी थी जो वेबर की मृत्यु के बाद सन् 1922 में प्रकाशित हुई थी।

टिप्पणी

इसी दौरान पारसंस ने कई निबंध भी लिखे जो विभिन्न जगहों पर प्रकाशित हुए। उस वक्त अमेरिका में संख्यात्मक अध्ययनों का जोर था। वहीं पारसंस व्यापक सिद्धांतों को प्रस्तुत कर रहे थे। इस कारण उनकी काफी आलोचना भी हो रही थी। सन् 1964 में उनकी पुस्तक 'सोसायटीज : इवॉल्युशनरी एंड कंपरेटिव पर्सपेक्टिव' प्रकाशित हुई। इस समय तक पारसंस सामाजिक परिवर्तन के संबंध में उद्विकासवादी दृष्टिकोण को अपना चुके थे। 1967 में उनकी पुस्तक 'द सोशियोलॉजिकल थ्योरी एंड मॉडर्न सोसायटीज' प्रकाशित हुई। 1971 में पारसंस की पुस्तक 'द सिस्टम ऑफ मॉडर्न सोसायटीज' आई। इसके बाद 1977 में उनकी पुस्तक 'द इवॉल्युशन ऑफ सोसायटीज' आई। इसी साल उनकी 'सोशल सिस्टम एंड द इवॉल्युशन ऑफ एक्शन थ्योरी' नामक पुस्तक भी प्रकाशित हुई।

पारसंस की लेखन क्षमता काफी अच्छी थी। उनके कई निबंध भी काफी चर्चित रहे। दुर्खीम एवं परैटो के समाजशास्त्रीय योगदान के बारे में उनका निबंध काफी प्रभावी माना जाता है। फासीवाद (Fascism) के उदय और विकास पर उनका निबंध भी काफी चर्चित रहा। यूं तो उन्होंने समाजशास्त्र के विभिन्न विषयों पर अपनी टिप्पणी की, परंतु वे सामाजिक क्रिया की पृष्ठभूमि और व्यक्तिवादी परिप्रेक्ष्य में ही अधिक जाने गए।

पारसंस की प्रमुख रचनाओं की सूची

- The Structure of Social Action (1937)
- Essays in Sociological Theory (1949)
- The Social System (1951)
- Towards a General Theory of Action (1951)
- Economy and Society (1956)
- Structure and Process in Modern Societies (1960)
- Social Structure & Personality (1964)
- Evolutionary and Comparative Perspectives (1966)
- Sociological Theory and Modern Society (1968)
- Politics and Social Structure (1969)
- The System of Modern Societies (1971)

पारसंस की सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक पृष्ठभूमि

पारसंस ने अपने शुरुआती जीवन में अमेरिका का आर्थिक संकट देखा। वहीं बाद में वे अमेरिका की आर्थिक खुशहाली के भी गवाह बने। जब वे कॉलेज में थे, उन दिनों अमेरिका आर्थिक संकट के दौर से गुजर रहा था। पारसंस संयुक्त राज्य अमेरिका के मध्य पश्चिम के एक परिवार में पले–बढ़े। उनका परिवार एक धार्मिक परिवार था। इसलिए उनके शुरुआती दौर में उनमें एक संरक्षणवादी और क्रांतिविरोधी दृष्टिकोण दिखाई देता है। हालांकि बाद में अपने विचारों पर हुई आलोचना को उन्होंने गंभीरता से लिया और फिर उनमें एक परिवर्तनवादी दृष्टिकोण नजर आता है।

टिप्पणी

अमेरिका के तत्कालीन राजनेताओं ने देश में पनपती उन परिस्थितियों को संभाल लिया जो जर्मनी और इटली में फासीवाद को लाने में सहायक सिद्ध हुई थीं। परंतु फिर भी पारसंस जैसे समृद्ध परिवार के लोग भी इस आर्थिक संकट को झेलने को मजबूर थे। इस समय तक पारसंस सामाजिक क्रिया और अंतर्क्रिया से संबंधित अध्ययन से ही जुड़े हुए थे। फिर उसके बाद दूसरे विश्व युद्ध में अमेरिका की भागीदारी और उसका विश्व की महाशक्ति के रूप में उभरना जैसी परिस्थितियों ने पारसंस को खासा प्रभावित किया। अमेरिका उस दौर में पूंजीवादी व्यवस्था को पुनर्निर्मित करने की ओर अग्रसर था। पारसंस ने इस बदलाव को नजदीक से देखा। इसने उन्हें सामाजिक क्रिया से सामाजिक व्यवस्था की ओर अपना दृष्टिकोण बदलने को प्रेरित किया। उन्होंने देखा कि किसी खास उद्योगपति या उद्योगपतियों के समूह ने नहीं, बल्कि पश्चिमी देशों का एक साथ एक मंच पर आना ही पूंजीवाद के फिर से पनपने का बड़ा कारण बना। हालांकि दूसरे विश्व युद्ध के बाद सोवियत संघ के समाजवाद को भी पनपने का अवसर मिला और दुनिया शीतयुद्ध की चपेट में रही। इस बदलाव ने पारसंस के विचारों को भी अप्रासंगिक बनाना शुरू कर दिया। पचास और साठ के दशक में समाजवाद के उभार ने प्रकार्यवाद की समाप्ति की शुरुआत कर दी। कई प्रमुख समाजशास्त्रियों ने पारसंस के विचारों की कड़ी आलोचना की। पारसंस इस बदलाव के साथ सामंजस्य नहीं बिठा सके। हालांकि उन्होंने जीवन के उत्तरार्ध में अपने सिद्धांतों में परिवर्तन लाने की कोशिश की, परंतु वैश्विक घटनाओं में इतनी तेजी से परिवर्तन हुआ कि पारसंस उनसे तालमेल नहीं रख सके।

पारसंस की बौद्धिक पृष्ठभूमि

टेलकॉट पारसंस की लेखन क्षमता अद्‌भुत थी। उन्होंने समाजशास्त्र के विभिन्न सिद्धांतों पर अपने विचार दिए और एक बड़े फ्रेमवर्क के अंतर्गत सभी विचारों को सम्मिलित करने का प्रयास किया। वे अपने समय में ही अमेरिका के एक प्रमुख समाजशास्त्री के तौर पर स्थापित हो चुके थे। मैक्स ब्लैक ने 1960 के ही दशक में एक पुस्तक का संपादन किया जिसका शीर्षक टेलकॉट पारसंस ही था। इसमें उन्होंने पारसंस के बौद्धिक विकास की समीक्षा की है।

पारसंस आरंभ में एक चिकित्सक बनना चाहते थे। उन्होंने शुरुआत में जीव विज्ञान का अध्ययन भी किया। इस कारण उनके सिद्धांतों पर एक जीव विज्ञानी का भी प्रभाव दिखता है। उन्होंने जो अंतर्निहित व्यवस्था (inbuilt system) के विचार को विकसित किया, वो जीव विज्ञान के उनके अध्ययन की ही देन मानी जाती है। पारसंस अमेरिका के थे। अमेरिका में मनोवैज्ञानिक समाजशास्त्र और सामाजिक अंतर्क्रियावाद की लम्बी परम्परा थी। इसके बाद उन्होंने छात्र के रूप में जर्मनी में अध्ययन किया। जर्मनी में प्रवास के कारण जर्मन क्रियावाद की प्रवृत्ति को भी उन्होंने देखा। इस कारण उन्होंने शुरुआती दौर में सामाजिक क्रिया को समाज का आधार माना है। संयुक्त राज्य अमेरिका की दूसरे विश्व युद्ध से पहले की परिस्थितियों और संरचना के कारण ही शायद उन्होंने सामाजिक क्रिया की धारणा को केन्द्रीय माना और जीवन भर अपने सामाजिक क्रिया के सिद्धांत को छोड़ा नहीं। पारसंस की सामाजिक क्रिया की समझ और धारणा, मैक्स वेबर के चर्चित सामाजिक क्रिया के सिद्धांत से अलग है। वेबर की धारणा मनोवैज्ञानिक आयामों से मुक्त है। परंतु पारसंस की व्याख्या समाजशास्त्रीय कम

टिप्पणी

और मनोवैज्ञानिक ज्यादा है। उनकी धारणा जेस्टाल्टवादी (Gestaltist) मनोवैज्ञानिकों जैसे कोहलर और काफका की धारणाओं से ज्यादा प्रभावित लगती है। मनोविज्ञान का ये दृष्टिकोण मानता है कि व्यक्ति और समूह अपनी क्रिया में आंतरिक मानसिक स्थितियों को प्रतिरूपित करता है। ये सिंगमंड फ्रायड की तरह अवचेतन और लिबिडो की बात नहीं करता। पारसंस ने विल्फ्रेडो परैटो को पढ़ा था और उनसे काफी प्रभावित हुए। पारसंस ने परैटो के संतुलन (equilibrium) की धारणा को अपनाया। दरअसल यूरोप और अमेरिका की बौद्धिक धाराएं अलग जरूर थी, लेकिन इनके सांस्कृतिक तार जुड़ते थे। अमेरिका ने यूरोप से वह अपना लिया जो उसके मिजाज के अनुरूप था।

पारसंस मैक्स वेबर से प्रभावित थे। वेबर के सामाजिक क्रिया के सिद्धांत में उनकी काफी रुचि थी। अपनी पुस्तक 'स्ट्रक्चर ऑफ सोशल एक्शन' में उन्होंने वेबर, दुर्खीम और परैटो आदि पर अलग–अलग अध्याय लिखे। वेबर के समान ही पारसंस भी कार्ल मार्क्स के विचारों के विरोध में थे। दरअसल पश्चिमी व्यवस्था ने कार्ल मार्क्स के विचारों को कभी अपनाया ही नहीं। अमेरिकी व्यवस्था ने मार्क्स को कभी पसंद नहीं किया। अमेरिका में वेबर के लोकप्रिय होने की एक वजह यह भी थी कि वेबर ने मार्क्स के विचारों का विरोध किया। वेबर ने उत्पादन के साधनों के साथ–साथ शक्ति को भी महत्वपूर्ण माना है।

पारसंस के विचारों में पचास के दशक में परिवर्तन दिखने लगता है। उन्होंने बाद में सामाजिक क्रिया और अंतर्क्रिया के सिद्धांत को पृष्ठभूमि में डाल दिया। इसके अपने आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक कारण थे। परंतु इसका कारण ये भी था कि वे बाद में दुर्खीम के विचारों के प्रभाव में आ गए। वेबर और दुर्खीम समकालीन थे, परंतु दोनों के विचारों में विरोधाभास था। पारसंस ने दुर्खीम और वेबर, दोनों के विचारों को सम्मिलत कर सामाजिक व्यवस्था को समझने की कोशिश की। दुर्खीम समाज को अधिक महत्व देते हैं, वहीं वेबर का जोर व्यक्ति पर है। लेकिन पारसंस ने व्यक्ति और समाज दोनों को बराबर महत्व दिया है। इस तरह दुर्खीम के बाद टेलकॉट पारसंस संरचना प्रकार्यवाद के सबसे बड़े हस्ताक्षर बन कर उभरे। भारतीय समाजशास्त्र की मुख्यधारा भी प्रकार्यवाद से प्रभावित है। इसलिए भारत में भी पारसंस काफी लोकप्रिय हैं। पारसंस का समाजशास्त्र में काफी योगदान है। पारसंस ने सामाजिक क्रिया का सिद्धांत, समाज व्यवस्था का सिद्धांत, धर्म, राजनीति, परिवार जैसी उपसंरचनाओं के साथ–साथ प्रतिमान चर या पैटर्न वैरिएबल की धारणा दी है। पारसंस ने 'द ग्रैंड थ्योरी' के विकास में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई जो विभिन्न सामाजिक विज्ञानों को एक सैद्धांतिक ढांचे में एकीकृत करने का प्रयास था। उनका मुख्य लक्ष्य मानव संबंधों के एक एकल सार्वभौमिक सिद्धांत का निर्माण करने के लिए कई सामाजिक विज्ञान विषयों का उपयोग करना था। अपनी शुरुआती पुस्तक 'द स्ट्रक्चर ऑफ सोशल एक्शन' में उन्होंने अपने पूर्ववर्ती समाजशास्त्रियों मैक्स वेबर, विल्फ्रेडो परैटो और इमाइल दुर्खीम के कार्यों का विश्लेषण किया है और एकल सामाजिक क्रिया के अपने निष्कर्ष पर पहुंचे हैं जो स्वैच्छिक होने के साथ–साथ उद्देश्यात्मक भी है।

पारसंस के दूसरे विश्वयुद्ध के पहले और बाद के विचारों में काफी परिवर्तन दिखाई देता है। अमेरिका की बदलती सामाजिक व्यवस्था ने उनके विचारों में भी गुणात्मक परिवर्तन किया। संरचना प्रकार्यवाद का जो सिद्धांत पारसंस ने प्रतिपादित

किया वो अमेरिकी प्रभाव और वर्चस्व से जुड़ा रहा। जार्ज हुवाको के अनुसार, 1970 के करीब अमेरिकी प्रभाव कमजोर हुआ और इसीलिए प्रकार्यवाद कमजोर पड़ गया। 1990 में सोवियत संघ के विघटन के बाद फिर से नवप्रकार्यवाद के रूप में जेफरी अलेक्जेंडर आदि विद्वानों ने पारसंस की विरासत को पुनर्जीवित किया है।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

1. टेलकॉट पारसंस का जन्म कब हुआ था?
   (क) 10 नवंबर, 1896 (ख) 13 दिसंबर, 1902
   (ग) 12 जनवरी, 1907 (घ) 15 अगस्त, 1912
2. सन 1951 में पारसंस की कौन–सी रचना प्रकाशित हुई थी?
   (क) दि स्ट्रक्चर ऑफ सोशल एक्शन
   (ख) एस्सेज इन सोशियोलॉजिकल थ्योरी
   (ग) टूअड्र्स ए जनरल थ्योरी ऑफ एक्शन
   (घ) इनमें से कोई नहीं

5.3 पारसंस का सामाजिक क्रिया सिद्धांत

टेलकॉट पारसंस की पहली प्रमुख पुस्तक 'The Structure of Social Action' (सामाजिक क्रिया की संरचना) थी। ये पुस्तक सन् 1937 में प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक में पारसंस ने सामाजिक क्रिया की प्रकृति और अर्थ का एक क्रमबद्ध और समाजशास्त्रीय मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। इसमें पारसंस ने अपने पूर्ववर्ती विद्वानों के कार्य संबंधी सिद्धांतों का विश्लेषण किया है। पारसंस ने परैटो, दुर्खीम, मैक्स वेबर आदि विद्वानों के सिद्धांतों का विस्तार से विश्लेषण किया है। इनके विश्लेषण के पश्चात् पारसंस ने सामाजिक क्रिया का एक सम्मिलित सिद्धांत देने का प्रयास किया है। पारसंस ने देखा कि सभी विद्वानों के सिद्धांत अलग–अलग सामाजिक क्रिया की पूरी व्याख्या नहीं कर पाते। ऐसे में उनके सिद्धांतों के विश्लेषण के साथ पारसंस ने अपनी व्याख्या भी उनमें जोड़ी। पारसंस का सिद्धांत सभी परिस्थितियों में सामाजिक क्रिया की व्याख्या करने का प्रयास करता है। पारसंस ने सभी विद्वानों की व्याख्या में आंशिक सच्चाई मानी। इसलिए उन्होंने एक समन्वयवादी व्याख्या की आवश्यकता महसूस की। पारसंस का सिद्धांत व्यक्ति के साथ–साथ समाज पर भी जोर देता है।

सामाजिक क्रिया की संरचना (The Structure of Social Action)

पारसंस ने 1932 से 1951 तक सामाजिक क्रिया को वह आधार माना जिससे व्यक्तित्व, संस्कृति और समाज व्यवस्था का विकास होता है। उन्होंने हमेशा इस बात को माना कि सामाजिक क्रिया ही सामाजिक संरचना की मूल इकाई है। पारसंस ने अपने विश्लेषण में बतलाया कि सामाजिक क्रिया किसी व्यक्ति या समूह की वह क्रिया या सक्रियता है जो किसी प्रेरणा से उत्पन्न होती है और किसी लक्ष्य के लिए निर्देशित होती है। व्यक्ति और समूह के सामूहिक संबंध का प्रभाव उसकी क्रिया पर पड़ता है।

टिप्पणी

पारसंस ने जो व्यक्ति क्रिया करता है उसे अहम् या ईगो (Ego) और जो उसके साथ अंतर्क्रिया करता है उसे अन्य या अल्टर (Alter) कहा है। पारसंस के अनुसार क्रिया परिस्थितियों से प्रभावित होती है। इसे पारसंस ने परिस्थिति से उन्मुखता (orientation to the situation) कहा है। सामाजिक क्रिया मूल्यों से सामाजिक चरित्रों से और व्यक्तिगत स्वभाव से प्रभावित होती है।

पारसंस और वेबर के सामाजिक क्रिया के अर्थ में अंतर

वेबर ने कहा है कि समाजशास्त्र सामाजिक क्रिया के निर्वाचनात्मक या व्याख्यात्मक समझ से जुड़ा है। वेबर ने कहा कि सामाजिक क्रिया व्यक्ति और समूह की वह क्रिया है जिसका उद्देश्य होता है। उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए समाज के सदस्य एक जैसी क्रियाएं करते हैं। वेबर ने प्रतिपादित किया है कि प्रत्येक संस्था, संगठन और संरचना के पीछे सामाजिक क्रिया की एक प्रणाली होती है।

वेबर और पारसंस में प्रमुख समानता यह है कि दोनों ने ही सामाजिक क्रिया को केन्द्र में रखा है। परंतु वेबर ने जहां क्रिया की व्याख्या पर जोर दिया है, वहीं वेबर ने क्रिया के चरित्र को महत्व दिया है। वेबर क्रिया में एक–दूसरे की अनुरूपता को महत्व देते हैं। जबकि पारसंस नियमों को अधित महत्वपूर्ण मानते हैं। पारसंस की सामाजिक क्रिया में मनोवैज्ञानिक झुकाव दिखाई देता है। इसलिए पारसंस ने प्रेरणा को महत्वपूर्ण माना है।

इसी तरह पारसंस वेबर, दुर्खीम जैसे विद्वानों के सिद्धांतों का एक समन्वयवादी सिद्धांत देते हैं जो सामाजिक क्रिया को समग्र रूप में विश्लेषित करता है।

क्रिया के तत्व (Elements of Actions)– पारसंस के अनुसार क्रिया की इस नवीन समन्वयवादी सामान्यात्मक अवस्था के चार तत्व हैं–

(1) **वंशानुक्रम और पर्यावरण** (Heredity and Environment)– ये कर्ता की जैविक विरासत और उसकी बाहरी वातावरणीय परिस्थितियों से संबंधित है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से पर्यावरण भौतिक और अभौतिक वस्तुओं का वह घेरा है जो व्यक्ति की बाहरी–भीतरी दोनों अवस्थाओं को प्रभावित करता है। वंशानुक्रम ये तात्पर्य व्यक्ति को जैविक रूप से उसके माता–पिता से मिलने वाले शारीरिक और मानसिक गुणों और विशेषताओं से है। इसी जैविक विरासत पर पर्यावरण का प्रभाव पड़ता है और व्यक्ति के बाहरी व्यक्तित्व का निर्माण होता है। यही बाहरी व्यक्तित्व ही व्यक्ति का सामाजिक व्यक्तित्व कहलाता है। सामाजिक व्यक्तित्व दरअसल व्यक्ति के आंतरिक और बाह्य व्यक्तित्व का सम्मिश्रण होता है। क्रिया में यह सामाजिक व्यक्तित्व ही अंतिम शर्त (Ultimate Condition) है। इसका तात्पर्य ये हुआ कि व्यक्ति का अपना व्यक्तित्व उन मूल्यों और आदर्शों को जन्म देता है जो उसकी क्रियाओं की दिशा और स्वरूप को निर्धारित करते हैं।

(2) **साधन और साध्य या लक्ष्य** (Means and Ends)– पारसंस ने सामाजिक क्रिया का दूसरा तत्व साधन और साध्य या लक्ष्य को बताया है। पारसंस ने कहा कि कार्य लक्ष्यविहीन नहीं हो सकता है। सामाजिक क्रिया के लिए ये आवश्यक है कि कार्य किसी लक्ष्य के साथ किया जाए। कार्य की विवेचना के लिए ये आवश्यक है कि उससे संबंधित लक्ष्य का भी निरूपण हो। इसके साथ ही साधन

भी महत्वपूर्ण है क्योंकि साधन ही वह उपकरण है जिसके द्वारा लक्ष्य की प्राप्ति का कार्य सम्पादित होता है। इसलिए साधन और लक्ष्य दोनों की महत्ता है।

(3) **अंतिम मूल्य** (Ultimate Value)– पारसंस ने क्रिया का तीसरा तत्व अंतिम मूल्य को माना है। कह सकते हैं कि प्रत्येक क्रिया इसी अंतिम मूल्य को प्राप्त करने के लिए निर्देशित होती है। क्रिया के साधन और लक्ष्य किसी न किसी रूप में इस अंतिम मूल्य से ही प्रभावित होते हैं।

टिप्पणी

(4) **उद्योग या प्रयत्न या ऊर्जा** (Effort)– यह क्रिया के आदर्शात्मक तथ्य से संबंधित होता है। किसी भी क्रिया को करने के लिए समाज व्यवस्था के अंतर्गत रहकर ही कर्ता को कार्य करना पड़ता है। उसे उसकी मनमानी की छूट नहीं दी जा सकती है। सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने की यह एक आवश्यक शर्त है। यह पहले ही साफ हो चुका है कि सामाजिक मूल्य किसी क्रिया में अंतर्निहित रहते हैं। परंतु उन्हें प्राप्त करने का तरीका भी सामाजिक व्यवस्था में निर्धारित रहता है। समाज की ओर से निर्धारित अवस्थाओं या शर्तों के अंतर्गत रहकर ही कर्ता कोई क्रिया कर सकता है। इसके साथ ही साधन की भी सीमा होती है। निर्धारित साधनों में ही कर्ता को क्रिया की लक्ष्य प्राप्ति का प्रयत्न करना पड़ता है। इसलिए प्रयत्न वह कारक है जो आदर्श तथा व्यवस्था के बीच एक तादात्म्य स्थापित करता है।

सामाजिक क्रिया का अर्थ

पारसंस ने यह प्रतिपादित किया है कि सामाजिक क्रिया सिद्धांत दरअसल एक स्वैच्छिक क्रिया का सिद्धांत है। अपनी पुस्तक द स्ट्रक्चर ऑफ सोशल एक्शन और शिल्स के साथ मिलकर लिखी गई पुस्तक 'टुवर्ड्स ए थ्योरी ऑफ सोशल एक्शन' में उन्होंने ये स्थापित किया है। पारसंस ने इसे स्वैच्छिक क्रिया इसलिए कहा है क्योंकि कर्ता के पास उपलब्ध विकल्पों में अपनी मर्जी का विकल्प चुनने की छूट रहती है। जो विकल्प उसे सही लगता है वो उसे ग्रहण कर लेता है। इस तरह सामाजिक क्रिया का स्वैच्छिक सिद्धांत उपयोगितावाद, प्रत्यक्षवाद और आदर्शवाद को अपने अंदर समेट लेता है। इस सिद्धांत को प्रतिपादित करते हुए पारसंस वेबर से प्रभावित दिखाई देते हैं। वेबर के अनुसार लक्ष्य पाने के लिए कर्ता मूल्य और विवेक दोनों का उपयोग करता है। वेबर का कहना था कि किसी भी क्रिया में कर्ता स्वयं अपना अर्थ निहित करता है। पारसंस ने भी कहा कि सामाजिक क्रिया अर्थपूर्ण होती है। क्रिया करने में जो अर्थ होता है उसे कर्ता स्वयं परिभाषित करता है। सामाजिक क्रिया की व्याख्या करते हुए पारसंस कहते हैं कि सामाजिक क्रिया वो गतिविधि है जिसका उद्देश्य किसी न किसी लक्ष्य को प्राप्त करना होता है। किसी भी गतिविधि को करने के लिए व्यक्ति को ऊर्जा खर्च करनी होती है। यानी गतिविधि समाप्त होने पर कर्ता को ऊर्जा नहीं खर्च करनी पड़ती। लेकिन इस गतिविधि के साथ लक्ष्य की प्राप्ति होती है। यानी सामाजिक क्रिया की सबसे सरल व्याख्या करें तो वो इस प्रकार होगी–

सामाजिक क्रिया = गतिविधि + लक्ष्य

पारसंस ने उदाहरण देते हुए अपने सिद्धांत को समझाया है। पारसंस ने उदाहरण दिया है कि जॉन मछली पकड़ने के लिए अपनी कार में समुद्र की ओर जाए

टिप्पणी

तो इसे सामाजिक क्रिया मानेंगे या नहीं। उन्होंने इस क्रिया का पूरा विश्लेषण किया है। इस क्रिया की व्याख्या की जाए तो इसमें कई अवधारणाएं सम्मिलित मिलेंगी। इस क्रिया में जॉन स्वयं कर्ता हो जाता है। जॉन के सामने मछली पकड़ने का लक्ष्य भी निश्चित है। यानी सामाजिक क्रिया में लक्ष्य होना आवश्यक है। अगर उसके साथ उसके मित्र भी शामिल हो जाएं तो यह सामूहिकता कहलाएगा। यानी सामाजिक क्रिया को करने वाला कोई एक व्यक्ति या एक समूह हो सकता है। उसके बाद आती है क्रिया की स्थितियां। पहली स्थिति यह है कि वो मोटर कार से जा रहा है। दिन का वक्त है, उसे सब साफ दिखाई दे रहा है। ये भौतिक स्थिति है। इसके बाद उसे सड़क के नियमों का पालन करना है। रेड लाइट आने पर रुकना है, राहगीरों को बीच से हटाने के लिए हार्न मारना है। ये सब सामाजिक और सांस्कृतिक स्थितियां हैं। इन परिस्थितियों से गुजरता हुआ ही जॉन अपने लक्ष्य पर पहुंचता है। इस क्रिया को करने की प्रेरणा भी उसे मिल रही है। तभी वह ये क्रिया कर रहा है। उसके मस्तिष्क में कुछ अभिप्रेरण होंगे। हो सकता है कि उसके मित्रों का मछली पकड़ने जाना उसके लिए अभिप्रेरण का कार्य करे। साथ ही उसने अपनी इस क्रिया का मूल्यांकन भी किया होगा। इसके साथ ही जॉन ने अपनी क्रिया की तार्किकता पर भी विचार किया होगा। इस तरह एक सामाजिक क्रिया के साथ कई कारक जुड़े होते हैं।

क्रिया के अभिप्रेरण के प्रकार (Types of Motivation of Social Action)

पारसंस ने क्रिया के अभिप्रेरण को महत्वपूर्ण माना है। उसका मानना था कि अभिप्रेरण की वजह से ही कोई कर्ता किसी क्रिया को करने के लिए उन्मुख होता है। पारसंस ने इन अभिप्रेरकों के तीन प्रकार बताए हैं–

1. **संज्ञानात्मक अभिप्रेरण** (Cognitive Motivation)– यह सूचनात्मक अभिप्रेरण है। क्रिया से जुड़ी जो भी सूचनाएं होती हैं उन्हें कर्ता को प्रदान करने पर जो अभिप्रेरणा मिलती है, वही संज्ञानात्मक अभिप्रेरण है।
2. **संवेगात्मक अभिप्रेरण** (Cathectic Motivation)– ये वो अभिप्रेरण है जिनके साथ कर्ता का संवेगात्मक जुड़ाव होता है। इनसे भावात्मक संतुष्टि की प्राप्ति होती है वही कर्ता के लिए अभिप्रेरणा का काम करती है। जैसे उपरोक्त उदाहरण में, जॉन को मछली पकड़ने में जिस आनंद की अनुभूति होती है वही उसके लिए अभिप्रेरणा बनती है।
3. **मूल्यांकन अभिप्रेरण** (Evaluative Motivation)– जब कर्ता स्थिति का मूल्यांकन करता है और अपने हानि–लाभ की तुलना करता है तब यही मूल्यांकन उसके लिए अभिप्रेरणा बनता है। इससे कर्ता को प्राप्त होने वाले लाभ का अनुमान हो जाता है।

सामाजिक क्रिया विभिन्न प्रकार के मूल्यों को अपने अंदर समाहित रखती है। पारसंस के अनुसार कर्ता के ऊपर व्यक्तिगत और समूह के मूल्यों का दबाव रहता है। इन मूल्यों के तीन प्रकार पारसंस ने बताए हैं–

1. संज्ञानात्मक मूल्य– इसमें व्यक्ति क्रिया के स्तर का मूल्यांकन करता है।
2. प्रशंसात्मक मूल्य– सामाजिक रूप से प्रशंसा पाने वाले मूल्यों को इस श्रेणी में रखा जाता है।

3. नैतिक मूल्य– ये वो मूल्य हैं जिनका संबंध नैतिकता से जुड़ा होता है।

पारसंस ने दरअसल सभी सिद्धांतों को संश्लेषित करके एक सामान्य अवधारणात्मक अवस्था को प्रतिपादित किया है। वे कहते हैं कि क्रिया का उद्देश्य किसी निश्चित लक्ष्य को प्राप्त करना होता है। इसमें उस दशा की महत्वपूर्ण भूमिका होती है जिस अवस्था में क्रिया की जाती है। साथ ही अभिप्रेरण एवं मूल्य भी क्रिया के सम्पादित होने में प्रमुख भूमिका निभाते हैं।

टिप्पणी

सामाजिक क्रिया सिद्धांत की रूपरेखा (Outline of Social Action Structure)

1. कर्ता / समूह (actor/collectivity)
2. लक्ष्य (goal)
3. स्थिति / दशा (situation)
   (अ) भौतिक स्थिति (physical)
   (ब) अभौतिक स्थिति (non-physical)
4. मानक और मूल्य (norms and value)
5. कर्ता के अभिप्रेरक (Actors Motivation)
   (अ) संज्ञानात्मक अभिप्रेरण (cognitive motivation)
   (ब) संवेगात्मक अभिप्रेरण (cathectic motivation)
   (स) मूल्यांकन अभिप्रेरण (value orientation)
6. मूल्य अभिस्थापना (value orientation)
   (अं) संज्ञानात्मक (cognitive)
   (ब) प्रशंसात्मक (appreciative)
   (ब) नैतिक (moral)

पारसंस ने प्रतिपादित किया कि किसी लक्ष्य को निश्चित करने में अभिप्रेरण और मूल्य अभिस्थापना का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। इन दोनों के सम्मिलन से ही कर्ता की लक्ष्य प्राप्ति निर्देशित होती है। ये क्रिया किसी निश्चित स्थिति अथवा दशा में ही सम्पादित होती है।

पारसंस का क्रिया सिद्धांत कई सिद्धांतों का संश्लेषण है। इसका मुख्य आधार कर्ता या सामूहिकता है। क्रिया के पीछे निश्चित अभिप्रेरण एवं मूल्य होते हैं। कर्ता की इन क्रियाओं को किसी भी व्यवस्था के संदर्भ में पारसंस यूनिट एक्ट कहते हैं। क्रियाओं की यही इकाइयां सम्मिलित रूप से सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करती हैं। इसका अर्थ यही हुआ कि किसी भी सामाजिक व्यवस्था का बुनियादी आधार सामाजिक क्रिया होती है। इनके पीछे लक्ष्य होता है। अभिप्रेरणा होती है। साथ ही भौतिक तथा अभौतिक परिस्थितियां होती हैं।

5.3.1 पारसंस का सामाजिक संरचना एवं प्रकार्य सिद्धांत

समाजशास्त्र में संरचना एवं प्रकार्य की अवधारणाओं का सर्वप्रथम प्रयोग हर्बर्ट स्पेन्सर ने किया। इसके बाद दुर्खीम ने भी इस पर महत्वपूर्ण विचार दिए। परंतु संरचनात्मक प्रकार्य पर सबसे महत्वपूर्ण कार्यों में पारसंस के सिद्धांत की ही गणना होती है।

टिप्पणी

सामाजिक संरचना का सार संरचना शब्द के अर्थ से समझा जा सकता है। प्रत्येक भौतिक वस्तु की एक संरचना होती है जो कई इकाइयों से मिलकर बनी होती है। ये इकाइयां मिलकर एक समग्र रचना का निर्माण करती हैं जो एक खास प्रकार्य के लिए समर्पित होती हैं। इन इकाइयों में परस्पर प्रकार्यात्मक एकता होती है और ये एक दूसरे पर निर्भर होती हैं। ये इकाइयां जब आपस में एक विशेष क्रम में जुड़कर एक जटिल समग्र का निर्माण करती हैं तो उसे संरचना कहा जाता है। जिस प्रकार किसी भौतिक वस्तु की संरचना होती है, उसी प्रकार समाज की भी एक संरचना होती है जिसे सामाजिक संरचना कहते हैं। समाज की संरचना की इकाइयां परिवार, संघ, संस्था आदि होती हैं। ये सभी इकाइयां अपने स्थान पर व्यवस्थित होती हैं और स्थिर होती हैं। ये इकाइयां आपस में संबंधित होती हैं और मिलकर एक विशेष कार्य को अंजाम देती हैं। इन इकाइयों के सम्मिलन से ही सामाजिक संरचना बनती है।

पारसंस ने भी अपने अनुसार सामाजिक संरचना को परिभाषित किया है– "सामाजिक संरचना परस्पर संबंधित संस्थाओं, एजेंसियों और सामाजिक प्रतिमानों तथा साथ ही समूह में प्रत्येक सदस्य द्वारा ग्रहण किए पदों और कार्यों की विशिष्ट क्रमबद्धता को कहते हैं।"

सामाजिक संरचना की विशेषताएं

पारसंस एवं अन्य समाजशास्त्रियों के विश्लेषण से हमें सामाजिक संरचना की निम्न विशेषताएं दृष्टिगोचर होती हैं–

1. सामाजिक संरचना का निर्माण सामाजिक संस्थाओं, एजेंसियों, प्रतिमानों और व्यक्तियों द्वारा ग्रहण किए गए पदों और भूमिकाओं रूपी इकाइयों से होता है।
2. ये सभी इकाइयां परस्पर संबंधित होती हैं।
3. सामाजिक संरचना में एक विशिष्ट क्रमबद्धता पाई जाती है।
4. सामाजिक संरचना एक अमूर्त धारणा है क्योंकि ये जिन इकाइयों से मिलकर बनती है वे सभी अमूर्त हैं।
5. सामाजिक संरचना की अवधारणा स्थायित्व का बोध कराती है।
6. सभी इकाइयों में प्रकार्यात्मक एकता (functional unity) पाई जाती है। ये इकाइयां संघटनात्मक रूप से जुड़ी होती हैं और समाज के लिए कोई न कोई महत्वपूर्ण कार्य करती हैं।
7. सामाजिक संरचना एक वृहत प्रतिमान होता है जिसमें कई उप–संरचनाएं शामिल होती हैं।
8. सामाजिक संरचना दिखती तो स्थिर है परंतु वह गतिशील और परिवर्तनशील होती है। सामाजिक संरचना के परिवर्तन की गति अक्सर इतनी धीमी होती है कि इसके सदस्यों को कई बार इस बदलाव का पता भी नहीं चल पाता।
9. हर समाज की सामाजिक संरचना होती है। इस अर्थ में यह सार्वभौमिक है। परंतु हर सामाजिक संरचना अपनी विशिष्टता लिए रहती है और एक दूसरे से अलग होती है।

टिप्पणी

10. सामाजिक प्रक्रियाएं सामाजिक संरचना का महत्वपूर्ण पक्ष हैं। कई प्रक्रियाएं जैसे सहयोग, अनुकूलन, व्यवस्थापन, समाजीकरण, प्रतिस्पर्धा, प्रतिकूलन और संघर्ष भी सामाजिक संरचना में मौजूद रहते हैं। सामाजिक प्रक्रियाओं का स्वरूप सामाजिक संरचना के जरिए ही तय होता है।
11. सामाजिक संरचना की विभिन्न इकाइयां जैसे संस्था, प्रथा, कानून आदि किसी एक समूह के लिए प्रकार्यात्मक हो सकती हैं परंतु किसी दूसरे समूह के लिए वे दुष्कार्यात्मक भी सिद्ध हो सकती हैं, जैसे– जातिप्रथा के प्रतिबंध नीची जातियों के लिए दुष्कार्यात्मक थे।

प्रकार्य की अवधारणा (Concept of Function)

समाजशास्त्र में संरचनात्मक प्रकार्यात्मक अवधारणा के सबसे प्रमुख प्रतिपादक पारसंस ही माने जाते हैं। सामान्यतः प्रकार्य का अर्थ समाज या समूह के किए जाने वाले कार्य से लगाया जाता है। परंतु समाजशास्त्र में प्रकार्य का अर्थ संपूर्ण सामाजिक संरचना को व्यवस्थित बनाए रखने के लिए उसकी इकाइयां जो सकारात्मक योगदान देती है उससे लगाया जाता है।

संरचना और प्रकार्य को हम शरीर की अवधारणा से बेहतर तरीके से समझ सकते हैं। शरीर की संरचना का निर्माण विभिन्न अंगों, जैसे– हाथ, पांव, सिर आदि विभिन्न इकाइयों से मिलकर होता है। शरीर के ये विभिन्न अंग शरीर की व्यवस्था को बनाए रखने और उसके अनुकूलन में अपना योगदान देते हैं। इसे ही इन इकाइयों का प्रकार्य कहा जाता है। समाज की भी अपनी एक संरचना होती है जिसका निर्माण अनेक सामाजिक इकाइयों द्वारा होता है। इनमें प्रत्येक इकाई का कोई निश्चित प्रकार्य होता है। हर इकाई में एक प्रकार्यात्मक संबंध पाया जाता है। इन प्रकार्यों एवं प्रकार्यात्मक संबंधों के कारण ही समाज या सामाजिक संरचना का अस्तित्व संभव हो पाता है। प्रकार्य के बिना सामाजिक संरचना और सामाजिक संरचना के बिना प्रकार्य का अस्तित्व संभव नहीं है। इसलिए समाज के अध्ययन के लिए यह आवश्यक है कि उसका अध्ययन संरचना और प्रकार्य के संदर्भ में ही किया जाए। समाजशास्त्र में इसे संरचनात्मक प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण कहते हैं।

संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम की प्रमुख विशेषताएं

संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम की प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार हैं–

1. इस उपागम के अंतर्गत व्यवस्था यंत्रवत कार्य करती है। जिस प्रकार किसी यंत्र या मशीनरी के किसी भी भाग में कोई खराबी आ जाने पर संपूर्ण मशीन का कार्य संतुलन बिगड़ जाता है उसी प्रकार समाज के स्तर पर भी इसी प्रकार का दृष्टिकोण रखकर समाज का अध्ययन किया जाता है।
2. संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम में एक निरंतर प्रक्रिया का होना आवश्यक होता है। जिस प्रकार परिवार में किसी व्यक्ति विशेष की भूमिका बदलती रहती है परंतु परिवार का सार्वभौमिक व्यवहार नहीं बदलता। परिवार और समाज की व्यवस्था बनी रहती है। ये समाप्त नहीं होती है।
3. किसी भी व्यवस्था की संरचना की निर्माणक इकाइयों और उसके कार्यों में एक संतुलन का निरंतर बना रहना आवश्यक होता है। इसी संतुलन के कारण यह व्यवस्था सुचारु रूप से अनवरत चलती रहती है।

टिप्पणी

4. किसी भी व्यवस्था को बनाए रखने के लिए कुछ प्रतिमानों या नियमों का होना भी आवश्यक होता है। ये प्रतिमान व्यवस्था के भीतर ही स्थित होते हैं।
5. संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम में समाज और व्यक्ति दोनों को महत्व दिया जाता है। पारसंस ने दूसरे समाजशास्त्रियों से अलग दोनों को बराबर महत्वपूर्ण माना है। व्यक्ति ही समाज की इकाई है। इसलिए व्यक्ति महत्वपूर्ण है क्योंकि उससे ही समाज का निर्माण हो रहा है। परंतु व्यक्ति को मूल आधार मानना भी सही नहीं है। समाज या व्यवस्था भी उतनी ही महत्वपूर्ण है। किसी व्यक्ति के नहीं रहने पर भी समाज या व्यवस्था कार्य करती रहती है। उसका अस्तित्व बना रहता है।
6. किसी भी सामाजिक व्यवस्था में संरचना उसका स्थिर पक्ष है। जबकि प्रकार्य उसका गतिशील पक्ष है।

5.3.2 प्रकार्यवाद और सामाजिक परिवर्तन

प्रकार्यवाद में पारसंस से पहले स्थिरता एवं निरंतरता पर जोर दिया जाता रहा है। पारसंस ने भी सामाजिक प्रणालियों की प्रकार्यात्मक प्रक्रियाओं के फलस्वरूप सामाजिक प्रणाली में स्थिरता एवं निरंतरता के तत्व से इंकार नहीं किया है, परंतु पारसंस ने सामाजिक परिवर्तन की संभावनाओं पर भी जोर दिया है। यह परिवर्तन सामाजिक प्रणाली के विशिष्ट स्वरूप और प्रेरक प्रवृत्तियों के स्वरूप का परिणाम होता है।

पारसंस ने सामाजिक परिवर्तन के दो स्वरूपों को प्रतिपादित किया है। पहला स्वरूप भौतिक परिवर्तनों जैसे पर्यावरणीय परिस्थितियों, बाह्य सीमावर्ती स्थितियों में बदलाव, सांस्कृतिक संपर्क और विचारों में बदलाव, हितों के प्रसार जैसे तत्वों पर आधारित है। ये परिवर्तन ऐतिहासिक पहलुओं से जुड़े होते हैं और सामाजिक दबावों के प्रभाव से उत्पन्न होते हैं। दूसरा स्वरूप अभिप्रेरक तत्वों में बदलाव से कार्य प्रणालियों में आने वाला परिवर्तन है। ये परिवर्तन अपने स्वरूप में अनिवार्यतः निर्देशात्मक होते हैं। सामाजिक लक्ष्यों की प्राप्ति और सामाजिक मूल्यों के उन्मुखीकरण की दिशा से ही सामाजिक प्रणाली में सामंजस्य स्थापित होता है परंतु यही प्रक्रिया सामाजिक तनाव को भी जन्म देती है। सामंजस्य से स्थिरता और तनाव से परिवर्तन होता है।

परिवर्तन के दो स्वरूपों के अलावा पारसंस ने सामाजिक परिवर्तनों के दो स्तरों की भी चर्चा की है। पहला सामाजिक प्रणाली के भीतर की प्रक्रियाओं से उभरने वाला परिवर्तन है और दूसरा सामाजिक प्रणाली में आमूल परिवर्तन की प्रक्रियाएं। पारसंस का मत है कि सामाजिक परिवर्तन के दोनों पहलुओं पर ध्यान देने से सामाजिक परिवर्तन को समझने की समस्या का हल निकाला जा सकता है। पारसंस का कहना था कि परिवर्तन का अध्ययन अभिप्रेरणात्मक और मूल्यपरक उन्मुखता तथा सामाजिक प्रणाली की प्रकार्यात्मक पूर्वापेक्षाएं की सहायता से किया जाना चाहिए। पारसंस ने ये भी कहा है कि सामाजिक परिवर्तन को सामान्य स्तर पर समझने की कोशिश नहीं की जानी चाहिए जो सभी समाजों पर सामान्य रूप से लागू हो। पारसंस का मत है कि समाजशास्त्रियों को सामाजिक परिवर्तन का विश्लेषण विशिष्ट ऐतिहासिक स्तर पर करना चाहिए। इसलिए पारसंस का मत है कि समग्र सामाजिक प्रणाली में परिवर्तन की प्रक्रिया की तुलना में किसी सामाजिक प्रणाली के भीतर के परिवर्तन का विश्लेषण

करना सरल है। समाजशास्त्र को विभिन्न परिस्थितियों में सामाजिक प्रणाली के भीतर होने वाले सामाजिक परिवर्तनों के विश्लेषण की व्यवस्थित विधि प्रदान करना पारसंस का सबसे बड़ा योगदान माना जा सकता है। हालांकि अपने जीवन के बाद के वर्षों में पारसंस ने समग्र सामाजिक प्रणाली में परिवर्तन का विश्लेषण भी विकासात्मक सर्विकीय तत्वों की अपनी अवधारणा के माध्यम से किया है। अपनी बाद की पुस्तकों में पारसंस ने सामाजिक परिवर्तन के विकासात्मक सिद्धांत का विस्तृत विवेचन किया है। परंतु सामाजिक परिवर्तन के प्रति उसका दृष्टिकोण मुख्यतः प्रकार्यात्मक ही रहा।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

3. "सामाजिक क्रिया सिद्धांत दरअसल एक स्वैच्छिक क्रिया का सिद्धांत है।" यह किसका कथन है?

   (क) पारसंस (ख) कार्ल मार्क्स

   (ग) वेबर (घ) कॉम्टे

4. टेलकॉट पारसंस ने क्रिया के अभिप्रेरण के कितने प्रकार बताए हैं?

   (क) दो (ख) तीन

   (ग) चार (घ) पांच

5.4 पारसंस की सामाजिक प्रणाली की अवधारणा

दरअसल किसी भी समाज में व्यक्ति के अंतर्संबंधों के परिणामस्वरूप ही सामाजिक प्रणाली या सामाजिक व्यवस्था का निर्धारण होता है। यहां यह प्रश्न विचारणीय है कि व्यक्ति समाज का निर्माण करता है या समाज से व्यक्ति का निर्माण होता है। वास्तविकता यह है कि न समाज व्यक्तियों को बनाता है और न ही व्यक्ति मिलकर समाज बनाते हैं बल्कि व्यक्तियों के आपसी व्यवहार और क्रियाओं से उनके अंतर्संबंध निर्धारित होते हैं। इन्हीं संबंधों से मिलकर सामाजिक संरचना बनती है जो समाज की मानक मूल्य व्यवस्था के अनुरूप बनकर व्यवस्था का निर्माण करती है। समाज की कई सामाजिक व्यवस्थाएं एवं उनकी भी उप–व्यवस्थाएं कई स्तर तक बनी हुई हैं। व्यक्ति का व्यवहार एवं उसकी क्रिया सामाजिक तौर पर मानक के रूप में स्थापित हो चुके व्यवहारों के अनुकूल ही किया जाता है। अगर वह व्यवहार सामाजिक व्यवस्था के अनुरूप नहीं हो तो इसे सामाजिक विचलन या एनॉमी माना जाता है। सामाजिक व्यवस्था व्यक्ति को सामाजिक व्यवहार करने को बाध्य करती है। व्यक्तियों के इसी सामाजिक व्यवहार से समाज में गतिशीलता बनी रहती है। सामाजिक दृष्टि से व्यक्ति मिलकर किसी सामान्य लक्ष्य की ओर उन्मुख होते हैं। इस तरह विभिन्न परिवार, राजनैतिक दल, नातेदारी समूह, यहां तक कि पूरे समाज जैसे बहुविध संबंधों को सामाजिक प्रणाली या सामाजिक व्यवस्था कहा जा सकता है।

सामाजिक प्रणाली के संबंध में पारसंस के विचार और क्रिया सिद्धांत उनके पूर्ववर्ती विचारकों के दृष्टिकोण का संश्लेषित रूप है। पारसंस ने अपनी पुस्तक 'द स्ट्रक्चर ऑफ सोशल एक्शन (1937)' में कई सामाजिक विज्ञानियों के कार्यों की समीक्षा की है। लेकिन उसने परैटो, दुर्खीम और मार्क्स वेबर के योगदान को ज्यादा महत्व दिया

टिप्पणी

है। इस पुस्तक में पारसंस ने इन विचारकों के योगदान के एक समन्वित रूप को प्रतिपादित करने का प्रयास किया है। पारसंस ने सामाजिक प्रणाली के सामान्य सिद्धांत की खोज को बढ़ावा दिया है। पारसंस ने पाया कि विभिन्न सिद्धांतों में क्रियात्मक सिद्धांत का विचार छिपा हुआ है।

सामाजिक प्रणाली की विशेषताएं

पारसंस के अनुसार किसी सामाजिक प्रणाली को निम्नांकित विशेषताओं से रेखांकित किया जा सकता है–

- किसी भी सामाजिक प्रणाली में आपस में होने वाली अंतर्क्रिया ही केन्द्रबिन्दु में होती है। ये अंतर्क्रिया दो या दो से अधिक व्यक्तियों के बीच हो सकती है।
- अंतर्क्रिया को हम ऐसी स्थिति के रूप में समझ सकते हैं जहां किसी और व्यक्ति या पात्र का होना आवश्यक हो। इन सभी व्यक्तियों में भावों और मूल्यों के बारे में निर्णय लेने की क्षमता होती है और ये मिलकर क्रिया के लक्ष्य की प्राप्ति की ओर उन्मुख होते हैं।
- सामाजिक प्रणाली एक सर्वसम्मति से कार्य करने वाली प्रणाली है। इसमें सामूहिक लक्ष्योन्मुखता होती है। साथ ही मूल्यों और मानदंडों पर भी एक सामान्य सहमति होती है।

5.4.1 सामाजिक प्रणाली के संदर्भ में क्रियात्मक ढांचा (दृष्टिकोण)

पारसंस ने सामाजिक प्रणाली के विषय में अपने पूर्ववर्ती विचारकों के योगदानों का तीन विचारधाराओं में वर्गीकरण किया है। ये हैं उपयोगितावादी, प्रत्यक्षवादी और आदर्शवादी दृष्टिकोण।

उपयोगितावादी दृष्टिकोण सामाजिक क्रिया को अत्यधिक व्यक्तिपरक दृष्टि से देखता है। इसमें केवल व्यक्ति को महत्व दिया गया है। परंतु सामाजिक जीवन एक सामूहिक समन्वयता का परिणाम है, इसे समझने में यह दृष्टिकोण सक्षम नहीं है।

प्रत्यक्षवादियों का मानना है कि सामाजिक पात्र अपनी स्थिति से अवगत होते हैं। इससे उनमें किसी प्रकार की त्रुटि नहीं रह जाती है। ये विचारक मानते हैं कि किसी विवरण या कथन का अभिप्राय उसकी जांच की पद्धति में ही छिपा हुआ है। पारसंस ने पाया कि वहीं सामाजिक सिद्धांत इस प्रत्यक्षवादी पद्धति पर खरा उतरता है जो व्यक्ति विशेष के दृष्टिकोण से इतर केवल मानव क्रिया की समुचित जानकारी देता है।

दूसरी तरफ इन दोनों दृष्टिकोणों से अलग आदर्शवादी ये मानते हैं कि सामाजिक क्रिया राष्ट्र या देश जैसी समाजवादी प्रवृत्ति या विचारों से प्रेरित होकर सम्पन्न होती है। ये दृष्टिकोण सामाजिक क्रिया की राह में उत्पन्न होने वाली सामान्य एवं वास्तविक बाधाओं पर ध्यान नहीं देता क्योंकि ये बाधाएं विचारों के स्वतंत्र रूप से क्रियान्वित होने में बाधक बनती हैं।

अपनी पुस्तक 'द स्ट्रक्चर ऑफ सोशल एक्शन' में पारसंस ने इस वर्गीकरण का उपयोग करते हुए ही अपने पूर्ववर्ती विचारकों की समीक्षा की है। पारसंस ने इस बात पर बल दिया कि उपयोगितावादी और आदर्शवादी दोनों ही दृष्टिकोण एकतरफा हैं। उपयोगितावादी दृष्टिकोण सामाजिक प्रणालियों को व्यक्ति की अंतःप्रेरणा का परिणाम

टिप्पणी

मानता है और एक क्रमबद्ध व्यवस्था के रूप में संगठित होकर सामने आता है। उदाहरण के लिए राज्य शासन व्यवस्था या बाजार व्यवस्था को ले सकते हैं। ये व्यवस्थाएं आपसी हितों के परस्पर संवेदात्मक संबंधों (contractual mutuality) पर आधारित हैं। पारसंस के अनुसार उपयोगितावादी समाज विज्ञानियों ने अपने दृष्टिकोण में नैतिक मूल्यों पर ध्यान नहीं दिया है। दूसरी तरफ आदर्शवादी दृष्टिकोण में मूल्यों और विचारों को अत्यधिक महत्व दिया गया है। यहां व्यक्ति का महत्व गौण हो जाता है। पारसंस ने कहा कि इन दोनों ही विचारधाराओं में व्यक्ति की अंतःप्रेरणा में पहले से ही स्थापित कुछ विशिष्ट मान्यताएं शामिल रहती हैं।

इस तरह पारसंस ने सभी दृष्टिकोणों पर अपना एतराज प्रकट किया। उसने कहा कि उपयोगितावादी केवल व्यक्तिपरक दृष्टिकोण है और सामूहिक रुचि की बात भूल जाता है। आदर्शवादी मूल्यों पर जोर जरूर देते हैं लेकिन मूल्यों पर पड़ने वाले वास्तविक दबाव को ध्यान में नहीं रखते। प्रत्यक्षवादी पूर्ण ज्ञान को महत्व देते हैं लेकिन वे मूल्यों, गलतियों और परिवर्तनों की भूमिका पर ध्यान नहीं दे पाते। इसके बाद पारसंस ने सामाजिक प्रणाली के लिए अपना एक अलग दृष्टिकोण सामने रखा जिसे उसने क्रियात्मक दृष्टिकोण कहा।

पारसंस का क्रियात्मक दृष्टिकोण (Action frame of reference)

सामाजिक प्रणाली के प्रति पारसंस ने एक समन्वयवादी दृष्टिकोण रखा है। उसने उपयोगितावादी दृष्टिकोण में शामिल अभिप्रेरणाओं के महत्व को समझा है और साथ ही मूल्यों के महत्व को भी रेखांकित किया है। अपने इस दृष्टिकोण का निर्माण सामाजिक क्रिया (social action) के सिद्धांत के रूप में किया है। पारसंस का कहना है कि सामाजिक क्रिया ही सामाजिक प्रणाली का मूल तत्व है।

हमने पहले भी पढ़ा कि पारसंस ने कहा है कि मानव व्यवहार विभिन्न तत्वों की उपस्थिति में सामाजिक क्रिया का रूप धारण कर लेता है। पारसंस ने व्यवहार के सामाजिक क्रिया में बदलने के लिए जो स्थितियां बताई हैं वे इस प्रकार हैं–

1. ये किसी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए किया जाए।
2. ये किसी विशिष्ट स्थिति में घटित हो।
3. सामाजिक मूल्यों और मानकों से नियंत्रित हो।
4. इसमें ऊर्जा अथवा अभिप्रेरणा का समन्वय हो।

इन सभी स्थितियों को हम पहले ही विस्तार से पढ़ चुके हैं। अपने सामाजिक क्रिया के सिद्धांत को समझाने के लिए पारसंस ने एक व्यक्ति के कार चला कर एक विशिष्ट कार्य को पूरा करने के लिए जाने का उदाहरण भी दिया है जिसकी विवेचना हम पहले ही कर चुके हैं। क्रिया के सम्पादित होने में विभिन्न मूल्यों का भी महत्व हमने देखा है।

पारसंस ने इसी सामाजिक क्रिया के सामूहिक योग से प्रणालियों के निर्माण की अभिकल्पना की है। उनके अनुसार क्रिया की इन प्रणालियों का भी तीन स्तरों पर वर्गीकरण किया जा सकता है–

1. व्यक्तित्व प्रणाली (personality system)

2. सांस्कृतिक प्रणाली (cultural system)

3. सामाजिक प्रणाली (social system)

टिप्पणी

व्यक्तित्व प्रणाली व्यक्ति के उन पहलुओं से संबंधित होती है जो किसी सामाजिक क्रिया को प्रभावित करते हैं। सांस्कृतिक प्रणाली में वास्तविक विश्वास, मूल्यों की मूर्त व्यवस्था और संप्रेषण के प्रतीकात्मक साधन शामिल हैं। वहीं सामाजिक प्रणाली व्यक्ति और व्यक्ति से बनने वाले सामूहिक संगठनों में आपस की अंतर्किया और उसके विभिन्न रूपों और तरीकों से संबंधित होती है।

5.4.2 सामाजिक प्रणाली का संगठन

सामाजिक प्रणाली में सामाजिक क्रिया के संगठन की आधारभूत अवधाराणात्मक इकाई को भूमिका (role) कहा जाता है। यही एकल व्यक्ति की क्रिया प्रणाली और सामाजिक प्रणाली के बीच विभाजन बिन्दु भी माना जाता है। पारसंस के अनुसार एक पात्र और दूसरे व्यक्ति के बीच एक परस्परता की आवश्यकता होती है। इसे भूमिका अपेक्षा (role expectation) कहा जाता है। यह अपेक्षा अभिप्रेरणात्मक उन्मुखता और मूल्यपरक उन्मुखता से नियंत्रित होती है। इनके विभिन्न प्रकारों के बारे में हम पहले ही अध्ययन कर चुके हैं।

अभिप्रेरणात्मक उन्मुखता (motivational orientation) वह स्थिति है जिसमें कोई क्रिया व्यक्ति की अभिप्रेरणाओं, बाहरी उपस्थितियों और योजनाओं को ध्यान में रखकर होती है। यह व्यक्ति की आवश्यकताओं, भावों और उसकी मूल्यांकन करने की शक्ति के आधार पर निर्देशित होती है।

मूल्यपरक उन्मुखता (value orientation) संबद्ध व्यक्ति के निर्णय लेने को निर्देशित करने वाले तत्वों से है। पारसंस के अनुसार व्यक्ति की सामाजिक क्रिया सही लक्ष्य की ओर सही दिशा में निर्देशित हो, यह बहुत महत्वपूर्ण है। समाज की मूल्य व्यवस्था और सांस्कृतिक विन्यास व्यक्ति की सामाजिक क्रिया को निर्देशित करते हैं। व्यक्ति के व्यवहार में मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक दोनों पहलू परस्पर एक दूसरे से जुड़े हुए हैं और एक दूसरे पर निर्भर होते हैं।

पारसंस के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति समाज में एक भूमिका अदा करता है। भूमिका का ये अर्थ है कि उसकी दूसरे व्यक्ति या व्यक्तियों के साथ परस्पर क्रिया होती है। इस परस्पर क्रिया में उससे विशेष प्रकार की भूमिका की अपेक्षा की जाती है।

सामाजिक प्रणाली में भूमिका का संस्थागत रूप

सामाजिक प्रणाली में भूमिकाओं का संस्थागत रूप देखने को मिलता है। किसी खास भूमिका के लिए समाज कुछ मूल्यों और अभिप्रेरणात्मक उन्मुखताओं को अपनी संस्कृति में आत्मसात कर लेता है। फिर यही उस भूमिका के मानक बन जाते हैं। फिर जब कोई सदस्य अपनी भूमिकाओं की उन्मुखता को उनके अदा करने के लिए समाज के मानकों को आत्मसात कर लेता है तो वो भूमिकाएं संस्थागत रूप ले लेती हैं। इन भूमिकाओं को समाज के द्वारा निर्धारित मानकों के अनुसार निष्पादित किए जाने के लिए हर समाज कुछ प्रतिबंध भी लागू करता है। ये प्रतिबंध दंड और पुरस्कार के रूप में होते हैं।

सामाजिक प्रणाली में सामूहिकता

टिप्पणी

सामूहिकता का तत्व किसी भी सामाजिक प्रणाली के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है। यह किसी सामाजिक प्रणाली की सीमा भी तय करता है। इससे ये तय होता है कि किसी सामाजिक प्रणाली का सदस्य कौन–कौन होगा। हर सामूहिकता की अपनी सदस्य सीमा होती है। ये नातेदारी, योग्यता, कौशल, धार्मिक विश्वास जैसे तत्वों से तय होती है। सीमा का अर्थ यहां उस विभाजन रेखा से है जिसके आधार पर सामाजिक प्रणाली एक अलग सत्ता या इकाई के रूप में कार्य करती है। सामूहिकता की सीमा हर स्थिति में अलग–अलग होती है। सामूहिकता केवल समाज के सदस्यों का समूह नहीं है। किसी श्रेणी को कुछ समान बातों के आधार पर निर्धारित किया जाता है, जैसे– लिंग, आयु, शिक्षा या कोई योग्यता आदि। यानी सामूहिकता कोई बाजार जैसी भौतिक स्थिति नहीं जहां कई व्यक्ति परिस्थितिवश एक दूसरे पर निर्भर होते हैं। सामूहिकता में बहुलता की विशेषता इसके सदस्यों की एकात्मकता में है। यह एकात्मकता समान मूल्यों के संस्थागत होने से पैदा होती है। जैसे निकट संबंधियों में सहयोग की भावना का होना। पारसंस के अनुसार समाज एक पूर्ण सामाजिक प्रणाली है जो आत्मपोषी है या आत्मनिर्भर है। इसके साथ ही वह किसी बाहरी सामाजिक प्रणाली पर आश्रित नहीं है। परंतु सामाजिक प्रणाली और समाज में अंतर है।

सामाजिक प्रणाली की संरचना के प्रकार

पारसंस ने सामाजिक प्रणाली और सामाजिक संरचना की अवधारणा में अंतर किया है। सामाजिक प्रणाली सिद्धांतों का समग्र रूप है जो सामाजिक अंतःक्रिया की भूमिकाओं और संबंध तत्वों का संगठन होता है। वहीं सामाजिक संरचना उस विशिष्ट प्रकार को प्रतिबिम्बित करती है जिसमें अंतःक्रिया की स्थिति में ये भूमिकाएं साथ–साथ संघटित होती हैं। जिस प्रकार परिवार एक सामाजिक प्रणाली है परंतु इसकी सामाजिक संरचना के अध्ययन के लिए अनुभवाश्रित रिश्ते–नातों की भूमिकाओं के समूह के रूप में देखा जा सकता है। इसी तरह आर्थिक प्रणाली भी सामाजिक प्रणाली का उदाहरण है किन्तु इसकी संरचना उत्पादन, विपणन और प्रबंध प्रणाली से संबंधित है।

पारसंस ने मुख्य रूप से चार प्रकार की सामाजिक प्रणालियों का वर्णन किया है–

1. **सार्वभौमवादी–अर्जित विन्यास**– पारसंस ने यह एक ऐसी सामाजिक प्रणाली की संरचना मानी है जहां मूल्यों पर आधारित विधिसम्मत और तर्कसम्मत उपलब्धियों को प्रश्रय मिलता है। ऐसा आमतौर पर आधुनिक समाजों में देखने को मिलता है। यहां समानता, लोकतंत्र, कार्य करने की स्वतंत्रता, प्रबंध व्यवस्था जैसे नैतिक नियामक मूल्य कार्य करते हैं। ऐसी सामाजिक प्रणाली में जाति या इस तरह के कोई और विशिष्ट मूल्यों पर समाज में विभाजन देखने को नहीं मिलता है। पारसंस ने अमेरिकी समाज को ऐसी सामाजिक प्रणाली संरचना का सबसे अच्छा उदाहरण माना है।
2. **सार्वभौमवादी–विन्यास**– यह ऐसी सामाजिक प्रणाली की संरचना है जहां भूमिकाओं के निष्पादन में तो विधि सम्मत तर्कसंगतता आधारित मूल्यों को बढ़ावा दिया जाता है, लेकिन जब अधिकार देने का समय होता है तो वहां समानता या लोकतंत्र दिखाई नहीं देता। अपनी जाति के आधार पर या ऐसे ही किसी विशिष्ट

गुण के कारण व्यक्ति का चुनाव कर लिया जाता है। पारसंस ने अपने तर्क को स्पष्ट करने के लिए नाजी जर्मनी के समाज का उदाहरण प्रस्तुत किया है।

टिप्पणी

3. **विशिष्टतावादी–अर्जित विन्यास–** सामाजिक प्रणाली की ये वो संरचना है जहां पारिवारिक मूल्यों की पराकाष्ठा देखने को मिलती है। इसमें पूर्वजों के प्रति आस्था और जुड़ाव, पारिवारिक मूल्यों में विश्वास और रिश्तेदारी में घनिष्ठता होती है। हालांकि ऐसी स्थिति एक पुरुष प्रधान संरचना को प्रश्रय देती है। पारसंस के अनुसार चीनी समाज में ऐसी संरचना स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। इसमें पेशे, अधिकार, प्रबंध व्यवस्था आदि में सार्वभौमवादी सिद्धांत के स्थान पर विशिष्टतावादी सिद्धांतों में जन्म और रिश्तेदारी के संबंधों पर अधिक जोर दिया जाता है। परंतु महत्वपूर्ण बात यह है कि ऐसे समाज में भूमिकाओं के निर्वहन में उपलब्धि और औचित्य के नियमों को भी पूरा महत्व दिया जाता है। ये विशेषताएं कन्फ्यूशियस धर्म का हिस्सा थीं जो पुरातन चीन का राजधर्म था।

4. **विशिष्टतावादी–प्रदत्त विन्यास–** सामाजिक प्रणाली की ये वो संरचना है जहां भूमिकाओं का संगठन ऐसे मूल्यों की दृष्टि से किया जाता है जो रिश्ते–नातों और दूसरे प्रदत्त अभिलक्षणों से संबंधित हैं। इस प्रकार की सामाजिक संरचना में व्यक्तिगत प्रयास से होने वाली उपलब्धि को प्रोत्साहित नहीं किया जाता है। ऐसी स्थिति में अभिव्यक्तिपरक और कलात्मक उन्मुखता का पक्ष अधिक सशक्त होकर उभरता है। ऐसी स्थिति परंपरावाद को भी समर्थन देती है।

5.4.3 समाजीकरण की प्रक्रिया

पारसंस समाज व्यवस्था की व्यापक संरचनाओं और उनके अंतर्संबंधों को आकलित करना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने समाजीकरण की प्रक्रिया की विस्तार से चर्चा की है। पारसंस की प्रकार्यात्मक पूर्व आवश्यकताओं की अवधारणा से यह स्पष्ट है कि समाज व्यवस्था के अंदर एक शृंखला स्थापित करने और सामाजिक मूल्यों और आवश्यकताओं की प्राथमिकता का एकीकरण पारसंस का प्रमुख उद्देश्य था। समाजीकरण की सफल प्रक्रिया में नियम और मूल्य अंतरीकृत किए जाते हैं। इस तरह ये नियम और मूल्य व्यक्ति की चेतना का अंग बन जाते हैं। इसका फल ये होता है कि व्यक्ति जब अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कर्तव्य करता है तो वास्तविकता में वह समाज व्यवस्था के उद्देश्यों को पूरा करता है। समाजीकरण के जरिए व्यक्ति जिन मूल्यों को स्वयं में ग्राह्य करता है वे समाज के लिए प्रकार्य होते हैं। पारसंस ने यह कहा कि व्यक्ति निष्क्रिय रूप से भी समाज के नियमों और मूल्यों को समाजीकरण की वजह से अपना लेता है। समाजीकरण पूरे जीवन भर चलने वाली प्रक्रिया है। एक शिशु, समाजीकरण की वजह से ही अपने सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्यों के साथ जीना सीख पाता है। इस संरक्षणवादी प्रक्रिया में सामाजिक अनुरूपता तो जरूर होती है परंतु इसमें व्यक्तिगत भिन्नता भी होती है। इन व्यक्तिगत भिन्नताओं की वजह से मूल्यों और कर्तव्यों से विचलन भी नजर आता है। इस वजह से सामाजिक नियंत्रण की आवश्यकता पड़ती है। समाजीकरण, पारसंस के अनुसार सबसे प्रभावी नियंत्रण है। सकारात्मक समाजीकरण नियंत्रण की जरूरत को अप्रभावी बना देता है।

टिप्पणी

किसी भी सामाजिक व्यवस्था में मानव का सामाजिक व्यवहार व्यक्ति की मूल प्रवृत्ति से कहीं ज्यादा समाज की अंतःक्रिया से निर्धारित होता है। व्यक्ति को समाज में विभिन्न व्यक्तियों के साथ संबंध और अंतःक्रिया करनी होती है। इन अंतःक्रियाओं से व्यक्ति समाज के विभिन्न नियमों और मूल्यों को सीखता है। सरल भाषा में कहें तो सीखने की यही प्रक्रिया समाजीकरण होती है। समाजशास्त्री इस सीखने की क्रिया को अत्यंत महत्वपूर्ण मानते हैं। जब एक शिशु जन्म लेता है तो वह सामाजिक रीति–रिवाज, प्रथाओं, मूल्यों और संस्कृति से अनभिज्ञ होता है। धीरे–धीरे सामाजिक संपर्क में आने की वजह से वह इन तमाम बातों को अपने अंदर ग्रहण करता है। इस प्रकार समाजीकरण की प्रक्रिया एक मानव जीव को सामाजिक प्राणी में बदल देती है।

समाजशास्त्र में समाजीकरण की अवधारणा उन प्रक्रियाओं के लिए प्रयोग होती है जहां व्यक्ति का परिचय उसके सामाजिक सांस्कृतिक संसार से होता है। यानी समाजीकरण वह विधि है जो किसी समाज विशेष की संस्कृति को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तांतरित करती है। इसके जरिए व्यक्ति समाज के मूल्यों, जनरीतियों, लोकाचारों, आदतों और सामाजिक उद्देश्यों को सीखता है।

जन्म के बाद शिशु के विकास के कई चरण होते हैं। समाज में रहने से ही उसकी सभी शारीरिक और मानसिक क्षमताओं का समुचित विकास हो पाता है। साथ ही वह सामाजिक व सांस्कृतिक विशेषताओं को ग्रहण करने और उनके साथ अनुकूलन की क्षमता का विकास भी कर पाता है। ऐसे कई उदाहरण सामने आए हैं जहां किसी कारणवश जब शिशु को जन्म के पश्चात् सामाजिक गतिविधियों से दूर रखा गया तो उसके जैविकीय और मानसिक विकास दोनों की गति ठहर गई।

समाजीकरण में सहायक तत्व

समाजीकरण जीवनपर्यन्त चलने वाली एक क्रिया है। व्यक्ति जन्म के समय से ही कई विशेषताएं लेकर पैदा होता है। यही गुण उसके समाजीकरण की प्रक्रिया में सहायक बनते हैं। समाजीकरण की प्रक्रिया में मुख्य रूप से चार तत्व अत्यंत सहायक सिद्ध होते हैं–

1. **सहज क्रियाएं** (Reflexes)– कई शारीरिक क्रियाएं स्वचालित और अपरिवर्तनीय होती हैं। जैसे संपूर्ण स्नायु तंत्र एक सहज क्रिया है जिससे सांस लेना और दिल धड़कने जैसी क्रियाएं हो पाती हैं। ये स्वचालित क्रियाएं हैं जो स्वयं होती हैं। ये सीखी नहीं जातीं। जन्म के समय व्यक्ति में सिर्फ सहज क्रियाएं ही मौजूद होती हैं। ये सहज क्रियाएं मूल परिस्थिति में समाज का जैविक आधार होती हैं।
2. **मूल प्रवृत्ति** (Instincts)– व्यक्ति की कई क्रियाएं ऐसी होती हैं जो उसकी मूल प्रवृत्ति कही जा सकती हैं। इनका उद्‌गम हमारी जैविक प्रेरणा से होता है। इनके कार्यान्वयन में बाह्य संसार के ज्ञान की भी आवश्यकता पड़ती है। जन्म के समय व्यक्ति में कोई भी मूल प्रवृत्ति नहीं होती, उसके सिर्फ आंशिक तत्व विद्यमान होते हैं। इन मूल प्रवृत्तियों की उपस्थिति में ही व्यक्ति समाज के अन्य मूल्यों और नैतिकताओं को ग्रहण करता है।
3. **प्रेरणाएं** (Urges)– किसी भी व्यक्ति की कुछ आवश्यकताएं होती हैं। जब तक तनाव को कम करने योग्य कोई उद्दीपन इन्हें प्राप्त नहीं होता तब तक तनाव और

अशांति बढ़ती रहती है। इस प्रकार प्रेरणाएं व्यवहार की पार्श्वभूमि में रहकर उस कार्य को करने की गति प्रदान करती हैं। इन्हें समाजीकरण का आरंभ बिन्दु भी माना जाता है।

टिप्पणी

4. **सामर्थ्य** (Capacities)– मनुष्य का मानसिक और शारीरिक सामर्थ्य भी समाजीकरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। शारीरिक सामर्थ्य तो पहली शर्त है ही लेकिन मानसिक सामर्थ्य ही समाजीकरण के सोपान विस्तृत करता है। शारीरिक सामर्थ्य की एक सीमा है। परंतु मानसिक सामर्थ्य या बुद्धि उसकी शक्ति की पूरक बन जाती है। इसी कारण मनुष्यों का विकास पशुओं से कहीं अधिक हुआ है जो शारीरिक रूप से मनुष्यों से अधिक शक्तिशाली होते हैं। संस्कृति का विकास करके शारीरिक सामर्थ्य की परिधि को बढ़ाया जा सकता है। समाजीकरण की नई पद्धतियों से मनुष्य की बौद्धिक क्षमता का कितना विकास हो सकता है इसकी कोई सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती है।

समाजीकरण के सोपान (Stages of Socialization)– मनोवैज्ञानिक और समाज शास्त्रियों ने समाजीकरण की कई अवस्थाओं का उल्लेख किया है। परंतु पारसंस ने मुख्य रूप से समाजीकरण की चार अवस्थाओं को महत्वपूर्ण माना है। ये वे अवस्थाएं हैं जिनसे गुजरकर कोई शिशु समाज के अन्य व्यक्तियों की तरह व्यवहार करना, सामाजिक दायित्वों का निर्वाह करना और अपने व्यक्तित्व का विकास करना सीखता है। पारसंस ने जिन सोपानों का उल्लेख किया है उनमें प्रथम तीन सोपानों में समाजीकरण की प्रक्रिया में परिवार की महत्वपूर्ण भूमिका को माना है। विभिन्न समाजों में अलग–अलग स्वरूप में होने के बावजूद मूल परिवार सार्वभौमिक है। परिवार की चार प्रमुख भूमिकाओं में पति–पिता, पत्नी–माता, पुत्र–भाई और पुत्री–बहन होते हैं जिनके सार्वभौमिक लक्षण समान होते हैं। परिवार में पीढ़ीगत विभाजन पाया जाता है, जिस कारण अंतःक्रिया विभिन्न पीढ़ियों में भिन्न–भिन्न पाई जाती है। इसका अर्थ ये हुआ कि विभिन्न पीढ़ियों में मूल्यों और नियमों के विचारों में भिन्नता विद्यमान हो सकती है। इसके साथ ही परिवार में श्रम–विभाजन, लैंगिक विभाजन भी सार्वभौमिक लक्षण हैं।

समाजीकरण की प्रक्रिया शिशु के जन्म के बाद से ही शुरू हो जाती है। मनुष्य की विशिष्ट शारीरिक संरचना और विकसित मस्तिष्क के कारण मानव में सभ्यता और संस्कृति के निर्माण की क्षमता होती है। मनुष्य में सीखने के गुण होते हैं और इन्हीं गुणों के कारण समाज में सीखकर वह व्यक्तित्व का विकास करता है। इनका विवरण इस प्रकार है–

1. **मौखिक अवस्था** (Oral Stage)– जन्म के समय से ही शिशु को संघर्ष करना पड़ता है। वह अपनी सभी शारीरिक आवश्यकताओं के लिए दूसरों पर निर्भर रहता है। वह अपनी सभी आवश्यकताएं मौखिक रूप से विभिन्न आवाजें निकाल कर, जैसे रोना या हाव–भाव मात्र से ही प्रकट कर पाता है। इस अवस्था में वह अपनी मां के अतिरिक्त किसी को नहीं पहचानता। समाजीकरण का यह प्रथम चरण होता है जहां शिशु अपने परिवार पर पूर्णतः निर्भर होता है। यह अवस्था जन्म से लेकर एक–डेढ़ साल तक चलती है।
2. **शौच अवस्था** (Anal Stage)– यह समाजीकरण का दूसरा स्तर होता है। यह अवस्था मौखिक अवस्था के बाद बच्चे की तीन–चार साल की उम्र तक चलती

टिप्पणी

है। इस अवस्था में बच्चा परिवार के दूसरों लोगों से परिचय बढ़ाता है। इसके साथ ही उसे कुछ मूल व्यवहारों का प्रशिक्षण देने की कोशिश की जाती है। उसे यह सीख दी जाती है कि बच्चे को कब और कहां शौच करना है। साथ ही सफाई और गंदगी के दूसरे तरीके भी सिखाए जाते हैं। बच्चे से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने को थोड़ा बहुत संभालना सीख जाए। मां के साथ उसका आत्मत्य बढ़ता है। इस अवस्था में मां बच्चे के लिए एक साधक की तरह कार्य करती है। बच्चे के ज्यादातर कार्यों के लिए मां ही उत्तरदायी होती है। बच्चा इस प्रक्रिया में सहयोग और प्यार देकर भावात्मक सहयोग देता है। इसी अवस्था में बच्चा अपने परिवार और समाज के सामान्य मूल्यों से परिचित होता है और उसी अनुसार अपने आचरण को ढालना सीखता है। बच्चा अपने परिवार के अन्य सदस्यों के संपर्क में आता है और उनसे उसका व्यवहार प्रभावित होता है। उसे क्रोध, स्नेह, विरोध और सहयोग जैसे भाव समझ में आने लगते हैं। इस अवस्था में बच्चा थोड़ा–बहुत चलने और बोलने लगता है और उसके परिवार के साथ उसके संबंधों का विकास होता है।

3. **तादात्मीकरण अवस्था** (Oedipal Stage)– यह अवस्था लगभग चार वर्ष से शुरू होकर बच्चे की बारह–तेरह साल की उम्र तक चलती है। इस दौरान बच्चा परिवार के पूर्ण सदस्य की तरह व्यवहार करना सीख जाता है। इस अवस्था में बच्चा लैंगिक भेद को समझने तो लगता है परंतु यौन संबंधी प्रकार्यों का उसे ज्ञान नहीं होता। परंतु सामाजिक व्यवहार को समझकर वह अपने व्यवहार को लैंगिक भेद के अनुसार ढालना सीख जाता है। बच्चे में लैंगिक भेद को स्पष्ट करने के लिए कुछ सांस्कृतिक तत्वों का भी योगदान होता है। जैसे बालक और बालिका को उसके लिंग के अनुसार अलग–अलग वस्त्र पहनाए जाते हैं।

   इस अवस्था में तादात्मीकरण स्थापित करने की प्रक्रिया दो रूपों में होती है। पहला– बच्चे का अपनी सामाजिक भूमिका से तादात्मीकरण और दूसरा– सामाजिक समूह से बच्चे का तादात्मीकरण। इसी अवस्था में बच्चा अपनी सामाजिक भूमिका को समझता है और उसे निभाने का प्रयत्न करता है। इसके लिए वह संबंधित योग्यता प्राप्त करने की भी कोशिश करता है। जैसे– बच्चा अपने पिता, भाई व अन्य संबंधियों की आशाओं के अनुरूप ही अपनी भूमिका निभाना चाहता है। इस तरह बच्चा अपनी भूमिका को अंतरीकृत करना सीखता है। दूसरी तरफ, वह अपने समूह से तादात्म्य स्थापित करना भी सीखता है। इसके लिए वह अपने लिंग के साथियों, स्कूल के साथियों और मित्रों के अनुरूप कार्य करता है। बच्चे की तादात्मीकरण स्थापित करने की प्रक्रिया के बेहतर निर्वहन के लिए समाजशास्त्री एक बेहतर पारिवारिक वातावरण को महत्वपूर्ण तत्व मानते हैं।

4. **किशोरावस्था** (Adolescence Stage)– किशोरावस्था सामान्यतः यौवनारम्भ के समय से शुरू होती है। यह एक संक्रमणकाल है। इस दौरान किशोर में कई तरह के शारीरिक परिवर्तन होते हैं और वह पूर्ण युवक या युवती के रूप में परिवर्तित होता है। इन परिवर्तनों के साथ उसमें कई तरह के भावात्मक बदलाव भी देखने को मिलते हैं। इन परिवर्तनों के कारण कई बार यह अवस्था तनाव की

टिप्पणी

स्थिति भी उत्पन्न करती है। किशोर खुद को अधिक से अधिक स्वतंत्र करना चाहता है। परंतु सामाजिक और पारिवारिक नियंत्रण भी उसके विकास के लिए आवश्यक होते हैं। इस स्वतंत्रता के भाव और नियंत्रण की स्थिति से सामंजस्य बैठाने में कई बार तनाव के क्षण भी आते हैं। इस अवस्था में इतनी परिपक्वता जरूर आ जाती है जिससे किशोर समाज के मानदंडों को समझना और उनकी तरह व्यवहार करना सीख जाता है। इस तरह किशोरावस्था शारीरिक और मानसिक रूप से परिवर्तन का काल होता है और इस दौरान सामंजस्य के विभिन्न चरणों से किशोर को गुजरना होता है।

इस तरह समाजीकरण ही बच्चे को समाज का उपयोगी सदस्य बनाता है और उसे सामाजिक प्रौढ़ता प्रदान करता है। समाज के सांस्कृतिक तत्व बच्चे से जिस व्यवहार प्रतिमान की प्रत्याशा रखते हैं वह जन्मजात नही होता बल्कि बहुत–सी अवस्थाओं में वह जैविक प्रवृत्तियों के अनुरूप होता है। हालांकि कई बार बच्चे को विभिन्न प्रतिबंधों से भी गुजरना होता है। उसे कुछ नियमों को इसलिए स्वीकार करना पड़ता है क्योंकि ये नियम उससे श्रेष्ठ व्यक्तियों ने तैयार किए हैं। समाज के दृष्टिकोण से यह महत्वपूर्ण नहीं होता कि उसे समस्त प्रतिबंधों से मुक्त कर दिया जाए बल्कि यह आवश्यक होता है कि उसे लोकाचार सिखाया जाए जो उसे प्रौढ़ जीवन के सामाजिक पद के लिए तैयार करे।

5.4.4 पारसंस की धर्म के प्रति विश्वास प्रणाली

पारसंस ने धर्म को जीवंत माना है और कहा है कि धर्म हमेशा ही जीवंत रहेगा। पारसंस ने संस्कृति के संदर्भ में धर्म की चर्चा की है। पारसंस का मानना था कि मूल्यों पर आम सहमति समाज के लिए अत्यंत आवश्यक है। धर्म मूल्य सहमति में योगदान देता है। पारसंस ने कहा कि धर्म विश्वास की शक्ति को बढ़ाता है और जीवन में आने वाली कठिनाइयों से मुकाबला करने की आस्था देता है। यह दुख झेलने में व्यक्ति की सहायता करता है। पारसंस ने कहा कि मानव जीवन अनिश्चित है। ऐसे में धर्म आत्मविश्वास पैदा करने वाला टॉनिक है। पारसंस ने धर्म से उत्पन्न विश्वास और आस्था को सामाजिक संस्कृति का अंग माना है। धार्मिक विश्वास जीवन को अर्थ प्रदान करते हैं। जीवन के कई ऐसे प्रश्न हैं जो अनुत्तरित होते हैं। व्यक्ति अपनी धार्मिक आस्था के जरिए उन उत्तरों को प्राप्त करता है और मन में सुख का अनुभव करता है। पारसंस के अनुसार धर्म में निरंतरता की अपार संभावना है।

5.4.5 प्रकार्यात्मक पूर्वापेक्षाएं या एजिल मॉडल

हर सामाजिक व्यवस्था अंतर्क्रियाओं पर आधारित होती है। पारसंस का मानना था कि हर सामाजिक व्यवस्था अपनी सीमाओं में ही कार्य करती है। ये सीमा रेखा सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए आवश्यक है और व्यवस्था अपने अस्तित्व को बचाए रखने के लिए इस सीमा को हमेशा कायम रखती है। सामाजिक व्यवस्था को खुद को कायम रखने के लिए अपने आंतरिक संगठन और बाहरी वातावरण के बीच एक संतुलन बना कर रखना जरूरी होता है। पारसंस के विचार में हर सामाजिक प्रणाली में आत्म समन्वयकारी और अपने रखरखाव की क्षमता है। इन्हीं समन्वयकारी प्रक्रियाओं को प्रकार्य (function) कहते हैं।

कुछ ऐसे प्रकार्य भी हैं जिनके बिना सामाजिक प्रणाली अपना अस्तित्व कायम नहीं रख सकती। सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने वाली इन्हीं समन्वयकारी प्रक्रियाओं को पारसंस ने 'प्रकार्यात्मक पूर्वापेक्षाएं' कहा है।

टिप्पणी

पारसंस ने चार पूर्वापेक्षाएं या पूर्व आवश्यकताएं निरुपित की हैं। ये सभी आवश्यक शर्तें हैं–

1. अनुकूलन (Adaptation)
2. लक्ष्य प्राप्ति या उद्देश्य पूर्ति (goal attainment)
3. एकीकरण (integration)
4. विन्यास अनुरक्षण या तनाव एवं प्रतिमान प्रबंध (latency)

1. **अनुकूलन** (Adaptation)– पारसंस कहते हैं कि किसी भी सामाजिक व्यवस्था में अनेक स्थितियां ऐसी आती हैं जिनमें व्यक्ति का नियंत्रण नहीं होता है। ऐसी परिस्थितियां वो पसंद नहीं करता। लेकिन उसे अपना कर्तव्य पूरा करना होता है इसलिए वो इन परिस्थितियों के साथ सामंजस्य बैठाते हुए अपनी क्रियाओं को पूरा करता है। इसे ही अनुकूलन कहा जाता है। व्यक्ति अपनी और संगठन की न्यूनतम जरूरतों का ध्यान रखते हुए अनुकूलन कर अपनी क्रिया को अंजाम देता है। अनुकूलन प्रणाली के बाहरी तत्वों की ओर उन्मुख होता है।
2. **लक्ष्य प्राप्ति या उद्देश्य पूर्ति** (goal attainment)– किसी भी सामाजिक व्यवस्था में व्यक्ति या पात्र के कई हित होते हैं। इन हितों की पूर्ति होना व्यक्ति की अपेक्षा होती है। यही उसके लिए अभिप्रेरणा भी बनते हैं। संगठन और व्यक्ति के कई समान हित भी होते हैं। जितना ज्यादा इन हितों की पूर्ति होती है उतना ज्यादा ही व्यक्ति उस व्यवस्था से जुड़ाव महसूस करता है। भावनात्मक लगाव और सुरक्षा का एहसास उसे इसी प्रकार मिलते हैं। हितों की लक्ष्य पूर्ति होना व्यवस्था को बनाए रखने की पूर्व शर्त है। सामाजिक प्रणाली में शक्ति और अधिकार संरचना का संगठन उस संगठन का उदाहरण है जिसमें लक्ष्य प्राप्ति का जोरदार प्रयास होता है।
3. **एकीकरण** (integration)– एकीकरण की वजह से ही किसी व्यवस्था को टूटने और बिखराव से रोकने में मदद मिलती है। इससे सुसंगति, एकात्मकता और समन्वय स्थापित होता है। किसी सामाजिक व्यवस्था में यह कार्य सांस्कृतिक और नैतिक मूल्य करते हैं। सांस्कृतिक प्रणाली और इससे संबंधित संस्थाएं वैसे तत्व हैं जो व्यवस्था का एकीकरण करते हैं। व्यवस्था के इस एकीकरण की वजह से ही व्यक्ति एकता के सूत्र में बंधा रहता है और खुद को सुरक्षित समझता है।
4. **विन्यास अनुरक्षण या तनाव एवं प्रतिमान प्रबंध** (latency)– किसी भी सामाजिक व्यवस्था में तनाव मुक्ति एक आवश्यक तत्व होता है। सामाजिक व्यवस्था की क्रियाएं और अंतर्क्रियाएं अनेक तनावों को जन्म देती हैं। इन तनावों से मुक्ति व्यवस्था को और सुदृढ़ और सक्रिय बनाती है। लोगों के तनाव दूर करने के लिए सामाजिक व्यवस्था कई साधन अपनाती है। व्यक्तिगत और सामूहिक भावना का ध्यान रखते हुए व्यवस्था कई नियम और उपनियम भी

बनाती है। तनाव प्रबंध से सामाजिक प्रणाली में अभिप्रेरणा ऊर्जा का संग्रह बना रहता है। यह कार्य सामाजिक प्रणाली के सदस्यों के समाजीकरण की प्रक्रिया से पूरा होता है। समाजीकरण की प्रक्रिया विशिष्ट मूल्यों, प्रतीकों और रुचियों–आदतों को अपनाने में मदद करती है।

टिप्पणी

5.4.6 विन्यास प्रकारांतर या प्रतिमान चर

विन्यास प्रकारांतर या संरचनात्मक विकल्प या प्रतिमान चर दरअसल सामाजिक व्यवस्था की संरचना में उपलब्ध विकल्पों की मौलिक विवेचना है। कर्ता को उपलब्ध दो विकल्पों में से एक को अपने व्यवहार में चयनित करना पड़ता है।

हमने देखा कि भूमिका सामाजिक प्रणाली का महत्वपूर्ण तत्व है। इसके निष्पादन के फलस्वरूप तनाव उत्पन्न होता है। यह तनाव इस बात पर निर्भर करता है कि पात्र या व्यक्ति द्वारा किस हद तक अपनी भूमिका को आत्मसात किया गया या अपेक्षित मूल्यों को उसने किस हद ग्रहण किया। भूमिका निष्पादन में हर व्यक्ति को कई दुविधाओं का सामना करना पड़ता है। ये दुविधाएं व्यक्ति की पसंद और आवश्यकताओं से उत्पन्न होने वाले तनाव को प्रदर्शित करती हैं। पारसंस के अनुसार इन दुविधाओं का स्वरूप दो भागों में बंटा हुआ है। इससे पहले कि व्यक्ति किसी क्रिया का निष्पादन करे, उसे दो विकल्पों में से एक को चुनना होता है। यानी उसके पास विकल्पों की दुविधा रहती है या कहें कि विकल्पों में चयन का अवसर रहता है। इन प्रतिमान चरों में व्यक्ति के सामने किस प्रकार के प्रतिमान चरों का चुनाव किया जाए ये सवाल बना रहता है। विभिन्न समाजों और संस्कृतियों के द्वारा व्यक्ति को मार्गदर्शन मिलता है कि उसके लिए किस प्रकार का प्रतिमान उचित है।

प्रतिमान चर में दो में से किसी एक विकल्प का ही चुनाव संभव है। जैसे व्यक्ति सार्वभौम मूल्यों और विशिष्ट मूल्यों में से किसी एक का ही चुनाव कर सकता है। पारसंस ने पांच विन्यास प्रकारांतर या प्रतिमान चर बताए हैं–

1. **भावात्मक (affectivity) बनाम भावात्मक तटस्थता (affective neutrality)**– समाज में जिन अधिकांश भूमिकाओं को करने की व्यक्ति से अपेक्षा की जाती है वे चुनाव करने की कठिन समस्या उत्पन्न करती हैं। भावात्मक और भावात्मक तटस्थता का संबंध भी भूमिका के निष्पादन में होने वाली दुविधा से है। संवेगात्मक दृष्टि से या संवेगात्मक तटस्थता से दुविधा उत्पन्न होती है। किसी सामाजिक व्यवस्था में व्यक्ति का व्यवहार यदि अपनी भावनाओं से अधिक संचालित होता है तो वह भावात्मक प्रतिमान है। लेकिन यदि केवल बौद्धिक या तर्क शक्ति के आधार पर भावात्मक लगाव न रखते हुए व्यवहार किया जाए तो वह भावात्मक तटस्थता होगी।

   जैसे किसी मां–बच्चे के संबंधों में अनिवार्य रूप से भावात्मक उन्मुखता दिखाई देती है। लेकिन वहीं एक मरीज और चिकित्सक के संबंधों में भावात्मक तटस्थता रहती है। ऐसा इसलिए क्योंकि सही उपचार के लिए चिकित्सक में भावात्मक तटस्थता आवश्यक है। इसी प्रकार अपने नजदीकी रिश्तेदारों या मित्रों के साथ अमूमन भावात्मक व्यवहार सामने आता है। परंतु कार्यालय में या किसी राजनीतिक संगठन के सदस्यों के बीच आमतौर पर भावात्मक तटस्थता दिखाई देती है।

टिप्पणी

2. **आत्म उन्मुखता (self-orientation) बनाम सामूहिक उन्मुखता (collective orientation)**– आत्म–उन्मुखता और सामूहिक उन्मुखता के विकल्प में मुख्य प्रश्न अमूमन नैतिक मानक का होता है। कई बार कार्य निष्पादन के दौरान व्यक्ति के सामने अपना व्यक्तिगत हित या सामूहिक हित का प्रश्न खड़ा होता है। ऐसे में व्यक्ति को चुनाव करना पड़ता है कि वो स्वार्थ की पूर्ति को प्राथमिकता देगा या व्यापक हितों का ध्यान रखते हुए सामूहिकता का चुनाव करेगा। सामूहिक हित के विकल्प के चुनाव में परोपकार या त्याग की भावना भी निहित होती है। अमूमन जिस सामाजिक व्यवस्था में उच्च मानवीय मूल्यों को प्रश्रय दिया जाता है वहां व्यक्ति परोपकार और त्याग की भावना से भरे विकल्पों का चुनाव करना पसंद करते हैं। दूसरी ओर आधुनिक भौतिकवादी समाज में जहां भौतिकता ही मुख्य आधार मानी जाती है व्यक्ति अपने व्यक्तिगत हितों का पहले चुनाव करता है।

3. **सार्वभौमवाद (universalism) बनाम विशिष्टतावाद (collective orientation)**– सार्वभौमवाद और विशिष्टतावाद प्रतिमान चर उस दुविधा को निरुपित करते हैं जहां संज्ञानात्मक और संवेगात्मक मानकों के मूल्यांकन में संबंध होता है। इसे इस तरह भी समझा जा सकता है कि किसी कार्य को करने में अगर कोई व्यक्ति रिश्तेदारी या व्यक्तिगत संबंधों की परवाह न करते हुए केवल कानून सम्मत या नीति सम्मत क्रिया करे तो यह सार्वभौमवाद है। वहीं अगर कोई अपने किसी व्यक्तिगत संबंध के लिए जैसे किसी रिश्तेदार को फायदा पहुंचाने के लिए कानूनी मानदंडों का उल्लंघन करे तो इसे विशिष्टतावाद माना जाएगा। पारसंस ने तर्क दिया था ऐसे समाज में जहां नौकरशाही, औपचारिक संगठनों और आधुनिक संस्थाओं की व्यापक भूमिका है वहां सार्वभौमवाद और विशिष्टतावाद के बीच अक्सर दुविधा की स्थिति बन जाती है।

4. **प्रदत्त (ascription) बनाम अर्जित (achievement)**– प्रदत्त बनाम अर्जित प्रतिमान चर में व्यक्ति की दुविधा इस बात पर होती है कि व्यक्ति अपने विषय को गुणवत्ता के आधार पर क्रियान्वित करता है या नहीं। जैसे अगर उसके जिम्मे किसी की नियुक्ति का भार हो तो वह उस पद की योग्यता और कौशल के अनुसार उसकी नियुक्ति करेगा या कौशल में कम होने के बावजूद अपनी जाति के किसी व्यक्ति की नियुक्ति कर लेगा। जाति, लिंग, रिश्तेदारी आदि के प्रभाव के अंतर्गत व्यक्ति किसी क्रिया का निष्पादन करता है तो यह प्रदत्त व्यवहार है। वहीं कौशल के आधार पर क्रिया निष्पादन होता है तो यह अर्जित व्यवहार है।

5. **विनिर्दिष्टता (specificity) बनाम प्रसरणता (diffuseness)**– विनिर्दिष्टता और प्रसरणता प्रतिमान चरों का संबंध भूमिका निष्पादन के विषय क्षेत्र से है। दो व्यक्तियों के बीच की सामाजिक क्रिया की प्रकृति किस प्रकार की है इस आधार पर इन प्रतिमान चरों का पता चलता है। जैसे किसी चिकित्सक को अपने मरीजों की राजनीतिक या सामाजिक पृष्ठभूमि समझने की कोई जरूरत नहीं होती। चिकित्सक का इलाज का कार्य बहुत विशिष्ट प्रकृति का है। वहीं दो मित्रों या रिश्तेदारों के बीच का अन्योय क्रिया का संबंध सामान्य और व्यापक प्रकृति का है।

टिप्पणी

पारसंस के अनुसार विन्यास प्रकारांतर या प्रतिमान चर किसी भी सामाजिक प्रणाली में अंतःक्रियाओं और व्यक्ति की भूमिका और उससे अपेक्षा को निरुपित करते हैं। ये एक व्यापक निर्देश भी देते हैं जिसके आधार पर सामाजिक प्रणाली के सदस्य अपनी भूमिका का चुनाव करते हैं। इनसे हमें सामाजिक प्रणाली की प्रकृति की भी जानकारी मिलती है। जैसे अगर हम एक सामाजिक प्रणाली के रूप में किसी परिवार का उदाहरण लें तो सामान्य तौर पर परिवार के सदस्य सामूहिक उन्मुखता, विशिष्टतावाद, प्रदत्तता और प्रसरणात्मकता का प्रदर्शन करेंगे। वही अगर किसी कर्मचारी संघ की सामाजिक प्रणाली का उदाहरण लें तो सामान्यतः भावात्मक तटस्थता,आत्म उन्मुखता, सार्वभौमिकता, विनिर्दिष्टता की ओर उन्मुख होंगे। हालांकि पारसंस ये भी मानते हैं कि रोजमर्रा की जिन्दगी में प्रतिमान चरों की दुविधा कहीं अधिक अनिश्चित और तनावपूर्ण होती है।

अपनी प्रगति जांचिए

5. पारसंस ने सामाजिक प्रणाली के विषय में अपने पूर्ववर्ती विचारकों के योगदान का किस विचारधारा में वर्गीकरण किया है?

   (क) उपयोगितावादी (ख) प्रत्यक्षवादी

   (ग) आदर्शवादी (घ) ये सभी

6. सामाजिक प्रणाली में पारसंस ने कितने प्रतिमान चर बताए हैं?

   (क) चार (ख) पांच

   (ग) सात (घ) आठ

5.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ख)
2. (ग)
3. (क)
4. (ख)
5. (घ)
6. (ख)

5.6 सारांश

टेलकॉट पारसंस का नाम समाजशास्त्र के क्षेत्र में बहुत आदर और सम्मान से लिया जाता है। उन्होंने समाजशास्त्र की विभिन्न धारणाओं को मिलाकर एक नई अवधारणा दी। वे बीसवीं सदी के अमेरिका के सबसे प्रसिद्ध समाजशास्त्री थे। उन्होंने आधुनिक कार्यात्मक दृष्टिकोण बनाने के लिए नींव रखी और समाज के अध्ययन के लिए सामाजिक क्रिया सिद्धांत को और अधिक विकसित किया। टेलकॉट पारसंस को संरचनात्मक प्रकार्यात्मक सिद्धांत का सबसे प्रमुख सिद्धांतकार माना जाता है।

टिप्पणी

पारसंस मैक्स वेबर से प्रभावित थे। वेबर के सामाजिक क्रिया के सिद्धांत में उनकी काफी रुचि थी। अपनी पुस्तक 'स्ट्रक्चर ऑफ सोशल एक्शन' में उन्होंने वेबर, दुर्खीम और परैटो आदि पर अलग–अलग अध्याय लिखा। वेबर के समान ही पारसंस भी कार्ल मार्क्स के विचारों के विरोध में थे।

पारसंस के विचारों में पचास के दशक में परिवर्तन दिखने लगता है। उन्होंने बाद में सामाजिक क्रिया और अंतर्क्रिया के सिद्धांत को पृष्ठभूमि में डाल दिया। इसके अपने आर्थिक,सामाजिक और राजनीतिक कारण थे। परंतु इसका कारण ये भी था कि वो बाद में दुर्खीम के विचारों के प्रभाव में आ गए। वेबर और दुर्खीम समकालीन थे। परंतु दोनों के विचारों में विरोधाभास था। पारसंस ने दुर्खीम और वेबर, दोनों के विचारों को सम्मिलत कर सामाजिक व्यवस्था को समझने की कोशिश की।

दुर्खीम समाज को अधिक महत्व देते हैं। वहीं वेबर का जोर व्यक्ति पर है। लेकिन पारसंस ने व्यक्ति और समाज दोनों को बराबर महत्व दिया है। इस तरह दुर्खीम के बाद टेलकॉट पारसंस संरचना प्रकार्यवाद के सबसे बड़े हस्ताक्षर बनकर उभरे।

भारतीय समाजशास्त्र की मुख्यधारा भी प्रकार्यवाद से प्रभावित है। इसलिए भारत में भी पारसंस काफी लोकप्रिय हैं। पारसंस का समाजशास्त्र में काफी योगदान है। पारसंस ने सामाजिक क्रिया का सिद्धांत, समाज व्यवस्था का सिद्धांत, धर्म, राजनीति, परिवार जैसी उपसंरचनाओं के साथ–साथ प्रतिमान चर या पैटर्न वैरिएबल की धारणा दी है। पारसंस ने "द ग्रैंड थ्योरी" के विकास में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी जो विभिन्न सामाजिक विज्ञानों को एक सैद्धांतिक ढांचे में एकीकृत करने का प्रयास था। उनका मुख्य लक्ष्य मानव संबंधों के एक एकल सार्वभौमिक सिद्धांत का निर्माण करने के लिए कई सामाजिक विज्ञान विषयों का उपयोग करना था।

पारसंस ने 1932 से 1951 तक सामाजिक क्रिया को वह आधार माना जिससे व्यक्तित्व, संस्कृति और समाज व्यवस्था का विकास होता है। उन्होंने हमेशा इस बात को माना कि सामाजिक क्रिया ही सामाजिक संरचना की मूल इकाई है। पारसंस ने अपने विश्लेषण में बताया कि सामाजिक क्रिया किसी व्यक्ति या समूह की वह क्रिया या सक्रियता है जो किसी प्रेरणा से उत्पन्न होती है और किसी लक्ष्य के लिए निर्देशित होती है। व्यक्ति और समूह के सामूहिक संबंध का प्रभाव उसकी क्रिया पर पड़ता है।

पारसंस ने जो व्यक्ति क्रिया करता है उसे अहम् या ईगो (Ego) और जो उसके साथ अंतर्क्रिया करता है उसे अन्य या अल्टर (Alter) कहा है। पारसंस के अनुसार क्रिया परिस्थितियों से प्रभावित होती है। इसे पारसंस ने परिस्थिति से उन्मुखता (orientation to the situation) कहा है।

सामाजिक क्रिया मूल्यों से सामाजिक चरित्रों से और व्यक्तिगत स्वभाव से प्रभावित होती है। पारसंस ने क्रिया के अभिप्रेरण को महत्वपूर्ण माना है। उसका मानना था कि अभिप्रेरण की वजह से ही कोई कर्ता किसी क्रिया को करने के लिए उन्मुख होता है।

किसी भी समाज में व्यक्ति के अंतर्संबंधों के परिणामस्वरूप ही सामाजिक प्रणाली या सामाजिक व्यवस्था का निर्धारण होता है। यह प्रश्न विचारणीय है कि व्यक्ति समाज का निर्माण करता है या समाज से व्यक्ति का निर्माण होता है। वास्तविकता यह है कि न समाज व्यक्तियों को बनाता है और न ही व्यक्ति से मिलकर समाज बनते हैं।

टिप्पणी

व्यक्तियों के आपसी व्यवहार और क्रियाओं से उनके अंतर्संबंध निर्धारित होते हैं। इन्हीं संबंधों से मिलकर सामाजिक संरचना बनती है जो समाज की मानक मूल्य व्यवस्था के अनुरूप बनकर व्यवस्था का निर्माण करती है। समाज की कई सामाजिक व्यवस्थाएं एवं उनकी भी उप–व्यवस्थाएं कई स्तर तक बनी हुई हैं। व्यक्ति का व्यवहार एवं उसकी क्रिया सामाजिक तौर पर मानक के रूप में स्थापित हो चुके व्यवहारों के अनुकूल ही किया जाता है। अगर वह व्यवहार सामाजिक व्यवस्था के अनुरूप नहीं हो तो इसे सामाजिक विचलन या एनॉमी माना जाता है।

सामाजिक व्यवस्था व्यक्ति को सामाजिक व्यवहार करने को बाध्य करती है। व्यक्तियों के इसी सामाजिक व्यवहार से समाज में गतिशीलता बनी रहती है। सामाजिक दृष्टि से व्यक्ति मिलकर किसी सामान्य लक्ष्य की ओर उन्मुख होते हैं। इस तरह विभिन्न परिवार, राजनैतिक दल, नातेदारी समूह, यहां तक कि पूरे समाज जैसे बहुविध संबंधों को सामाजिक प्रणाली या सामाजिक व्यवस्था कहा जा सकता है। विन्यास प्रकारांतर या संरचनात्मक विकल्प या प्रतिमान चर दरअसल सामाजिक व्यवस्था की संरचना में उपलब्ध विकल्पों की मौलिक विवेचना है। कर्ता को उपलब्ध दो विकल्पों से एक को अपने व्यवहार में चयनित करना पड़ता है।

हर सामाजिक व्यवस्था अंतर्क्रियाओं पर आधारित होती है। पारसंस का मानना था कि हर सामाजिक व्यवस्था अपनी सीमाओं में ही कार्य करती है। ये सीमा रेखा सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए आवश्यक है। व्यवस्था अपने अस्तित्व को बचाए रखने के लिए इस सीमा को हमेशा कायम रखती है। सामाजिक व्यवस्था को खुद को कायम रखने के लिए अपने आंतरिक संगठन और बाहरी वातावरण के बीच एक संतुलन बना कर रखना जरूरी होता है।

पारसंस के विचार में हर सामाजिक प्रणाली में आत्म समन्वयकारी और अपने रख–रखाव की क्षमता है। इन्हीं समन्वयकारी प्रक्रियाओं को प्रकार्य (function) कहते हैं। कुछ ऐसे प्रकार्य भी हैं जिनके बिना सामाजिक प्रणाली अपना अस्तित्व कायम नहीं रख सकती।

सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने वाली इन्हीं समन्वयकारी प्रक्रियाओं को पारसंस ने 'प्रकार्यात्मक पूर्वापेक्षाएं' कहा है। समाजीकरण की सफल प्रक्रिया में नियम और मूल्य अंतरीकृत किए जाते हैं। इस तरह ये नियम और मूल्य व्यक्ति की चेतना का अंग बन जाते हैं। इसका फल ये होता है कि व्यक्ति जब अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कर्तव्य करता है व वास्तविकता में वह समाज व्यवस्था के उद्देश्यों को पूरा करता है।

समाजीकरण के जरिए व्यक्ति जिन मूल्यों को स्वयं में ग्राह्य करता है वे समाज के लिए प्रकार्य होते हैं। पारसंस ने यह कहा कि व्यक्ति निष्क्रिय रूप से भी समाज के नियमों और मूल्यों को समाजीकरण की वजह से अपना लेता है। समाजीकरण पूरे जीवन भर चलने वाली प्रक्रिया है। एक शिशु, समाजीकरण की वजह से ही अपने सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्यों के साथ जीना सीख पाता है। इस संरक्षणवादी प्रक्रिया में सामाजिक अनुरूपता तो जरूर होती है परंतु इसमें व्यक्तिगत भिन्नता भी होती है। इन व्यक्तिगत भिन्नताओं की वजह से मूल्यों और कर्तव्यों से विचलन भी नजर आता है। इस वजह से सामाजिक नियंत्रण की आवश्यकता पड़ती है।

समाजीकरण, पारसंस के अनुसार सबसे प्रभावी नियंत्रण है। सकारात्मक समाजीकरण नियंत्रण की जरूरत को अप्रभावी बना देता है। जन्म के बाद शिशु के

विकास के कई चरण होते हैं। समाज में रहने से ही उसकी सभी शारीरिक और मानसिक क्षमताओं का समुचित विकास हो पाता है। साथ ही वह सामाजिक सांस्कृतिक विशेषताओं को ग्रहण करने और उनके साथ अनुकूलन की क्षमता का विकास भी कर पाता है।

टिप्पणी

ऐसे कई उदाहरण सामने आए हैं जहां किसी कारणवश जब शिशु को जन्म के पश्चात् सामाजिक गतिविधियों से दूर रखा गया तो उसके जैवीकीय और मानसिक विकास दोनों की गति ठहर गई। समाजीकरण की प्रक्रिया में परिवार की महत्वपूर्ण भूमिका को माना है। विभिन्न समाजों में अलग–अलग स्वरूप में होने के बावजूद मूल परिवार सार्वभौमिक है।

परिवार की चार प्रमुख भूमिकाओं में पति–पिता, पत्नी–माता, पुत्र–भाई और पुत्री–बहन होते है जिनके सार्वभौमिक लक्षण समान होते हैं। परिवार में पीढ़ीगत विभाजन पाया जाता है, जिस कारण अंतःक्रिया विभिन्न पीढ़ियों में भिन्न–भिन्न पाई जाती है। इसका अर्थ ये हुआ कि विभिन्न पीढ़ियों में मूल्यों और नियमों के विचारों में भिन्नता विद्यमान हो सकती है। इसके साथ ही परिवार में श्रम–विभाजन, लैंगिक विभाजन भी सार्वभौमिक लक्षण हैं।

समाजीकरण की प्रक्रिया शिशु के जन्म के बाद से ही शुरू हो जाती है। मनुष्य की विशिष्ट शारीरिक संरचना और विकसित मस्तिष्क के कारण मानव में सभ्यता और संस्कृति के निर्माण की क्षमता होती है। मनुष्य में सीखने के गुण होते हैं और इसी गुण के कारण समाज में सीख कर वह व्यक्तित्व का विकास करता है।

5.7 मुख्य शब्दावली

- **बोधपरक** : इसका संबंध किसी विषय के बोधन या समझने से है। जैसे आप जब कुर्सी को देखते हैं तो आप समझ जाते हैं कि यह एक कुर्सी है क्योंकि उस कुर्सी के आकार–प्रकार आदि की जानकारी आपको पहले से होती है।
- **भावप्रवण** : इसका संबंध व्यक्तियों की भावनाओं से है। जैसे– प्यार, स्नेह, पसंद, अभिरुचि आदि।
- **सामाजिक प्रणाली** : इसकी अभिव्यक्ति सिद्धांतों की समग्रता के माध्यम से होती है, जिसके द्वारा सामाजिक अंतःक्रियाएं की भूमिकाएं और संबंधित तत्वों को संगठित किया जाता है।
- **सामाजिक संरचना** : यह उस विशिष्ट प्रकार की ओर संकेत करती है जिसमें परस्पर क्रिया की स्थिति में भूमिकाओं का सविन्यास होता है।

5.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. पारसंस की प्रमुख रचनाओं के नाम लिखिए।
2. समाजशास्त्र में दुर्खीम के बाद संरचना प्रकार्यवाद के सबसे प्रमुख कौन–से समाजशास्त्री हुए?

टिप्पणी

3. पारसंस और वेबर के सामाजिक क्रिया के अर्थ में मुख्य अंतर क्या हैं?
4. एजिल मॉडल से आप क्या समझते हैं? स्पष्ट कीजिए।
5. पारसंस की धर्म के पति क्या अवधारणा है?

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. टेलकॉट पारसंस के जीवन, उनके कार्यकृत,उनकी विचारधारा पर प्रकाश डालिए।
2. टेलकॉट पारसंस द्वारा प्रतिपादित सामाजिक क्रिया सिद्धांतों की विस्तृत व्याख्या कीजिए।
3. पारसंस के दिए हुए प्रतिमान चर यानी पैटर्न वैरिएबल से आप क्या समझते हैं। व्याख्या कीजिए।
4. पारसंस की सामाजिक प्रणालियों की प्रकार्यात्मक पूर्वापेक्षाएं (functional prerequisite) क्या हैं? ये अनिवार्य शर्तें क्यों हैं? स्पष्ट कीजिए।
5. पारसंस द्वारा प्रस्तुत सामाजिक प्रणालियों की संरचनाओं के प्रकारों का वर्णन कीजिए।
6. पारसंस के संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम का विश्लेषण कीजिए।

5.9 सहायक पाठ्य सामग्री

1. गुप्ता एम एल तथा शर्मा डीडी, 'समाजशास्त्र', साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, 2010
2. शर्मा वीरेन्द्र प्रकाश, 'समाजशास्त्रीय चिन्तन के आधार', पंचशलील प्रकाशन, 2005
3. दुबे, एससी, 'इंडियन सोसाइटी', नेशनल बुक ट्रस्ट, 2010
4. अग्रवाल, जीके, 'समाजशास्त्र के सिद्धांत', साहित्य भवन आगरा, 2000
5. अब्राहम एवं मार्गन, 'सोशियोलॉजिकल थ्योरी'।
6. टी. बी. बोटामोर, 'सोशियोलॉजी'।
7. डॉ डी एस बघेल, 'महान समाजशास्त्रीय विचारक'।
8. शर्मा एवं गुप्ता, 'समकालीन समाजशास्त्रीय सिद्धांत', साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा, 2002
9. शर्मा एवं गुप्ता, 'समाजशास्त्र के सिद्धांत', साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा, 2007
10. विरेन्द्र प्रकाश शर्मा, 'समाजशास्त्र के सिद्धांत', पंचशील प्रकाशन, जयपुर, 2007
11. रवीन्द्र नाथ मुकर्जी, 'समाजशास्त्र का सैद्धांतिक परिपेक्ष्य', विवेक प्रकाशन, दिल्ली, 2007
12. ब्लैक, मैक्स 1961, 'द सोशल थ्योरीज ऑफ टॉलकॉट पारसंस : ए क्रिटिकल ऐक्जामिनेशन', प्रेंटिस हॉल, इंको : ईगलवुड क्लिप्स न्यूज
13. पारसंस, टॉलकॉट 1951, 'द सोशल सिस्टम द फ्री प्रेस', ग्लेनको इलिनॉय